भारत का इतिहास

(प्राचीन काल से लोदी वंश के अन्त तक)

लेखक

ईश्वरीप्रसाद, एम० ए०, एल्-एल० बी०, डी०-लिट्
इतिहास-शिरोमणि (नैपाल)
अध्यक्ष राजनीति विभाग, प्रयाग-विश्वविद्यालय, प्रयाग

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग
१९५४

मूल्य ५)

Printed by P. L. Yadava
at The Indian Press, Ltd., Allahabad

भूमिका

बहुत दिनों से मेरी यही इच्छा थी कि सेकंडरी स्कूलों और कालेजों के विद्यार्थियों के लिए भारतवर्ष के इतिहास पर एक पुस्तक लिखूं। ऐसी पुस्तक की बड़ी आवश्यकता थी, जो विद्यार्थियों को ऐतिहासिक संस्कृति प्रदान कर सके और साथ ही हाईस्कूल-इंटरमोडियेट की परीक्षाओं की आवश्यकता की भी पूर्त्ति कर सके। लेनपूल की पुस्तक समयानुकूल नहीं रही और विन्सेंट स्मिथ की 'आक्सफोर्ड हिस्ट्री आव इंडिया' भी उपयुक्त नहीं रही, अतः उपस्थित ढंगों के अतिरिक्त किसी नये ढंग से एक नई ऐतिहासिक पुस्तक लिखने की अत्यन्त आवश्यकता थी। मेरे पुरातन विद्यार्थियों ने, जो स्कूल-कालेजों में अध्यापन कार्य कर रहे हैं, यह इच्छा प्रकट की कि मैं भारतवर्ष का एक साधारण इतिहास लिखूं, जिसमें आधुनिक ऐतिहासिक समस्त अन्वेषण का उपयोग किया जाय और साथ ही पुस्तक बहुत बड़ी और क्लिष्ट भी न हो जाय। इसकी पूर्त्ति में मेरा बहुत दिनों का अध्यापन-कार्य द्वारा प्राप्त अनुभव ही पेरा पथ-प्रदर्शक रहा है। पुस्तक को पाठक के लिए उपयोगी और सरल बनाने की यथाशक्ति चेष्टा की गई है। इसमें केवल राजनैतिक घटनाओं की ही उनके महत्त्व क्रम के अनुसार चर्चा ही नहीं की गई है, बल्कि उस समय की सामाजिक और सांस्कृतिक दशा का भी वर्णन किया गया है, जो राजनैतिक उन्नति के लिए पृष्ठ-भूमि तैयार करती है। ऐतिहासिक पुस्तकें प्रायः या तो बहुत छोटी या बहुत बड़ी और क्लिष्ट हैं। फल यह होता है कि विद्यार्थी सस्ते नोट आदि खरीदकर रटने के लिए विवश हो जाते हैं और ऐतिहासिक अध्ययन का महत्त्व ही नष्ट कर देते हैं। यह एक ऐसा दोष है जिसे सच्चे इतिहास-प्रेमियों को त्यागने का प्रयत्न करना चाहिए। आशा है कि विद्यार्थी तथा अध्यापक, जिनके लिए यह पुस्तक लिखी गई है, इससे लाभ उठायेंगे और देखेंगे कि इसमें सभी प्रमुख बातों की विशद व्याख्या उनकी योग्यता के अनुसार की गई है।

प्राचीन भारत का इतिहास लिखने में मुझे अपने मित्र तथा शिष्य श्री अमलानंद घोष, एम० ए०, से जो आजकल आर्क्योलाजिकिल सर्वे विभाग में काम कर रहे हैं, विशेष रूप से सहायता मिली है। इस पुस्तक की पहली आवृत्ति की अपेक्षा इसमें बहुत कुछ बढ़ा दिया गया है और इसे वर्तमान समय के अनुसार भी कर दिया गया है।

यदि कोई भारतीय इतिहास का ज्ञाता मुझे इससे और उन्नत करने के लिए कोई सुझाव दे सके, तो मैं उनका अत्यन्त अनुगृहीत होऊँगा।

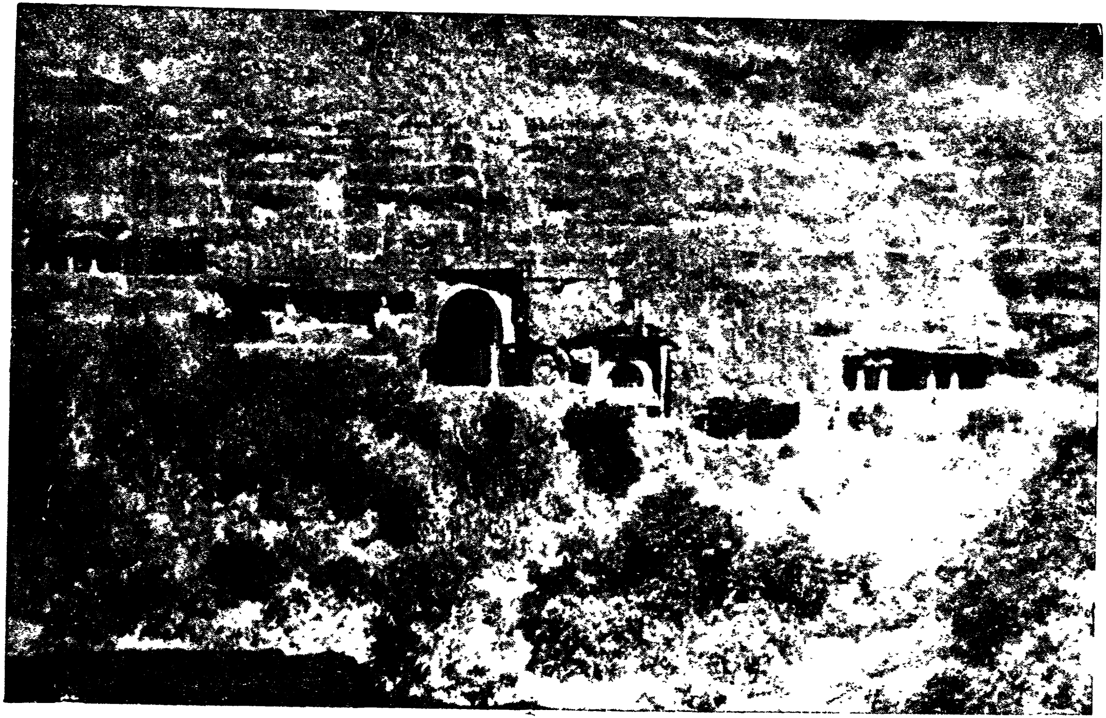
मुगल तथा आधुनिक काल के इतिहास पर अलग से एक दूसरी पुस्तक तैयार की गई है।

प्रयाग विश्वविद्यालय,
२५ मई, सन् १९५०

—ईश्वरीप्रसाद

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ
प्रथम	पूर्वाभास	१–५
द्वितीय	पूर्व ऐतिहासिक भारत	६–१६
तृतीय	वैदिक काल	१७–३८
चतुर्थ	प्राचीन वंश	३९–४५
पंचम	प्राचीन धार्मिक तथा दार्शनिक प्रणालियाँ	४६–५९
षष्ठ	सूत्रों, महाकाव्यों तथा जातकों के कुछ उद्धरण	६०–७२
सप्तम	मौर्य्य काल से पूर्व	७३–८४
अष्टम	मौर्य्य काल	८५–१०९
नवम	मौर्य्य काल के पश्चात्	११०–११५
दशम	भारत में विदेशी राज्य	११६–१२५
ग्यारहवाँ	गुप्त साम्राज्य	१२६–१४२
बारहवाँ	वर्धन साम्राज्य	१४३–१५१
तेरहवाँ	कन्नौज का उत्थान	१५२–१५६
चौदहवाँ	उत्तरी राज्य	१५७–१७५
पन्द्रहवाँ	दक्षिण प्रदेश तथा धुर दक्षिण	१७६–१९१
सोलहवाँ	विदेशीय देशो से सम्बन्ध	१९२–१९६
सत्रहवाँ	भारतीय सभ्यता	१९७–२१२
अठारहवाँ	अरबो द्वारा सिन्ध की विजय	२१३–२१८
उन्नीसवाँ	गजनवी वंश का उत्थान तथा पतन	२१९–२३६
बीसवाँ	हिन्दुस्तान की विजय	२३७–२४३
इक्कीसवाँ	गुलाम वंश	२४४–२६६
बाईसवाँ	खिलजी साम्राज्य	२६७–२९१
तेईसवाँ	तुगलक वंश	२९२–३२४
चौबीसवाँ	साम्राज्य विभाजन	३२५–३६३
पच्चीसवाँ	सैयद और लोदी वंश	३६४–३७३
छब्बीसवाँ	मध्यकालीन समाज तथा संस्कृति	३७४–३८८



अजन्ता की गुफा का बाहरी दृश्य



अजन्ता की चित्रकला का एक नमूना

भारत का इतिहास

प्रथम अध्याय

पूर्वाभास

बहुधा जन-साधारण में ऐसी असंगत धारणा पाई गई है कि भारतवर्ष का कोई भी इतिहास नहीं है। यदि इस कथन का तात्पर्य यह है कि भारतवर्ष में कभी कोई उल्लेखनीय घटना अथवा सांस्कृतिक आन्दोलन नहीं हुआ, तब तो यह स्पष्टतः निर्मूल है; परन्तु यदि इसका तात्पर्य यह है कि प्राचीन भारत के नागरिकों ने अपनी ऐतिहासिक घटनाओं को लेखबद्ध करने की ओर ध्यान नहीं दिया, तब तो यह कुछ अंशों तक सत्य मानी जा सकती है, क्योंकि बहुत से जातीय कथानकों का संग्रह पुराणों में मिलता है तथा बारहवीं शताब्दी में लिखी गई 'राजतरंगिणी' में काश्मीर के राजाओं का वास्तविक इतिहास पाया जाता है, लेकिन इसका प्रयास बहुत ही सीमित है तथा कभी-कभी उन में ऐतिहासिक ज्ञान का सर्वथा अभाव पाया जाता है। पुराणों के ऐतिहासिक अंशों को लिपिकारों की उच्छृङ्खलता के कारण इतनी क्षति पहुँची है कि प्रायः सभी इतिहास-वेत्ताओं ने अभी तक उस ओर ध्यान ही नहीं दिया। त्रुटियों की असामान्य संख्या ही इस बात की परिचायिका है कि हिन्दुओं नें कभी ऐतिहासिक प्रणाली के सुरक्षित रखने का प्रयास नहीं किया।

यूरोपियनों तथा उनके मत के सहमत भारतीयों के अर्वाचीन अन्वेषणों पर भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास तैयार किया गया है; परन्तु यह इतिहास अभी तक अपूर्ण है जिसके बहुत से अंश अभी धूमिल हैं तथा उन पर प्रकाश डालना अभी बाकी है।

इतिहास जानने के साधन—जिन मूल वस्तुओं पर हमारे इतिहास का ज्ञान आश्रित है वे तीन हैं:--(१) भारतीय साहित्य, (२) विदेशियों के विवरण तथा (३) पुरातत्त्व-अन्वेषण। मध्यकालीन तथा अर्वाचीन भारत के

ऐतिहासिक ज्ञान के लिए मुस्लिम लेखों तथा सरकारी प्रमाण-पत्रों में पर्याप्त सूचना के साधन मिल जाते हैं।

(१) **भारतीय साहित्य**—महाभारत तथा पुराणों में प्राचीन वंश-परम्पराओं के विषय में अनेक कथानक मिलते हैं जिनसे सत्य इतिहास को ढूँढ़ निकालना टेढ़ी खीर है, क्योंकि उनके आधुनिक स्वरूप में अनेक विरोधाभास पाये जाते हैं, अनेक असंगत कथानक भी उनमें हैं जो कहीं-कहीं हास्यास्पद से हो गये हैं। इसके अतिरिक्त अभी तक पूर्ण रूप से उनका अन्वेषण के दृष्टि-कोण से अध्ययन भी नहीं किया गया है। बौध-धर्म के साहित्य में अनेक ऐसे अंश मिलते हैं जिनसे प्राचीन इतिहास निर्माण करने में बड़ी सहायता मिलती है।

इन लिपि-बद्ध कथानकों के अतिरिक्त संस्कृत में कुछ ऐतिहासिक ग्रन्थ भी पाये जाते हैं जैसे कि बाण का हर्षचरित (७वीं शताब्दी), विल्हण का विक्रमांक-चरित तथा संध्याकरनन्दिन् का रामचरित (१२वीं शताब्दी) जिनका उल्लेख यथास्थान किया जावेगा। इस श्रेणी की पुस्तकों में सबसे विख्यात कल्हण की राजतरंगिणी (१२वीं शताब्दी) है जो लेखक के समय तक काश्मीर का इतिहास बतलाती है। आधुनिक ऐतिहासिक पुस्तकों के गुण इनमें भले ही न हों परन्तु उनसे, जिस समय वह लिखी गई थीं, उस समय के विषय में पर्याप्त सूचना मिल जाती है।

सामाजिक इतिहास का ज्ञान सबसे अधिक भारतीय साहित्य से होता है। ईसा से ८०० वर्ष पूर्व तक के आर्यों के इतिहास का अनुमान वेदों के आधार पर किया जाता है। उसके बाद की पाँच या छः शताब्दियों की समाज-पद्धति का ज्ञान धर्म-सूत्र तथा धर्मशास्त्र इत्यादि धार्मिक पुस्तकों से होता है।

(२) **वैदेशिक विवरण**—सर्वप्रथम वैदेशिक विवरण यूनानियों तथा रोम-निवासियों के हैं जिनमें से सबसे प्राचीन मेगस्थनीज का है जो चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में यूनानी राजदूत था। (३०० वर्ष ईसा से पूर्व)। अतः आगे आनेवाले विवरण-लेखकों ने अपने विवरण मेगस्थनीज तथा जन-श्रुति के आधार पर लिखे हैं। इनमें से प्रमुख स्ट्रैबो, प्लिनी तथा एरियन हैं।

पाँचवीं शताब्दी में अनेक चीनी यात्री भारत में आये जिनमें से प्रमुख फाह्यान, ह्वेन साँग तथा ईत्सिंग थे, जिन्होंने तत्कालीन बौद्ध-धर्म के अनेक

सुन्दर विवरण दिये हैं। दूसरे विषयों पर ह्वेन सांग के अतिरिक्त दूसरों ने विशेष नहीं लिखा है। हर्ष तथा उसके समय के विषय में ह्वेन साँग से हमें पर्याप्त सूचना मिलती है। उसने उस समय की धार्मिक तथा सामाजिक व्यवस्था के विषय में काफी लिखा है।

मुस्लिम इतिहासकारों से, जिन्होंने मुहम्मद गोरी तथा महमूद गजनवी के युद्धों का विवरण दिया है, भारत की ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दी के राजनैतिक अवस्था का पता चलता है। इनमें से एक अरबी विद्वान् अलबरूनी भी है जिसकी पुस्तक भारतवर्ष की सामाजिक व्यवस्था तथा जन-साधारण की व्यवहार-प्रणाली पर काफी प्रकाश डालती है।

(३) **पुरातत्त्व अन्वेषण**—ऐतिहासिक ज्ञान के तृतीय आधार स्मरण शिलालेख तथा सिक्के हैं। सिक्कों के द्वारा हमें अनेक राजाओं के नाम मालूम हो जाते हैं जो सम्भवतः उनके बिना विस्मृति के गर्त में विलीन हो गये होते। इन सिक्कों का विशेष महत्त्व ईसा से २०० वर्ष पूर्व से लेकर ३०० ई० तक है।

सबसे महत्त्वपूर्ण इतिहास की सूचना के लिए सहस्रों शिला-लेख हैं जो समस्त भारतवर्ष में इतस्ततः पाये जाते हैं। सबसे प्राचीन महत्त्वपूर्ण शिला-लेख ईसा से, ३०० वर्ष पूर्व अशोक के हैं। इस समय के पश्चात् ही चट्टानों, स्तम्भों, शिला-खण्डों, मूर्तियों तथा ताम्र-पत्रों पर लेखन-प्रणाली का युग प्रारम्भ हो जाता है जो समय की उत्तरोत्तर गति के साथ बढ़ता ही गया। राजनैतिक इतिहास का ज्ञान निश्चित रूप से अधिकतर इन्हीं पर अवलम्बित है।

मुसलमान बड़े इतिहासकार थे। उन्होंने इतिहास को अनेक विस्तृत ग्रन्थों में लिखा है, जिससे १२वीं शताब्दी से १८वीं शताब्दी तक का इतिहास सरलता से ज्ञात हो जाता है। उन्होंने ऐतिहासिक घटनाओं को, सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने के बाद लिपिबद्ध किया है। यह प्रयास या तो उन्होंने अपने धनी स्वामियों के आदेश पर किया है या स्वयं अपनी रुचि के अनुसार। मुगलराज्य के पहले मिनहाज-डि-सिराज की 'तबकात-ए-नासिरी' बर्नी और अफफी की 'तारीख फीरोज शाही', यहिया बिन अब्दुल्ला की 'तारीख मुबारक शाही' अब्दुल्ला की 'तारीख दाऊदी' नियामतउल्ला की 'मखजन अफगानी' इत्यादि

ऐतिहासिक पुस्तकें मिलती हैं। इब्नबतूता तथा अब्दुर्रज्जाक आदि विदेशियों के विवरण भी उस समय की राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थिति पर प्रकाश डालते हैं। मुगल-राज्य में अनेक हिन्दू तथा मुसलमान इतिहासकार पाये जाते हैं जिनकी कृतियाँ इतिहास के लिए अमूल्य हैं। बाबरनामा, अबुलफज्ल की आईन-अकबरी और अकबरनामा, निजामुद्दीन अहमद की 'तबकात अकबरी' बदाऊनी की 'मुन्तखब-उत्-तवारीख' तथा 'तुजुक जहाँगीरी', अब्दुल हमीद लाहौरी का 'बादशाहनामा' खाफी खाँ का 'मुन्तखब-उल्-लुबान' सुजान राय खत्री का 'खुलासत-उत्-तवारीख' इत्यादि विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त कई एक स्मारक तथा सिक्के भी पाये जाते हैं जो उस समय के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। अर्वाचीन भारत के इतिहास के आधार पर अनेक सरकारी अथवा गैर सरकारी लेख हैं।

'भारतीय इतिहास में प्रधान अंग'--प्रत्येक देश अपनी प्राकृतिक दशा के अनुरूप ही उन्नति करता है और भारत भी उस नियम का अपवाद नहीं है। ऐसा कहा जाता है कि इतिहास परिस्थिति एवं व्यक्तित्व इन दो शक्तियों का परिणाम है। विख्यात ऐतिहासिक व्यक्ति जिस कार्य-दिशा की ओर अग्रसर होते हैं। उसका नियन्त्रण उन प्राकृतिक परिस्थितियों द्वारा होता है जो उसकी पृष्ठभूमि में होती हैं। भूगोल-शास्त्र के अनुसार भारत का दक्षिणी प्रायद्वीप हिमालय एवं गंगा सिंधु के मैदानों की अपेक्षा अधिक पुराना है क्योंकि गंगा-सिन्धु के मैदान हिमालय से निकली हुई नदियों के द्वारा लाई हुई मिट्टी से बने हैं; परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि दक्षिण का इतिहास और भी पुराना है। जब मानव-सभ्यता आई तब पूर्ण भारत बन चुका था। सिन्धु के मैदानों में जो पूर्व ऐतिहासिक सभ्यता का पता चला है उससे हमें भारतीय इतिहास में आरम्भ के लिए उत्तर की ओर जाना पड़ता है।

इन भारतीय मैदानों के विस्तार के कारण हमें यहाँ यूनान की भाँति नगर-राज्यों की व्यवस्था नहीं मिलेगी और भारतवर्ष प्रायः विस्तृत राज्यों का देश रहा है जिसमें कि ग्राम ही संख्या में प्रधान थे और शक्तिशाली सम्राटों ने दोनों ओर समुद्र की सीमावाले विशाल राज्यों की या तो स्थापना की है या स्थापना करने का प्रयास किया है। परन्तु इतने विशाल देश में और

विशेषतया ऐसे युग में जब यातायात के साधन पर्याप्त न थे, अखण्ड केन्द्रीय राज्य सम्भव न थे। जब कभी केन्द्रीय सम्राट् दुर्बल रहा है तब अधीनस्थ राज्यों ने और सामन्त-गणों ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की है। केन्द्र से सीमा तक भारत के राजनैतिक इतिहास की यही सामान्य दशा रही है।

यद्यपि प्राचीन काल में अनेक जन-तंत्र राज्य भी पाये जाते हैं; परन्तु अधिकतर भारत में स्वतन्त्र राज्य ही रहे हैं। चूँकि प्रतिनिधि-प्रणाली उस समय सामान्य न थी, अतः सारे देश की प्रजा की प्रतिनिधियों की सभा उस समय के लिए कल्पनातीत विषय है। परन्तु स्थानीय सभाओं और समितियों का राजनैतिक क्षेत्र में प्रमुख स्थान था तथा स्थानीय लोक-रीतियों एवं व्यवस्थाओं का नियामकों को विशेष ध्यान रखना पड़ता था और वे राजाओं को इनका सम्मान करने के लिए बाध्य करते थे। जन-साधारण के कार्य-व्यापार स्थानीय स्वामिभक्ति तथा हितों द्वारा ही नियंत्रित होते थे। चूंकि वे राजनैतिक दासत्व के आदी थे, अतः उनके शासन-प्रबन्ध की बागडोर किसके हाथ में है, इसका उन्हें विशेष ध्यान न रहता। राज्य-वंशों के परिवर्तन से उन पर विशेष प्रभाव न पड़ता और उनके प्रति इस 'स्वामि-परिवर्तन' का कोई विशेष अर्थ न था। भारत के विस्तृत इतिहास को देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि यहाँ जनविप्लव अपेक्षाकृत बहुत कम हुए हैं। जो विद्रोह हुए हैं वे प्रायः महत्त्वाकांक्षी कुछ गिने-चुने राज्य-प्रतिद्वन्द्वियों के हुए हैं।

आरम्भ-काल से ही जन-साधारण ने समग्र भारतवर्ष को अखण्ड रूप में देखा है और हिन्दुओं के तीर्थस्थान सारे भारतवर्ष में फैले हुए हैं। वे नदियाँ जो पवित्र मानी गई हैं उनमें उत्तर-पश्चिम की सरस्वती, मध्य की गंगा तथा दक्षिण की नर्मदा और गोदावरी सभी आ जाती हैं। इन सब बातों से यह पता चलता है कि भारतवर्ष की एकता का सांस्कृतिक रूप सदा से मान्य रहा है; परन्तु सामान्य राजनैतिक एकता प्रायः कभी नहीं रही। एक प्रदेश में होनेवाली प्रमुख घटनाओं से दूसरे प्रदेश के लोग प्रभावित नहीं हुए और उस संकट-काल में भी, जो कि सबके लिए कष्टकारक था, वे कभी संगठित नहीं हो सके।

द्वितीय अध्याय

पूर्व ऐतिहासिक भारत

अ—भारत की जातियाँ

भारत में जाति-संख्या—भौतिक मानव-जाति-विज्ञान हमें बताता है कि विभिन्न मानव जातियों की कुछ भौतिक विशेषताएँ होती हैं जो युगों तक अक्षुण्ण रूप से चला करती हैं जब तक कि उनका एक विभिन्न शारीरिक विशेषतावाली जाति से मिश्रण न हो। कुछ ऐसी ही विशेषताएँ पाई गई हैं जिनमें से सिर तथा नाक की बनावट मुख्य है। लम्बाई तथा चौड़ाई के अनुपात के अनुसार सिर एवं नाक, लम्बे, मध्यम एवं चौड़े इन तीन श्रेणियों में विभक्त किये गये हैं।

प्रायः मराठों एवं बंगालियों के चौड़े मस्तक होते हैं और बिहार तथा उत्तर-प्रदेश की निम्न जातियों एवं बंगालियों की नाक चौड़ी होती है तथा पंजाबी अधिकतर सुडौल शरीरवाले, लम्बी नाक एवं लम्बे सिरवाले होते हैं। भारत के पूर्वीय सीमान्त-प्रदेश के लोग मंगोलियनों से मिलते-जुलते हैं।

इनके आधार पर तत्त्ववेत्ताओं ने प्राचीन भारत में रहनेवाली विभिन्न जातियों का पता लगाया है। उनके अनुसन्धान अब तक असंदिग्ध नहीं और प्रमुख जातियों के केवल मौलिक उद्‌गम का यहाँ वर्णन किया जा सकता है।

(१) **पूर्व द्रविड़ काल**—द्रविड़ों से पूर्व भारत के निवासी सम्भवतः एक ही जाति के थे जिनकी नाक चौड़ी थी और जो अल्प-सभ्य थे। सम्भवतः गंगा के मैदानों की सबसे निम्न जातियाँ उन्हीं की सन्तान हैं और वे दक्षिण के जंगली प्रदेशों में भी पाई जाती हैं।

(२) **कोल**—कोल या मुण्ड, जिनकी सन्तानें इस समय छोटा नागपुर के प्रदेश में पाई जाती हैं, अब कोल और संथाल इत्यादि नामों से पुकारे जाते हैं। कोल भाषा के चिह्न पंजाब से लेकर मद्रास तक सारे भारत में बिखरे हुए पाये जाते हैं। विशेष जानने योग्य बात यह है कि उनकी भाषा पालीनीशिया,

मेलानीशिया एवं मेडागास्कर के निवासियों की भाषा से मिलती-जुलती है। इससे इस बात का पता चलता है कि यह समस्त प्रदेश एक समय इस जाति द्वारा बसा हुआ था जो बाद में कई श्रेणियों में बँट गई।

(३) **द्रविड़**—आर्यों से पूर्व की जातियों में निस्सन्देह द्रविड़ ही सबसे मुख्य थे। यह भारत में कहाँ से आये, यह प्रायः विवाद-ग्रस्त रहा है। कुछ लोगों का मत है कि यह समुद्री रास्ते से समुद्र पार करके आये; परन्तु विशेष प्रचलित धारणा यह है कि अधिकतर आक्रमणकारियों एवं आकर बसनेवालों की भाँति वे भी उत्तर-पश्चिम के दर्रों से भारतवर्ष में आये।

अधिकतर द्रविड़ शब्द भारत के आदिम निवासियों के लिए प्रयुक्त होता है; परन्तु वास्तव में इनमें से केवल एक ही जाति ऐसी है जिसके लिए इस शब्द का प्रयोग हो सकता है। इनमें दूसरों की अपेक्षा सभ्यता की विशेष उन्नति पाई गई है। ये ग्रामों में अथवा प्राचीर से घिरे हुए नगरों में रहते थे तथा इनको कुछ धातुओं का ज्ञान था। उनकी विशेष उन्नति थी तथा वे लिखने की कला से परिचित थे। उनका समाज अनेक समुदायों में विभक्त था और हर एक का टोटेम* (पशु-चिह्न) तथा चचेरे भाई-बहिन की शादी, जो हम दक्षिण में अब भी पाते हैं, उनमें प्रचलित थी। वे मातृ-शासन एवं मातृ-अधिकार को मानते थे जिसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य मातृ-पथ के वर्ग का सदस्य होता था एवं उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता था तथा अपने पिता के वर्ग में नहीं शामिल हो सकता था। वे मातृदेवियों एवं अन्य देवताओं तथा वृक्ष एवं पशु इत्यादि की पूजा करते थे।

आधुनिक समय में द्रविड़ों की जन-संख्या प्रायः भारत ही में नहीं वरन् सारी दुनिया में दक्षिण में पाई जाती है, लेकिन इस बात को मानने के लिए कई सबल प्रमाण मिलते हैं कि एक समय में वे उत्तरी भारत में फैले हुए थे जहाँ पर उन्होंने अपनी प्रथाओं एवं भाषा की अमिट छाप छोड़ रक्खी है।

---

*पशु-चिह्न की प्रथा अब भी आदिम निवासियों में पाई जाती है जिनके प्रत्येक वर्ग की यह धारणा होती है कि वे किसी न किसी भाँति प्रकृति के किसी विशेष जीव या वस्तु से सम्बन्धित हैं। यह प्रायः कोई विशेष जानवर होता है और कभी कभी कोई दूसरी भी वस्तु होती है।

उत्तरी भारत की भाषाओं का यद्यपि मूल श्रोत आर्य भाषाएँ ही हैं; परन्तु उनके नीचे द्रविण भाषा की तह पाई जाती है।

(४) **आल्प-प्रदेशीय जन-संख्या**—उपर्युक्त जातियों के अतिरिक्त भारत की जन-संख्या में बंगालियों एवं मराठों के चौड़े मस्तक के समझने की चेष्टा में एक और जाति सामने आती है। प्रायः यह धारणा हो चली है कि इनके पूर्वज आल्प-प्रदेशीय जाति थी जो बाहर से आकर महाराष्ट्र से मध्यदेश के वन-प्रदेशों एवं बंगाल तक फैल गई। इस जाति के लोग हिमालय के पठारों, एशिया माइनर, बल्कान और योरुप के मध्य पर्वत-प्रदेश में पाये जाते हैं और इन सबके मस्तक चौड़े पाये जाते हैं।

(५) **आर्य**—इनके पश्चात् आर्य लोग आये। ये सम्भवतः श्वेत वर्ण, लम्बे मस्तक एवं लंबी नाकवाले थे। ये उत्तरी पश्चिमी दर्रों से भारत में आये और द्रविड़ निवासियों को परास्त कर पंजाब में बस गये। इसके पश्चात् वे पूर्व एवं दक्षिण की ओर फैलते गये तथा देशीय जनों से रक्त मिश्रित करने से उनकी शारीरिक विशेषताएँ पहले की तरह नहीं रह गई। इस मिश्रण से एक वर्ण-संकर सभ्यता उत्पन्न हुई जिसमें द्रविड़ एवं आर्य दोनों ही अंश समान थे।

ब—ऐतिहासिक वस्तुएँ

चार युग—मनुष्य औजार प्रयोग करनेवाला प्राणी है तथा इन औजारों के उत्तरोत्तर अधिक प्रयोग द्वारा प्रकृति की विजय में मानवता की संस्कृति का विकास निहित है जिसके द्वारा जीवन विशेष सुखमय एवं आनन्दमय हो गया है। औजार-रहित स्थिति से आज तक के जटिल मशीन-युग तक का क्रमिक विकास ही वस्तुतः मनुष्य का इतिहास है।

अतः पुरातत्त्व-वेत्ताओं ने पूर्व-ऐतिहासिक मनुष्य को अपने औजारों एवं बर्तनों में प्रयोग की गई धातुओं के अनुसार बाँट दिया है। उनके अनुसार मनुष्य चार परिस्थितियों से गुजर चुका है (१) पूर्व पाषाण-युग, (२) नवीन पाषाण-युग, (३) ताम्र-युग एवं (४) लौह-युग।

१—पूर्व पाषाण-युग—पूर्व पाषाण-युग में खुरदरे कटे हुए पत्थरों के औजारों का प्रयोग होता था जिनको फेककर शिकार किया जाता था। ऐसे कुछ पाषाण अस्त्र मध्य-भारत में तथा विशेषतः दक्षिण में पाये गये हैं।

२—**नवीन पाषाण युग**—सहस्रों वर्षों के पश्चात् मनुष्य नवीन पाषाण-युग तक पहुँचा। अभी तक धातुओं का प्रयोग वह नहीं जानता था। और केवल पत्थर को अन्य कठिन धातुओं से घिसकर उनके सुन्दर नुकीले अस्त्र तथा बर्तन बना लेता था। ये औजार छोटा नागपुर, बंगाल, गुजरात तथा दक्षिण एवं अन्य स्थानों में पर्याप्त मात्रा में पाये गये हैं। ये कई प्रकार के हैं, जैसे औजारों पर शान रखनेवाले पत्थर, अँगूठी की तरह वर्तुलाकार पत्थर, गुहागृह, उपल, तवे तथा छिद्रयुक्त हथौड़े और चक्कियाँ इत्यादि।

३—**ताम्र-युग**—क्रमशः मनुष्य धातुओं का प्रयोग सीख गया है। पहले स्वर्ण की चकाचौंध ने उसे अपनी ओर आकृष्ट अवश्य किया; परन्तु बाद को उसने ताम्र जैसी कठिन धातु की ओर विशेष अभिरुचि दिखलाई। ताँबे की अनेक वस्तुएँ सारे उत्तरी भारत में विशेषतः उत्तर प्रदेश में पाई जाती हैं। ये वस्तुएँ अनेक प्रकार की हैं जैसे कुल्हाड़ी, तलवार, भाले, काटने-छाँटने के औजार तथा गहने इत्यादि।

४—**लौह-युग**—मानवीय इतिहास के क्रमिक विकास का अगला युग लौह-युग है, जब मनुष्य ने प्रथम बार लोहे का प्रयोग करना सीखा। हमें अभी तक यह नहीं मालूम है कि भारत की आदिम जातियाँ इसे जानती थीं अथवा नहीं। सम्भव है कि आर्यों ने ही सर्वप्रथम भारत में इसका प्रयोग किया हो। ईसा से ६०० या ७०० वर्ष पूर्व तक दक्षिण में इसके प्रयोग के कोई प्रमाण नहीं पाये जाते।

स—सिंधु-प्रदेश की सभ्यता

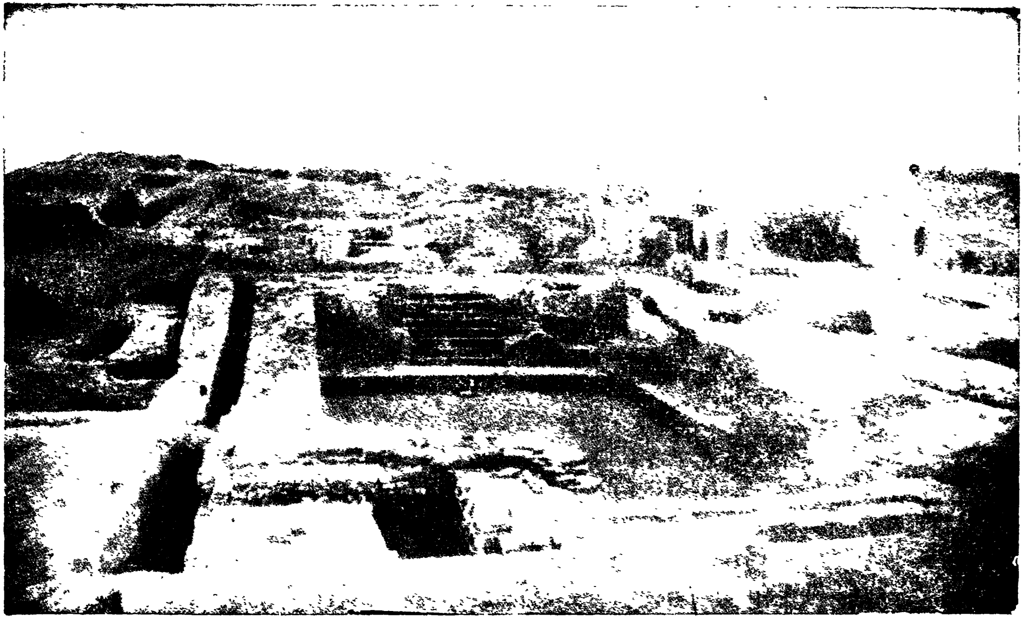
मोहेनजोदड़ो—सिन्धु में मोहेनजोदड़ो में खुदाई के पश्चात् जो पुरातत्त्व अन्वेषण हुए हैं उनसे भारत के आदिम निवासियों के विषय में काफी दिलचस्पी बढ़ गई है। सन् १९२२ में प्रथम बार इस स्थान का महत्त्व समझा गया और उसके पश्चात् से अब तक लगातार खुदाई जारी है जिसके द्वारा एक ऐसी सभ्यता का पता चलता है जिससे अभी तक सभी अनभिज्ञ थे। यह स्थान एक प्राचीन नगर का भग्नावशेष है जिसके कि सात पर्त एक दूसरे पर बने हुए पाये गये हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसके नीचे अभी और पर्त होंगे जो कि जल-पेटी के नीचे हैं और जिनकी खुदाई नहीं हो सकी है। ऊपरी खण्ड का समय ईसा से २७०० वर्ष पूर्व समझा जाता है, परन्तु जिन

मनुष्यों ने इस विस्तृत नगर का निर्माण तथा व्यवस्था की होगी, जो कि उनकी उच्च कोटि की संस्कृति तथा सभ्यता के परिचायक हैं, वे निस्सन्देह शताब्दियों के अनुभव के पश्चात् विकास की उस श्रेणी तक पहुँचे होंगे। अतः भारतवर्ष भी वेबीलोन तथा मिस्र की तरह सभ्यता का प्राचीनतम केन्द्र रहा है।

इमारतें—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस खुदाई में अनेक निवास-गृह, सार्वजनिक सभा-गृह, सफाई के लिए अच्छी तरह बनी हुई नालियाँ, राज-पथ एवं छोटी गलियाँ इत्यादि पाई गई हैं। धनियों के गृह बड़े बड़े थे जो कि कई खण्ड के होते थे तथा जिन पर सुन्दरता के लिए अनेक शिल्प-सौन्दर्य तथा चित्र खुदे रहते थे। ईंट को आग में पकाने की कला को वे जानते थे जो कि उस समय साधारण बात न थी जब कि उनके पड़ोसी धूप में सुखाई हुई कच्ची ईंटों का ही प्रयोग जानते थे। नालियों का प्रबन्ध अच्छा था एवं सफाई की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। निवास-गृहों के अतिरिक्त कुछ और भी इमारतें पाई जाती हैं जो सम्भवतः धार्मिक कार्यों के लिए प्रयोग में लाई जाती थीं।

विशाल स्नानगृह—एक विशेष महत्त्ववाली इमारत पाई गई है जो एक 'विशाल स्नान-गृह' के नाम से पुकारी जाती है। यह अन्य सब इमारतों की अपेक्षा सबसे सुरक्षित पाई गई है सम्भवतः पास के एक जलाशय से उसमें जल आता था तथा गन्दे पानी को निकालने के लिए उसमें छिद्र भी था। स्नान-गृह की दीवालें एक इंच मोटे राल से युक्त थीं जिससे ईंटों में सील न लगने पावे। इस विशाल स्नानगृह के पास छोटे-छोटे स्नान-गृह थे जिनमें से कुछ में उष्ण जल से स्नान का भी प्रबन्ध था। इन सब बातों से नागरिकों की उच्च सभ्यता का पता चलता है।

सोना, चाँदी, ताँबा, टीन, सीसा तथा काँसा आदि धातुओं से वे परिचित थे, पर लोहे से नहीं। सोना तथा चाँदी गहनों के काम आते थे तथा ताँबे के अस्त्र और बर्तन बनाये जाते थे। चूंकि सिंधु के मैदानों में पत्थर कठिनता से मिलता था अतः उसका प्रयोग कम होता था। ऊन तथा कपास को कातकर उसके कपड़े बनाये जाते थे, यद्यपि हमें अभी तक यह ज्ञात नहीं हो सका है कि वे किस तरह की पोशाक पहनते थे। कई प्रकार के गहने पुरुष तथा



विशाल स्नानगृह



मोहनजोदड़ो के समय के आभूषण

स्त्रियाँ दोनों ही पहनते थे जो कि धातुओं के अतिरिक्त मूल्यवान् पत्थरों के, हाथी दाँत के, हड्डियों के, घोंघों के तथा गुरियों के होते थे। लोग गोमांस, बकरे का मांस, सुअर का मांस, पक्षियों का मांस तथा कछुए आदि का मांस खाते थे। वे दूध का भी प्रयोग करते थे तथा फल एवं शाक का प्रयोग भी उन्हें मालूम था यद्यपि इसका अभी तक कोई असंदिग्ध प्रमाण नहीं मिल सका है। लोग छोटी दाढ़ी और गलमुच्छे रखते थे तथा कभी-कभी ऊपरी ओठ के बालों को मुड़वाते भी थे। वे अपने बालों को पीछे की ओर कंघी करते तथा उन्हें या तो पीछे कटवा देते या बाँध देते थे। उनकी पोशाक बहुत साधारण सी थी। ये लोग शाल का भी प्रयोग करते थे जो दक्षिण स्कन्ध के नीचे से होकर वाम स्कन्ध पर पड़ा रहता था ताकि उनकी दक्षिण बाहु स्वतंत्र रहे और जब वे बैठते थे तब यह शाल उनके पैरों तले जमीन तक लटका करता था। शरीर के निम्न भाग को ढकने के लिए वे अधोवस्त्र का भी प्रयोग करते रहे होंगे। वे प्रायः कृषि करते तथा गेहूँ, जौ और छुआरे पैदा करते थे। वे भैंस, भेड़, सुअर, कुत्ता, हाथी इत्यादि पशुओं को पालते थे; परन्तु उनके परिचित पशुओं में बिल्ली का नाम नहीं आता। वे बैल-गाड़ी का प्रयोग करते थे। मृत शरीर का दाह कर उसकी भस्म को भूमि में गाड़ देते थे यद्यपि मृतकों के गाड़ने की भी प्रथा प्रचलित थी। उनके घरों के बर्तन प्रायः वही थे जो आज भी एक भारतीय घर में पाये जाते हैं।

मुहरें—प्राचीन काल की सबसे अधिक ध्यान आकृष्ट करनेवाली वस्तुओं में ५५० मुहरें* भी हैं जो कि पत्थर, गारे तथा रंग-बिरंगे समुद्री पत्थरों की बनी हुई थीं। इनका क्या प्रयोग था, यह कहना कठिन है। इनमें से अधिकतर के ऊपर किसी न किसी पशु का चित्र अंकित है जैसे बैल, एक-शृंग पशु, हाथी तथा मृग इत्यादि। इन चित्रों के ऊपर तथा पार्श्व में अथवा नीचे कुछ लिखा रहता था जो दुर्भाग्यवश अभी तक नहीं पढ़ा जा सका है, क्योंकि उनकी लिपि भारतवर्ष में आगे प्रयुक्त होनेवाली लिपि से बिलकुल भिन्न है। यद्यपि कुछ विद्वानों का कथन है कि वह पश्चिमीय एशिया के कुछ स्थानों की लिपि से मिलती है, परन्तु अभी तक इस दिशा में कोई असंदिग्ध प्रमाण नहीं हैं जिनसे उनका पूर्ण

---

*कुछ मुहरों पर बिना उन्नत स्कन्धवाले बैल का चित्र है; परन्तु यह जाति अब भारत से लुप्त हो गई है।

ज्ञान प्राप्त किया जा सके। इसके अतिरिक्त हमें अभी तक यह भी नहीं मालूम कि मोहेनजोदड़ो के नागरिक किस भाषा को बोलते तथा लिखते थे।

धर्म—निकट पूर्व के देशों जैसे एशिया माइनर, मिस्र तथा फिनीशिया के प्राचीन निवासियों की भाँति ये भी मातृ-देवी की विशेष उपासना करते थे। यहाँ पर चित्रित की हुई मुहर विशेष अर्थ की है, क्योंकि इसमें एक पुरुष देवता का चित्र बना हुआ है। इस चित्र में हम एक व्यक्ति को देखते हैं जिसके मस्तक पर त्रिशूल या सींग है तथा जो जंगली पशुओं से घिरा हुआ ध्यानमुद्रा में बैठा है। इस चित्र को देखते ही भावी हिन्दू देवता पशुपति शिव का ध्यान हो आता है जो कि योगियों के ईश थे। उपासना की दूसरी मूर्तियाँ फल्लस (लिंग जो भारत में अब भी प्रचलित हैं) वृक्षों तथा कुछ पशुओं की थीं; कुछ वृक्ष ज्ञान तथा जीवनदाता माने जाते थे। वृक्ष-उपासना के दो प्रकार थे; एक तो वह जिनमें वृक्ष के भौतिक स्वरूप की ही पूजा होती थी तथा दूसरा वह जिसमें किसी भी वृक्ष को अधिष्ठातृ देवता मानकर तथा उसके गुणों की कल्पना करके उसकी उपासना होती थी परन्तु इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। वृक्ष-पूजा तो अभी तक प्रचलित है। पीपल, आँवला तथा तुलसी के वृक्षों का हिन्दू अब भी सम्मान तथा पूजा करते हैं। यद्यपि भारत के सिन्धु-प्रदेश के निवासियों का धर्म बहुत अंशों में बेबीलोन (आधुनिक ईराक) के सुमेर लोगों से मिलता-जुलता है, परन्तु दोनों को भिन्न समझना चाहिए।

वैदेशिक साम्य—इस मोहेनजोदड़ो की सभ्यता को सिन्धु-सभ्यता के नाम से पुकारते हैं, क्योंकि सिन्धु की जल-प्रणाली ने इस सभ्यता के विकास में बड़ा योग दिया, यद्यपि यह सभ्यता, सिन्धु-प्रदेश तक ही सीमित न थी। इसका विश्व के इतिहास में प्रमुख स्थान है, क्योंकि यह लौह-पाषाण सभ्यता का एक प्रमुख अंग थी जो मिस्र से भारत तक फैली हुई थी और उस युग की थी जब लोहे को छोड़कर अन्य धातुओं का प्रयोग लोगों को ज्ञात था परन्तु पाषाण-प्रयोग पूर्णतः अभी त्याग नहीं किया गया था। यह सभ्यता पूर्व की नील, यूफ्रेटिस, टाईग्रिस तथा सिन्धु नदियों के मैदानों में पली थी और पूर्णतया नगर-सभ्यता थी।

सिन्धु-प्रदेश के इन लोगों का इस युग के अन्य जनों से विशेषतः सुमेरों से सम्पर्क था और इसके अनेक प्रमाण पाये जाते हैं। इन लोगों के मस्तक की हड्डियों की बनावट पंजाब के लोगों से मिलती-जुलती है; परन्तु इससे कोई विशेष बात सिद्ध नहीं होती। यह निश्चित है कि ये लोग आर्यों से भिन्न थे, क्योंकि सिन्धु सभ्यता तथा वैदिक सभ्यता में कोई साम्य नहीं दीखता। हमारे ज्ञान की आधुनिक अवस्था में यह प्रकट सा मालूम होता है कि द्रविड़ लोग या तो इस सभ्यता के संस्थापक थे या इससे सम्बद्ध थे।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि, सिन्धु-प्रदेश की सभ्यता में तथा आर्यों की सभ्यता में वैषम्य था। सिन्धु-प्रदेश के लोग घनी जनसंख्यावाले नगरों तथा कस्बों में रहते थे तथा उनके घर विशाल तथा ईंटों के बने हुए और उनमें नालियाँ एवं स्नानागार थे; परन्तु आर्य लोग कृषि-प्रधान ग्रामनिवासी थे जो नगर-सभ्यता तथा नगर-जीवन से बहुत दूर थे। मोहेनजोदड़ो में चाँदी का प्रयोग सोने की अपेक्षा अधिक होता था तथा बर्तन अधिकतर, पत्थर, ताँबे तथा काँसे के बने हुए होते थे। परन्तु ऋग्वेद के समय में सोने, ताँबे और काँसे का प्रयोग विशेष होता था और बाद को यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में चाँदी और लोहे के प्रयोग का भी उल्लेख मिलता है। वैदिक आर्य मांस खाते थे पर मछली से घृणा करते थे; परन्तु सिन्धु सभ्यता में मछली तथा घोंघे इत्यादि का भोजन सामान्य था। ऋग्वेद में घोड़े की चर्चा अनेक बार आती है, पर सिन्धु-सभ्यता में उसका उल्लेख तक नहीं मिलता। सिन्धु-सभ्यता में गाय का कोई विशेष महत्त्व न था; परन्तु वैदिक आर्यों में, उसका बहुत ही आदर था तथा वह पवित्र एवं रक्षणीया मानी जाती थी। वैदिक धर्म में मूर्ति-पूजा का स्थान न था; परन्तु सिन्धु-सभ्यता में प्रत्येक स्थान पर इसके प्रमाण पाये जाते हैं। सिन्धु सभ्यता में शिव (?) एवं शक्ति प्रमुख देवता थे; परन्तु वैदिक धर्म में शिव का कोई भी स्थान नहीं है तथा देवियों का स्थान देवताओं से नीचे है। वैदिक युग में अग्नि पवित्र मानी गई है तथा उसको देवतास्वरूप में पूजनीय माना गया है; परन्तु सिन्धु-प्रदेश की सभ्यता में उसका कोई स्थान नहीं है।

हरप्पा—नार्थ वेस्टर्न रेलवे के स्टेशन हरप्पा रोड से करीब ४ मील उत्तर-पूर्व की ओर हरप्पा नामक स्थान है जहाँ के लिए कच्ची सड़क जाती है। हरप्पा

में पाई गई वस्तुओं से भी अमूल्य लाभ हुआ है। यहाँ पर भी लोग नगरों में ईंटों के बने हुए बड़े-बड़े मकानों में रहते थे जिनमें नालियाँ तथा स्नानागार बने हुए थे। गरीबों के घर कच्चे थे। अधिकांश फर्श या तो मिट्टी की या ईंटों की बनी हुई होती थी; परन्तु स्नानागार हमेशा अच्छी तरह जुड़ी हुई चिकनी ईंटों के बनते थे। हरप्पा में पाया गया सबसे विशाल भवन एक अनाज की गोदाम है जिसके दो भाग हैं और हर एक में ६ विशाल कमरे तथा बरामदे बाहर की ओर खुलनेवाले हैं। पुरुष तथा स्त्रियाँ प्रायः उसी तरह रहती थीं जिस प्रकार से मोहेनजोदड़ो में। परन्तु उनकी कुछ विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। बहुत सी स्त्रियाँ अपने सिर पर एक विशेष पोशाक पहनती थीं जो सिर के पिछले भाग से पंखे की तरह उठी रहती थी और दूसरों की भाँति जूड़े के एक भाग के रूप में थी। अनेक प्रकार के गहने प्रयोग में आते थे जिनमें से अनेक लड़ियों से युक्त रंग से मिलता हुआ हार बहुत ही प्रयोग में लाया जाता था तथा हार और कंकण भी बहुत सामान्य थे। लेकिन इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि पुरुष भी आभूषण पहनते थे। मुहरें पर्याप्त संख्या में पाई जाती हैं जिन पर अनेक प्रकार के चित्र अंकित रहते थे।

विनाश—सिन्धु-प्रदेश की इस सभ्यता का विनाश किस प्रकार हुआ, इस पर इतिहास केवल कल्पना कर सकता है। सम्भव है कि सिन्धु की बाढ़ में यह शहर प्लावित हो गया हो या क्रमशः सिन्धु के अपने मार्ग से हट जाने से भूमि अनुर्वर हो गई हो।

सिन्धु-प्रदेश की वर्षा, जो सम्भवतः पहले बहुत थी, ईसा से दो कल्प पहले कम हो गई हो और सिन्धु का मैदान धीरे-धीरे मरुस्थल में परिणत होने लगा हो जैसा कि इस समय है। अथवा यह भी सम्भव है कि आर्यों ने या अन्य किसी जाति ने बाहर से आक्रमण कर इस प्रदेश के लोगों तथा सभ्यता का नाश कर दिया हो।

दूसरे पूर्व ऐतिहासिक स्थान—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सिन्धु-प्रदेश के लोग बाहर के लोगों—विशेषतः सुमेरों—से मिलते थे, क्योंकि मोहेनजोदड़ो में पाई गई मोहरों से बिलकुल मिलती-जुलती कुछ मोहरें ईराक से पाई गई हैं। बलूचिस्तान में भी पुरातत्त्व-अन्वेषण में कुछ ऐसी वस्तुएँ मिली

हैं जिनसे पता चलता है कि सिन्धु-प्रदेश की सभ्यता मेसोपोटामियाँ तक फैली हुई थी। यातायात समुद्र की अपेक्षा स्थल से ही अधिक था, क्योंकि समुद्र के किनारे इस सभ्यता के विशेष चिह्न नहीं मिलते।

परन्तु ऐसा समझना सर्वथा भ्रान्त है कि सिंधु-प्रदेश की सभ्यता भारत के लिए एक विदेशी सभ्यता थी अथवा पश्चिम में वह केवल एक अथवा दो स्थानों तक ही सीमित थी। पंजाब के मांटगोमरी जिले में हरप्पा मोहेन-जोदड़ो की अपेक्षा बड़ा नगर था, परन्तु दुर्भाग्य से उसका बहुत कम अंश सुरक्षित रह सका है। सिन्धु के सारे सूबे में ये पूर्व-ऐतिहासिक स्थान फैले हुए हैं। कराची जिले में अमरी में इससे भी पुरानी सभ्यता की कुछ वस्तुएँ मिली हैं तथा सिन्धु-प्रदेश की सभ्यता के कुछ चिह्न तो सुदूर पूर्व में अम्बाला तक पाये गये हैं और ऐसी आशा की जाती है कि कुछ चिह्न गंगा के मैदान में भी शायद भविष्य में मिलें।

बचे हुए अनार्य—यह एक कुतूहल की वस्तु है कि इस आर्यों के पहले की सभ्यता के कुछ चिह्न अब भी भारत में पाये जाते हैं*। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि ये चिह्न संख्या में अधिक तथा महत्त्वपूर्ण हैं। एक समय था जब कि भारतीय तथा यूरोपियन दोनों ही अपने आर्य-रक्त के अभिमान में इस अनार्य सभ्यता को तुच्छ तथा हेय समझते थे तथा प्रत्येक अच्छी प्रथा का प्रारम्भ आर्यों में ढूँढ़ते थे परन्तु अब वह पुरानी धारणा-पद्धति बदल चुकी है।

यदि हम आधुनिक भारतीय समाज के निम्न स्तर के लोगों को लें तो हमें ज्ञात होगा कि वृक्षों, दैत्यों एवं अन्य जड़ वस्तुओं की पूजा का उनमें अब भी प्रचलन है जो वस्तुतः अनार्य प्रथा है। इसके अतिरिक्त उनमें मातृपूजन की भी प्रथा पाई जाती है जिसका प्रारम्भ अनार्यों से होता है।

समाज की ऊपरी श्रेणी के लोगों पर भी इसका पूरा प्रभाव पड़ा है। हम पहले ही भाषा पर द्रविड़ों की सभ्यता के प्रभाव पर प्रकाश डाल चुके हैं; परन्तु धर्म में भी अनार्य-सभ्यता के कई अंश पाये जाते हैं। वेद में हमें मातृ-देवियों तथा लिंग की पूजा के कोई उदाहरण नहीं मिलते जो आज हिन्दू धर्म

*उत्तरी भारत के कुछ लोग (ग्रामीण) दस के स्थान पर बीस से गणना करते हैं जो कि कोलों की विशेषता है।

के प्रमुख अंग हैं। अवश्य ही ये प्रथाएँ हमारे समाज में मोहेनजोदड़ो के लोगों के सम्पर्क से आईं। वही हाल शिव पशुपति का है जो आज हमारे देवताओं में प्रमुख माने जाते हैं।

दर्शन पर भी अनार्य सभ्यता का कुछ प्रभाव पड़ा है। योग-पद्धति तथा उसका अभ्यास, जो कि वेद की भावना के बिलकुल विपरीत है, मोहेनजोदड़ो के लोगों को ज्ञात थे तथा यह विश्वास करना हानिकर न होगा कि हिन्दुओं ने यह योग-प्रणाली मोहेनजोदड़ो के लोगों के सम्पर्क में सीखी है। कुछ विद्वानों का ऐसा मत है कि जैन-धर्म तथा सांख्य दर्शन (५वाँ अध्याय देखिए) बहुत अंश तक अनार्यों की देन हैं। इसके अतिरिक्त मूर्ति-पूजा की ही प्रथा लीजिए जो कि वैदिक समय में न थी पर आगे चलकर हिन्दू-धर्म का एक विशिष्ट अंग बन गई। अतः आज का हिन्दू-धर्म भारतीय आर्यों की एकमात्र देन नहीं है, वरन् इसके विकास में अनार्यों का भी बहुत हाथ है।

तृतीय अध्याय

अ—वैदिक काल

भारत आने से पूर्व

हिन्द-योरोपियन—अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में विद्वानों ने देखा कि संस्कृत के कुछ शब्द योरोपीय भाषाओं के कुछ शब्दों से मिलते-जुलते हैं और उनको सन्देह हुआ कि शायद ये एक ही भाषा से निकली हैं। अतः वे इस विषय पर अन्वेषण करते रहे तथा अन्त में इस धारणा का पूर्ण प्रतिपादन हो गया कि ये भाषाएँ एक ही भाषा से निकली हैं; अतः इस धारणा पर ही आधुनिक सापेक्ष भाषा विज्ञान की नींव पड़ी। और इस विज्ञान ने अन्त में यह सिद्ध कर दिखाया कि एक समय में हिन्द-योरोपीय या हिन्द-जर्मन नामक भाषा थी। आदिम हिन्द-योरोपीय भाषा से निकले हुए कई भाषाओं में मिलते हुए कुछ शब्दों की सूची नीचे दी जाती है—

संस्कृत	अवेस्ता	यूनानी	लैटिन	अँगरेजी
पितृ	पितर	पेटर	पेटर	फादर
मातृ	मातर	मेटर	मेटर	मदर
भ्रातृ	भ्रातर	फ्रेटर	फ्रेटर	ब्रदर
स्वस्ट	ख्वन्हर	इयोर	सोरोर	सिस्टर
द्वार	द्वार	थुरा	फोरेस	डोर
गौ	गौस	वौस	वॉस	काउ
सुकर	हु	हुस	सुस	सो

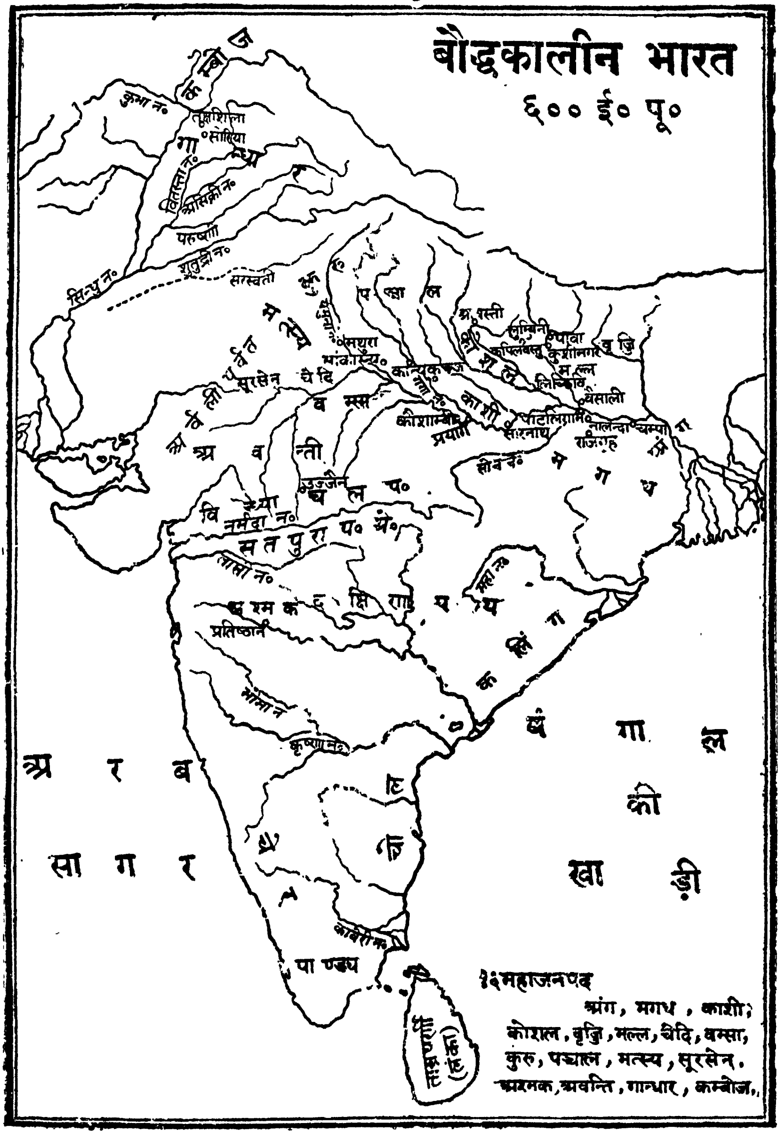
ऊपर दी हुई सूची अभी और भी बढ़ाई जा सकती है; परन्तु इतनी ही संख्या हिन्द-योरोपीय भाषाओं के शब्दों में साम्य दिखाने के लिए पर्याप्त है। आदिम वैदिक संस्कृत तथा पारसियों के पुनीत ग्रन्थ अवेस्ता के शब्दों में बहुत ही साम्य है, क्योंकि ये दोनों ही इन भाषाओं की पूर्वी वंश-परम्परा के हैं।

यद्यपि अभी तक यह नहीं सिद्ध हो सका है कि इन हिन्द-योरोपीय भाषाओं

के बोलनेवाले भिन्न दिशाओं में जाकर बसने के पहले एक ही वंश-परम्परा के थे परन्तु फिर भी अनुमान के बल पर यह कहा जा सकता है कि किसी ऐतिहासिक युग में अवश्य ही ये एक दूसरे से सम्बन्धित थे तथा एक ही देश में रहते थे। इन एक ही जातिवाले लोगों को भी अलग होने के पहले ही हिन्द-योरोपीय या हिन्द-जर्मन कहा जा सकता है; यद्यपि यह नाम जाति अथवा वंश-विषयक कोई अर्थ नहीं रखता। यह एक बहुत ही विवाद ग्रस्त विषय है कि अलग होने के पहले ये हिन्द-योरोपीय लोग कहाँ रहते थे। मध्य-एशिया, मध्य-योरोप तथा रूस के स्टेप्स तथा उत्तरी ध्रुव, इनमें से प्रत्येक इनका आदिम स्थान कहा जाता है, परन्तु अभी तक किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सका है।

जो शब्द हिन्द-योरोपीय भाषाओं में मिलते-जुलते हैं, उनसे साधारण अनुमान किया जा सकता है कि इन अभिन्न लोगों की संस्कृति तथा सभ्यता कैसी रही होगी। ये कृषि जानते थे तथा भोजन के लिए जौ उत्पन्न करते थे। परन्तु इन्हें आखेट का भी व्यसन था तथा वन्य पशुओं के मांस को भी ये खाते थे। कठिन शीत से शरीर को बचाने के लिए ये ऊन का प्रयोग करते थे। गाय, कुत्ता, भेड़ तथा घोड़ों इत्यादि को ये पालते थे तथा पशु-धन इनके लिए एक महत्त्वपूर्ण धन था। आये दिन युद्ध हुआ करते थे तथा इनके पास कुछ दुर्ग इत्यादि भी थे। ये द्वारयुक्त छतवाले मकानों में रहते थे। ये आकाश को पिता मानकर उसकी पूजा करते तथा मृत पूर्वजों को भोजन तथा पान इत्यादि का पिण्ड देते थे। परन्तु अभी तक अग्निदेव का आविर्भाव जो कि वैदिक धर्म का विशिष्ट अंग है, न हुआ था।

आर्य—अपने आदि स्थान से हिन्द-योरोपीय लोग विभिन्न दिशाओं में चले और उनका एक समुदाय फारस होता हुआ भारत आ पहुँचा तथा बीच में अनेक स्थानों पर बहुत दिनों तक रुकते रहे; अतः भाषा तथा धर्म में अनेक समानताएँ आ गईं। इसी वर्ग का नाम संस्कृत में आर्य तथा अवेस्ता में ऐर्य पड़ा। यद्यपि अब यह शब्द हिन्द-योरोपियन वर्ग के सभी लोगों के लिए प्रयुक्त होता है। इस समुदाय ने हिन्द-योरोपियन धर्म का और विस्तार किया तथा नवीन देवताओं एवं ब्राह्मण वर्ग का सृजन किया जो कि उनके और देवताओं के बीच मध्यस्थ थे। उन्होंने एक नवीन सृष्टि की नियामक नैतिक विचार-धारा को जन्म दिया तथा


बौद्धकालीन भारत
६०० ई० पू०
तक्षशिला
गा
सिन्धु न०
सरस्वती
मथुरा
सूरसेन
चेदि
कौशाम्बी
प्रयाग
का शी
पाटलिपुत्र
नालन्दा
चम्पा
राजगृह
म ग ध
वैसाली
कपिलवस्तु
कुशीनगर
लुम्बिनी
पावा
लिच्छवि
म ल्ल
उज्जैन
अ व न्ती
नर्मदा न०
स त पु रा प०
प्रतिष्ठान
कृष्णा न०
कावेरी न०
पा ण्ड्य
अ र ब
सा ग र
बं गा ल
की
खा ड़ी
१६ महाजनपद
अंग, मगध, काशी,
कोशल, वृज्जि, मल्ल, चेदि, वत्सा,
कुरु, पञ्चाल, मत्स्य, सूरसेन,
अश्मक, अवन्ति, गान्धार, कम्बोज,

यज्ञ-प्रथा चलाई जिसमें अग्नि की पूजा प्रधान थी। अन्त में वे दो श्रेणियों में बँट गये, एक वर्ग फारस चला गया तथा दूसरा भारतवर्ष में आया।

भारतवर्ष के बाहर कुछ प्रमाण मिले हैं जिनसे ज्ञात होता है कि पश्चिमी एशिया के कुछ भागों में आर्यों की पहुँच थी, परन्तु अभी तक यह निश्चित नहीं है कि वहाँ इनके उपनिवेश थे या नहीं। एशिया माइनर के बोगाज-कोई में पाये गये ईसा से १४०० वर्ष पूर्व के कुछ शिला-लेखों में आर्यों के कुछ देवताओं, जैसे इन्द्र, वरुण, मित्र, नसत्यस् (अश्विन्) का उल्लेख मिलता है। कुछ कसीय सम्राटों के नाम जो कि बेबीलोन पर ६ शताब्दियों तक (ईसा से १८०० वर्ष पूर्व से १२०० वर्ष पूर्व तक) राज्य करते रहे, आर्य नामों से मिलते-जुलते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि भारत आते हुए आर्य इधर-उधर भ्रमण करते हुए इन स्थानों में कुछ दिन रहे परन्तु दूसरों का मत है कि वाणिज्य आदि में आर्यों के साथ सम्पर्क में आने से इन पर यह प्रभाव पड़ा।

आर्यों की जो शाखा भारत में आई उन्हें हिन्दू-आर्य कहते हैं। उनके भारत के आगमन के समय के विषय में ईसा से ५००० वर्ष या इससे पूर्व से लेकर ईसा से १५०० वर्ष तक का समय अनुमान किया जाता है। इस विषय में कोई निश्चित तिथि नहीं बतलाई जा सकती परन्तु ईसा से २५०० वर्ष पूर्व से लेकर २००० वर्ष पूर्व तक का समय कई एक प्रकार से निश्चित-सा मालूम होता है। ऐसा समझना सर्वथा भ्रान्तिमूलक है कि वे, एक ही बार में भारत में आ गये, क्योंकि अवश्य ही उन्हें पूर्ण रूप में आने में काफी समय लगा जो कि कुछ शताब्दियों से कम न रहा होगा।

ब—वैदिक साहित्य

वेद—भारत के आर्यों के विषय में हमारे ज्ञान का एकमात्र आधार वेद का विस्तृत साहित्य है। वेद चार हैं तथा उनका विषय काफी विस्तृत है तथा उनके लिखने में भी पर्याप्त समय लगा होगा। कट्टर हिन्दू वेद को मनुष्य की कृति नहीं समझते। उनके अनुसार इनका दिव्य ज्ञान कुछ ऋषियों को ईश्वर की प्रेरणा से हुआ तथा उन्होंने इन ऋचाओं को कण्ठस्थ कर अपनी भावी सन्तानों को कण्ठस्थ ज्ञान कराया जो परम्परा से इसी प्रकार चलते रहे।

वास्तव में वेद की पवित्रता में लोगों की यह धारणा इतनी दृढ़ है कि उनके अतिरिक्त किसी भी दार्शनिक ज्ञान अथवा समाज-धर्म को वह सत्य नहीं मानते। आगे आनेवाले सभी दार्शनिकों तथा स्मृतिकारों ने इस ओर विशेष ध्यान रक्खा कि उनकी दी हुई व्यवस्था वेदों के प्रतिकूल न हो। अतः इन वेदों की ऋचाओं का भाष्य उन्होंने अपनी मनोनुकूल विचार-धारा पर किया।

दर्शन तथा सापेक्ष धर्म के विद्यार्थी के लिए वेदों का बड़ा ही महत्त्व है। यह हिन्द-योरोपियन जाति की प्रथम पुस्तक है जिससे भाषा-विज्ञान के अन्वेषणों तथा प्राचीन धर्म तथा प्रथाओं के अध्ययन में बड़ी ही सहायता मिलती है। परन्तु इनका वास्तविक अर्थ समझने में बड़ी कठिनाई पड़ती है। इसकी भाषा इतनी जटिल है कि आगे आनेवाली संस्कृत भाषा के ज्ञान से इसे समझने में कोई सहायता नहीं मिलती तथा भारतीय टीकाकारों और भाष्यकारों की प्रगति समालोचक-दृष्टि से रहित तथा भ्रान्त धारणाओं से इतनी भरी हुई है कि वे सच्चे अर्थ को नहीं पा सके हैं। अनेक अन्वेषकों के तत्त्वावधानों द्वारा जिन्होंने सापेक्ष प्रणाली का अनुसरण कर अन्य मिलती हुई भाषाओं के साहित्य का अवलोकन किया है, अब अनेक भ्रान्त धारणाएँ दूर हो गई हैं फिर भी अभी बहुत कुछ करना बाकी है।

अंग—वेदों के निम्न अंग हैं:—

(१) संहिता (चारों वेदों की)

(२) ब्राह्मण (संहिता से मिले हुए)

(३) आरण्यक तथा उपनिषद् जो कि ब्राह्मणों से मिले हुए हैं पर वास्तव में भिन्न तथा स्वयं पूर्ण हैं।

संहिता—सभी संहिताएँ एक-सी नहीं हैं। वैदिक साहित्य में सबसे प्राचीन तथा बड़ी वैदिक संहिता है जिसमें कि अनेक देवताओं की प्रशंसा में अनेक ऋचाएँ दी हुई हैं। इसमें १०२८ ऋचाएँ हैं जो कि दस मण्डलों में विभाजित हैं जिनमें से प्रथम तथा दशम निश्चित ही बाद की रचनाएँ हैं। कुछ ऋचाएँ तो स्पष्टतः कुछ विशिष्ट ऋषियों की बनाई हुई हैं; जिनको कि ईश्वर-प्रेरणा से दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ। यजुर्वेद संहिता में कुछ ऋचाएँ ऋग्वेद संहिता की हैं तथा कुछ नवीन गद्य-सूत्र हैं। इसके दो खण्ड हैं—प्रथम शुक्ल

यजुर्वेद या अमिश्रित तथा द्वितीय कृष्ण यजुर्वेद या मिश्रित। सामवेद संहिता का कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं, क्योंकि प्रायः इसकी सभी ऋचाएँ ऋग्वेद की हैं। यद्यपि उनका क्रम भिन्न है तथा वे गाने के लिए बनाई गई हैं। अथर्ववेद संहिता में, जिसके कि कुछ अंश ऋग्वेद के समान पुराने हैं, ऐन्द्रजालिक चमत्कारों आदि के विषय में कुछ दिया गया है। बहुत दिनों तक यह वेदों में नहीं गिना जाता था।

ब्राह्मण—ब्राह्मणों में संहिताओं का अर्थ पुरानी प्रणाली के अनुसार दिया हुआ है तथा उनमें प्रत्येक ऋचा यज्ञ के अनुसार अपने स्थान पर रक्खी गई है। वे अपने अभिप्राय तथा कल्पनाओं के अनुकूल विचित्र दन्तकथाएँ, कथानकों तथा अर्थों को गढ़ लेते हैं। इनका विषय प्रायः कर्मकाण्ड तथा भाषा-गद्य है।

आरण्यक तथा उपनिषद्—ब्राह्मणों के अन्तिम चरण ही आरण्यक हैं जो कि दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं तथा जिसको इतना पुनीत माना गया है कि एकान्त वन को छोड़कर उनका सामान्य जन में पठन का निषेध किया गया है। उपनिषद् भी आध्यात्मिक बातों का उल्लेख करते हैं तथा आरण्यकों से मिले हुए हैं। ये दोनों वेद के अंग है जो कि ज्ञानकाण्ड के नाम से पुकारे जाते हैं तथा ब्राह्मण कर्मकाण्ड के नाम से।

निर्माण-तिथि—वेदों के निर्माण का प्रथम समय भारत में आर्यों के आगमन से सम्बन्धित है। यह घटना सम्भवतः ईसा से तीन कल्प पूर्व हुई थी जैसा कि हम पहले कह चुके हैं। जहाँ तक निर्माणकाल की अन्तिम अवधि का प्रश्न है, यह हम जानते हैं कि बुद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म वेद के सभी अंगों से परिचित थे; अतः यह ईसा से पूर्व ६ठी शताब्दी रही होगी। अतः यह सम्भव है कि ईसा से छठवीं शताब्दी पूर्व वेद पूर्ण रूप से रचे जा चुके थे। चूँकि वेद का निर्माण-काल एक हजार वर्ष से अधिक समय में फैला हुआ है, अतः यह स्पष्ट है कि इतने समय में राजनैतिक तथा सामाजिक अवस्था में अनेक परिवर्तन हुए होंगे। यद्यपि निश्चित तिथि की सीमा निर्धारित करना असम्भव है; परन्तु वैदिक काल का वर्णन दो अंगों में किया जाता है। प्रथम तो आरम्भ वैदिक काल जिसमें कि पूर्व ऋग्वेद संहिता से हमें उस काल का

ज्ञान होता है तथा द्वितीय उत्तर वैदिक काल जिसके लिए शेष वैदिक साहित्य का अध्ययन करना पड़ता है।

स—पूर्व वैदिक काल

भूगोल—हिन्दू आर्य भारतवर्ष में उत्तरी-पश्चिमी दर्रों से आकर पंजाब में बस गये जिस भूमि में सात नदियाँ (सप्तसिंधु) बहती थीं। ऋग्वेद संहिता में अफगानिस्तान तथा पंजाब की नदियों का वर्णन है। उनमें से विशेष उल्लेख-नीय सुवस्तु, गोमती, सिंधु, वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चिनाव), परुष्णी (रावी), विपस (व्यास), शुतुद्रि (सतलज) हैं। गंगा तथा यमुना का भी कभी कभी उल्लेख आता है पर इनका अभी वह महत्त्वपूर्ण स्थान न था जो कि बाद को हुआ। पहले सिन्धु का नाम सरस्वती था पर बाद को यह नाम दूसरी नदी के लिए प्रयुक्त होने लगा जिसे अब सरसुती कहते हैं जो कि पहले सिन्धु की एक सहायक नदी थी तथा जो अब राजपूताना के मरुस्थल में विलीन हो जाती है। यह नदी सबसे अधिक पुनीत मानी जाती थी तथा इसी के तट पर ऋग्वेद की ऋचाएँ रची गई थीं।

आर्य लोग—निस्सन्देह जब आर्य लोग भारत में आये तब वे कृषक श्रम-जीवी थे। उनके लिए गाय का सबसे अधिक मूल्य तथा महत्त्व था तथा वे सदा देवताओं से पशुवर्द्धन की प्रार्थना करते रहते थे। शिल्पकारों में बढ़ई, जुलाहे, चमार, रथ बनानेवाले तथा अन्य धातुकार विशेष उल्लेखनीय हैं। गेहूँ तथा जौ ही उनके नित्य के भोजन के अंग थे तथा वे आमिषभोजी भी थे। उनके वस्त्र ऊन या रूई के बने हुए होते थे तथा उनकी पोशाक में कुल दो या तीन वस्त्र होते थे तथा स्वर्णाभूषणों को स्त्री-पुरुष दोनों ही बहुत पसंद करते थे। रथधावन तथा द्यूतक्रीड़ा ही उनके प्रमुख व्यसन थे। साधारण रूप से वे सुरा का पान करते थे; परन्तु यज्ञ के समय सोम नामक एक पौधे का मादक रस पिया जाता था।

कुटुम्ब—साधारण रूप से लोग कुटुम्ब में रहते थे। पिता परिवार का स्वामी तथा संरक्षक माना जाता था तथा उसका अन्य सदस्यों पर निरंकुश अधिकार रहता था; परन्तु वह अपनी पत्नी को समाधिकारिणी तथा सहधर्मिणी मानता था तथा वह उसे कुटुम्ब की अवस्था में सहायता देती थी। एक स्त्री

विवाह की प्रथा ही विशेष सामान्य थी तथा यह सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता कि समाज में स्त्रियों का स्थान निम्न था। केवल वयस्क स्त्री-पुरुष का ही विवाह होता था तथा विधवा-विवाह की प्रथा विशेष सामान्य न थी। ऋग्वेद में अनेक विदुषी स्त्रियों का उल्लेख आया है जैसे विश्ववरा, घोषा, अपला इत्यादि जो ऋषियों के समान गण्यमाना हुई तथा जिन्होंने अनेक वैदिक ऋचाएँ रचीं।

विवाह-विषयक ऋचाएँ वैदिक आर्यों के उदार दृष्टिकोण को प्रकट करती हैं। पुरोहित वर तथा वधू से कहता है कि :—

'सदा यहाँ साथ रहो तथा तुम्हारा वियोग न हो। अनेक प्रकार के भोजनों का आस्वादन करो तथा अपने ही गृह में रहो और अपने पुत्रों तथा प्रपौत्रों की संगति का आनन्द-लाभ करो।'

तथा वधू को निम्न प्रकार से सम्बोधित करता है :—

'हे वधू! अनेक शुभ शकुनों तथा मंगल से युक्त अपने पति के गृह में प्रविष्ट हो। अपने नौकरों, नौकरानियों तथा पशुओं के प्रति अच्छा व्यवहार करना।'

'स्वशुर तथा सास तुझसे प्रसन्न रहें और देवर तथा ननँद की तू रानी बने।'

वर तथा वधू कहते हैं :—

'सारे देवता हमारे हृदयों को एक दूसरे से मिलावें तथा मातरिश्वन्, धातृ एवं वाग्देवी हमारे हृदयों को मिलावें।'

राजनैतिक वर्ग—संक्षेप में ये लोग सम्पन्न तथा आराम का जीवन व्यतीत करते थे। एक ग्राम में अनेक कुटुम्ब होते थे तथा प्रत्येक की भूमि उसी में चारों ओर मिली रहती थी। यह निश्चित रूप से मुखिया या ग्रामणी की अध्यक्षता में एक राजनैतिक इकाई थी; परन्तु इसका राजनैतिक इकाई से या 'विषि' से क्या सम्बन्ध था इसका पता नहीं चलता। यद्यपि कुछ लोगों का यह भी मत है कि ये विष कुछ ग्राम-समूहों के रूप में गण-राज्य थे।

ये ग्राम सारे देश में फैले हुए थे तथा या तो पास पास बसे हुए थे या दूर दूर और आपस में सड़कों द्वारा मिले हुए थे। ये बहुधा खुले हुए होते

थे, यद्यपि कभी कभी रक्षा के लिए दुर्ग भी बना लिये जाते थे। पहले ग्राम की सारी भूमि जाति की सम्पत्ति समझी जाती थी; परन्तु बाद में वह राजा की सम्पत्ति मानी जाने लगी। उससे जागीर पाये हुए लोग सामन्त होते थे परन्तु ऋग्वेद में इनका कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

जनवर्ग—लोग कई एक वर्गों में बँटे थे जो जन कहलाते थे तथा जिसका अधिपति राजा होता था। इनमें पाँच विशेष प्रसिद्ध थे जैसे पुरु, तुर्वष्, यदु, अनु तथा द्रुह्यु जिनका कि बहुधा 'पंचजन' के नाम से उल्लेख आता है। इन जनों के स्थान का निश्चित पता लगाना सरल नहीं है यद्यपि ऐसा सम्भव है कि पुरु सरस्वती के किनारे बसे हुए तथा अनु रावी के, द्रुह्यु और पश्चिम की ओर तथा तुर्वष् एवं यदु पंजाब के दक्षिण में बसे हुए थे। सीमान्त प्रदेश की ओर अन्य जातियाँ बसी हुई थीं जिनमें प्रमुख अलिन, पक्थ, एवं भालनस् थे।

दश राजाओं का युद्ध—एक और प्रसिद्ध जनपद जिसका कि उल्लेख ऊपर नहीं किया गया है अरबों का था जो कि सरस्वती के दोनों ओर बसे. हुए थे (सरस्वती शायद सरसुती न होकर सिन्धु थी) पहले तो यह पुरुवंश की ही एक शाखा थी परन्तु बाद में इसके शक्तिशाली राजा सुदास के समय में ये लोग अपनी पुरानी शाखा से अलग हो गये। ऋग्वेद में दशराज युद्ध का वर्णन आया है, जिसमें दश जनपदों के राजाओं ने मिलकर भरतवंशीय सुदाश पर आक्रमण किया परन्तु उन्हें हार खानी पड़ी। परन्तु इस युद्ध का सविस्तर वर्णन नहीं मिलता। यद्यपि इतना ज्ञात है कि इसका मूल कारण भरद्वाज ऋषि तथा वशिष्ठ मुनि का वैमनस्य था, क्योंकि पहले भरद्वाज का कुटुम्ब भरतवंशीय राजाओं के दरबार में पूज्य था; परन्तु बाद में यह स्थान वशिष्ठ के कुटुम्बियों को मिल गया। परन्तु वशिष्ठ भी बहुत दिनों तक राजगुरु न रह सके तथा एक नवीन ऋषि विश्वामित्र ने उनका स्थान ले लिया जो कि बाद में इस राजकुल को और पूर्व की ओर ले गया तथा यह राज-वंश यमुना तथा सरस्वती (सरसुती) के बीच में बस गया।

राजनैतिक व्यवस्था—अधिकतर पिता के मरने पर पुत्र के सिंहासन पर बैठने की प्रथा प्रचलित थी। राजा वैभव तथा ऐश्वर्य के साथ जीवन

व्यतीत करता था तथा प्रजा को उसकी आज्ञा माननी पड़ती थी। वह प्रायः परम्परागत नियमों के अनुकूल शासन करता था तथा उसे राज-काज में पुरोहित मंत्रणा देता था जो स्वयं भी वंश-परम्परानुकूल ही उस पद का अधिकारी होता था। जो राजा अपने पुरोहित को भेंटों से प्रसन्न रखता था उसका वे ऋचाओं में गुणगान करते थे। राजा का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य युद्ध में सैन्य-संचालन होता था जिसमें उसे राज्य का महाबलाधिकृत सेनानी सहायता करता था। प्रजा के संरक्षक होने के नाते राजा को अपराधियों का न्याय करने एवं दण्ड देने का भी अधिकार होता था यद्यपि अधिकतर विषयों में न्याय-व्यवस्था कुटुम्ब या पंचायत ही करती थी। ऐसा ज्ञात होता है कि प्रजा की निजी भूमि को अपने अधिकार में करने का उसे हक न था। कोई स्थिर सेना न रहती थी। समय पड़ने पर जन-साधारण ही सेना बनाकर युद्ध में जाते थे तथा पराजित राजाओं से कर लिया जाता था।

लोकप्रिय परिषद्—दो लोक-प्रिय परिषदें होती थीं—सभा तथा समिति। परन्तु इनका निर्माण किन विशिष्ट नियमों पर होता था यह नहीं ज्ञात है। ऐसा कहा जाता है कि सभा ग्राम या जाति की होती थी तथा समिति समस्त जनपद की एक बड़ी परिषद् होती थी। इनके कुछ शासन, न्याय एवं नियम-निर्माण-सम्बन्धी अधिकार होते थे; परन्तु उनका उपयोग किस तरह होता था यह नहीं मालूम। कुछ लोगों का मत है कि इन परिषदों का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य राजा का चुनाव होता था। परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि इस धारणा को प्रमाणित करने के साधनों का अभाव है। पिता के पश्चात् पुत्र राज्य का अधिकारी होता था यद्यपि इसके लिए परिषद् की स्वीकृति आवश्यक होती थी। कानून बहुत ही साधारण स्थिति में था तथा सामाजिक एवं दण्ड-विधान दोनों ही अभी अपरिपक्व अवस्था में थे। अस्थिर सम्पत्ति विक्रय अथवा उपहार से दी जा सकती थी। सम्पत्ति पिता के पश्चात् पुत्र को अथवा सम्बन्धियों को मिलती थी तथा इसके लिए नियम बने हुए थे। ऋण लिये जाते थे परन्तु व्याज-प्रणाली से लोग अनभिज्ञ थे तथा कुछ विशेष अवस्थाओं में ऋणी को दासता स्वीकार करनी पड़ती थी।

युद्ध—ऋग्वेद की राजनैतिक व्यवस्था में युद्ध का महत्त्वपूर्ण स्थान था।

सेना के सैनिक साधारण नागरिक ही होते थे जो भाला, तलवार तथा कुल्हाड़ी से लड़ते थे। प्रायः लोग आपस में अथवा कभी-कभी आदिम निवासियों से लड़ा करते थे। ऐसा बार-बार कहा गया है कि प्रायः जिन दासों तथा दस्युओं के साथ देवताओं के युद्ध का उल्लेख वेदों में आता है, वे वास्तव में पंजाब की अनार्य जातियों के लोग थे। परन्तु अधिकतर इन शब्दों का प्रयोग वायवीय दैत्यों के लिए हुआ है तथा उनका पार्थिव शत्रुओं से कोई तात्पर्य नहीं।

देवता—वैदिक साहित्य धार्मिक तथा आध्यात्मिक है अतः उनके द्वारा हमें आर्यों के जीवन के अन्य अंगों की अपेक्षा धार्मिक अवस्था का विशेष ज्ञान होता है। आर्य लोग प्राकृतिक शक्तियों के उपासक थे तथा जहाँ कहीं भी उन्हें उसमें एक जीवित शक्ति का आभास हुआ, उन्होंने उसके आधार पर एक देवता की रचना कर ली। अतः प्रारम्भिक अवस्था में देवता प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक-मात्र थे; परन्तु क्रमशः उनका उन प्राकृतिक शक्तियों से पृथक्करण हो गया और अन्त में वे स्वतः पूज्य हो गये। परन्तु उनकी वास्तविक प्रकृति का पूर्ण विस्मरण नहीं हुआ तथा आज भी हम इसका अनुमान लगा सकते हैं कि कौन सा देवता किस शक्ति का प्रतीक था।

मरुत् तथा आदित्य जैसे वर्गीकृत देवताओं को छोड़कर कुल देवता तैंतीस थे तथा जो तीन वर्गों में बँटे थे (१) दैवी या स्वर्गीय, (२) वायविक तथा (३) पार्थिव। देवताओं में विशेष पूज्य एवं महत्त्वशाली वरुण, इन्द्र, सूर्य, अग्नि तथा सोम (एक पौधा जिसके रस को पवित्र समझ यज्ञ में पिया जाता था) थे।

कुछ देवताओं के स्वभाव एवं प्रकृति का वर्णन किया जा सकता है। कुछ लोगों के मतानुसार वरुण आकाश का देवता था और उसको सत्य तथा रति का अधिपति माना जाता था। उसे लोग राजा मानते थे तथा कोई भी पापी उसकी दृष्टि से न बच सकता था। इन्द्र बहुत ही लोकप्रिय देवता था तथा इसकी स्तुति में सबसे अधिक ऋचाएँ ऋग्वेद-संहिता में हैं। अधिकतर वेदों में हम इन्द्र को वायविक राक्षसों या वृत्रों से युद्ध करते देखते हैं जो कि वर्षाजल के चोर समझे जाते हैं। इन्द्र ने इनका पीछा किया तथा वज्र द्वारा इनका विनाश कर इनके पास से वर्षाजल छीन लिया। वह जल उसके पुजारियों के देश में धारा के रूप

में प्रवाहित हुआ। प्रत्येक वर्ष वर्षा के पूर्व इन्द्र को यह कार्य करना पड़ता था तथा मरुत इन दैत्यों के विनाश में इन्द्र की सहायता करते थे। तूफान तथा बिजली के देवता रुद्र बहुत ही भीषण एवं क्रोधी माने जाते थे जो कि अपने भक्तों के पूजन में तनिक भी त्रुटि हो जाने पर क्रुद्ध हो जाते थे। अग्नि देवताओं के पुरोहित एवं वाहक माने जाते थे, क्योंकि यज्ञ में आहुति दी हुई हव्य को देवताओं तक वही पहुँचाते थे। सूर्य की सविता, पूषन, विष्णु, मित्र तथा सूर्य आदि अनेक रूपों में पूजा होती थी तथा उन्होंने ही आर्यों का ध्यान पहले पहल अपनी ओर विशेष आकृष्ट किया। रात्रि में पृथ्वी पर अधिकार जमानेवाले दैत्य अन्धकार का वह विनाश करते हैं तथा दिन में अपने प्रकाशमान रथ को आकाश-मार्ग से ले जाते हैं। सूर्य-देवता के विष्णु रूप का अभी उतना महत्त्व न था जो कि आगे चलकर पुराणों में हुआ। बाद में सूर्य के कुछ चिह्न एवं गुणों से उनको विभूषित किया गया। दूसरे सूर्य-देव सविता के विषय में ऋग्वेद-संहिता के तृतीय मंडल की बासठवीं (६२) ऋचा में निम्न स्तुति दी हुई है जो कि अब भी प्रत्येक ब्राह्मण के मुख पर है और पुनीत मानी जाती है।

'हम सविता के उस प्रकाश-युक्त तेज का ध्यान करते हैं जो हमारी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करता है।'

द्यौः तथा पृथ्वी की पूजा पिता तथा माता के रूप में होती थी। प्रातः-काल की देवी ऊषा थीं जिनकी स्तुति में ऋग्वेद में कुछ अत्यन्त कवित्वपूर्ण एवं सुन्दर ऋचाएँ लिखी गई हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक नदी की एक अधिष्ठात्री देवी होती थी जो कि नदी के नाम से पुकारी जाती थी।

ऊषा देवी की स्तुति में वैदिक ऋषियों की ऋचा नीचे दी जाती है। उन्हें ऊषा की सुन्दरता का वर्णन करने में बड़ा आनन्द आता था तथा इस वर्णन में कभी कभी मानव-जीवन की पलायनशील प्रकृति का उदासीन भाव निहित रहता था।

'सब ज्योतियों में सुन्दरतम ज्योति का अवतरण हुआ है जो कि अपने प्रकाशयुक्त तेज से सुदूर क्षितिज तक चमकती है तथा सविता के उदय से जिसके प्रकाश को सम्बल मिलता है। रात्रि के स्थान पर अब ऊषा देवी विराजमान हैं। हमारे सम्मुख स्वर्ग की पुत्री का अवतरण हो रहा है जो कि

दिव्य आभूषणों से सजी हुई कुमारि-वेष में है तथा पार्थिव सम्पत्ति की अधिष्ठात्री देवी है। हे मंगलमयी ऊषे देवि, हमें प्रकाश दो तथा हमारे शरीर को अपने प्रकाश द्वारा अनेक अभीष्ट वरदान दो। अगणित व्यतीत प्रातः सन्ध्याओं में अन्तिम तथा अनागतों में प्रथम ऊषा देवी दिव्य तेज द्वारा हम पर चमक रही है तथा प्रातःकाल हो रहा है।

'पुरातन होकर भी पुनः पुनः नवजात रूप में तथा अपने सौन्दर्य को उन्हीं रंगों से सजाकर ऊषा देवी मानव जीवन को विनाश की ओर ले जाती है जैसे कि दैवरूपी चतुर खिलाड़ी सम्पत्ति का विनाश कर देता है।

'प्राचीन युग में अनेक मानव प्रातःकाल इसी ऊषा की हास्यमयी एवं अरुणिमामय मूर्ति को देखते-देखते मृत्यु के गर्त में लीन हो गये। हम भी आज उसकी उसी लास्यमयी मूर्ति को देख रहे हैं तथा हमारे बाद आनेवाली हमारी सन्तानें भी इसे देखेंगी।

तथा सरस्वती नदी की स्तुति इस प्रकार की गई है:—

'भोजन देनेवाली, पवित्र करनेवाली तथा यज्ञ-फल के स्वरूप में सम्पत्ति देनेवाली सरस्वती हमारे यज्ञ की हव्य को ग्रहण करे।

'हममें सत्य की प्रेरणा देनेवाली तथा सुबुद्धि देनेवाली सरस्वती देवी ने हमारे यज्ञ को स्वीकार कर लिया है।

'हे सरस्वती, तुमने दैवी कार्यों में विघ्न डालनेवाली का नाश किया है तथा सबको आतंकित करनेवाले दुष्ट वृष्य के पुत्र का नाश किया है।

'हे धन-धान्य से युक्त सरस्वती देवी, तुमने मनुष्यों को भूमि दी है तथा सबके लाभ के लिए वृष्टि कराई है।

परन्तु बाद में इन देवताओं की उत्पत्ति एवं उनके कार्य कलाप के विषय में अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हो गईं तथा उनकी आकृति की कल्पना प्रायः मानव स्वरूप में की जाने लगी; परन्तु उनके इन मानवीय स्वरूपों को मूर्तियों का रूप न दिया गया था। इन सब देवताओं के अधिपति की कल्पना केवल यदा कदा हुई तथा देवेश्वर को पुरुष, हिरण्यगर्भ तथा प्रजापति आदि अनेक नामों से पुकारा गया।

ऋग्वेद में अनेक ऐसी ऋचाएँ हैं जिनसे इस बात का पता चलता है कि

इन प्राकृतिक शक्तियों की देव रूप में उपासना अन्त में सम्पूर्ण प्रकृति के देवता की उपासना में परिवर्तित हो गई।

'सबको उत्पन्न करनेवाला महान् है। वह सबको उत्पन्न करता तथा सबका पालन करता है। वह सबके परे है तथा सबको देखता है, वह सप्तर्षियों से भी ऊपर है, ऐसा बुद्धिमान् लोग कहते हैं तथा वे अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति पाते हैं।

'जिसने जीवन दिया है, जो कि सृष्टिकर्ता है तथा जो विश्व के प्रत्येक स्थान से परिचित है, वह एक है यद्यपि उसके अनेक देव-रूप तथा देव-नाम हैं। अन्य लोग उसे जानने की इच्छा रखते हैं।

'जिसने जीवन तथा शक्ति दी है तथा जिसकी आज्ञा सारे देवता पालन करते हैं, तथा अमरता जिसकी छाया एवं मृत्यु जिसकी दासी है उसके अतिरिक्त हम यज्ञ की बलि किसे अर्पित करें।'

यज्ञ—प्रार्थना तथा स्तुति के द्वारा देवताओं की पूजा करने के अतिरिक्त आर्य लोग घी, दूध तथा सोम को यज्ञ-अग्नि में होम कर देवताओं को हव्य देते थे। यज्ञ की प्रणाली अत्यन्त सरल थी। यज्ञ की अग्नि को प्रज्वलित करके मंत्रोच्चारण के साथ हवि का अग्नि में होम करते थे। परन्तु इन यज्ञों का महत्त्व यहीं तक सीमित न था वे देवताओं को प्रसन्न करने के साधन थे। उनका कोई रहस्यात्मक भेद न था तथा केवल अपने बल पर याज्ञिक को कोई वरदान दे सकते थे यह शक्ति केवल देवताओं तक ही सीमित थी।

द—उत्तर वैदिक काल

जातियाँ तथा राज्य—उत्तर वैदिक काल हर अर्थ में ऋग्वेद काल का ही प्रत्येक दिशा में परिवर्धन है। उनकी भौगोलिक सीमा पूर्व की ओर काफी बढ़ चुकी थी तथा इस काल में पांचाल (उत्तर दुआब) कोशल (अवध) विदेह (उत्तरी बिहार) तथा विदर्भ (बरार) का उल्लेख आता है। इन नवीन औपनिवेशिक स्थानों को प्रथम आर्यावर्त में स्थान नहीं दिया गया तथा बाद को भी कट्टर मतवाले पूर्वीय प्रान्तों को आर्यावर्त में गणना नहीं करते थे। शतपथ ब्राह्मण में कोशल तथा विदेह में ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों द्वारा उपनिवेशों के बसाने की एक कुतूहलपूर्ण कहानी दी हुई है। विन्ध्य के दक्षिण का प्रदेश अब

भी इन लोगों को ज्ञात न था यद्यपि विन्ध्य प्रदेश में रहनेवाली शवद, पुलिन्द तथा आंध्र आदि आदिम जातियों का उल्लेख दिया हुआ है।

इसी समय पश्चिमी पंजाब आर्यों की दृष्टि से ओझल हो गया तथा संस्कृति एवं सभ्यता का केन्द्र गंगा तथा सरस्वती नदियों के मध्य देश में आ गया जहाँ कि कुरु तथा पांचाल राज्य थे।

इसके अतिरिक्त कुछ निश्चित राजनैतिक परिवर्तन भी हुए। पुरु तथा भरत जो कि दशराज युद्ध के समय शत्रु थे। अब सरस्वती के प्रदेश में मिल गये तथा कुरु के नवीन नाम से विख्यात हुए। ये सबसे सभ्य आर्य माने जाते थे तथा उनकी भाषा तथा उनका व्यवहार आदर्शस्वरूप माने जाते थे। ये कर्मकाण्ड के पण्डित थे तथा उनके यज्ञों में कोई वैधानिक त्रुटि नहीं होने पाती थी। उन्होंने अपने निवासस्थान का नाम कुरुक्षेत्र रक्खा तथा आर्य-सभ्यता एवं संस्कृति के विस्तार में सहायता पहुँचाई। इनके पास ही पांचाल थे जो कि गंगा-यमुना के दुआब के उत्तरी भाग में बसे हुए थे तथा जिनका कुरुओं के समान ही महत्त्व तथा आदर था।

नगर—प्रथम बार इस काल में हमें कुछ नगरों का उल्लेख मिलता है जैसे कुरुओं की राजधानी आसन दिवत जिसकी भौगोलिक स्थिति का पता अभी तक नहीं चल सका है, पांचालों की राजधानी काम्पिल्य (फर्रुखाबाद जिले का आधुनिक कम्पिल) तथा काशिराज की राजधानी काशी।

इस काल में भी आर्यों का भारत के आदिम निवासियों के साथ क्या सम्बन्ध था यह उतना ही अस्पष्ट है जितना कि पूर्व वैदिक काल में। इसमें सन्देह नहीं कि इन नवीन देशों की विजय से आर्य लोग इन देशीय जनों के और भी सम्पर्क में आये। अन्तर्विवाहों से उनकी भाषा तथा वर्ण में अन्तर भी आ गया होगा। यही कारण है कि पश्चिम के अपेक्षाकृत अमिश्रित आर्य पूर्व के देशी निवासियों को हेय दृष्टि से देखते हैं। एक और जाति का उल्लेख आता है जो सम्भवतः समाज से बहिष्कृत इधर-उधर घूमनेवाले लोग थे तथा जो वृत्यों के नाम से पुकारे जाते थे। उनका संस्कार कर आर्य सीमा में लाने की विधि दी हुई है।

राजा—नवीन प्रान्तों की विजय से राज्यों का विस्तार बढ़ गया तथा राजा

की स्थिति में भी परिवर्तन हुआ। अनेक शब्द जैसे साम्राज्य, अधिराज इत्यादि का उल्लेख मिलता है जिससे साम्राज्यों तथा गण-राज्यों की स्थापना का पता चलता है। अब भी राजा ही सामान्यतः शासन करता था। राजा के सिंहासन पर बैठने के पूर्व प्रजा की अनुमति आवश्यक होती थी तथा ऐसा ज्ञात होता है कि शरीर-दोषवाले राजा को प्रजा राजा मानने से इनकार कर देती थी। एक विस्तृत अभिषेक समारोह होता था जिसमें अनेक यज्ञ तथा प्रार्थनाएँ होती थीं तथा ऐसा विश्वास किया जाता था कि इन यज्ञ-विधियों एवं संस्कारों से राजा साधारण मनुष्यों के स्तर से ऊपर उठ जाता था। राजा के कोई दैवी अधिकार न माने जाते थे परन्तु उनके दैवी गुणों पर साधारण जन की आस्था होती थी। अभिषेक के समय उसे इस बात की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि वह धर्म सत्य एवं नियम का पूर्ण पालन करेगा। वह कहता है :—

'यदि मैं कभी अपनी प्रतिज्ञा भंग करूँ तो मेरे धार्मिक अनुष्ठान दान, सत्कर्म, स्थान, जीवन तथा सन्तान तक का सत्व जाता रहे।

तथा राजा इस प्रकार संबोधित किया जाता है :—

'कृषि, उन्नति तथा सामान्य प्रजा के हित के लिए यह राज्य तुम्हें सौंपा जाता है।'

इसका तात्पर्य यह है कि राज्य एक विश्वास की धरोहर थी। राजा की सम्पत्ति न थीं जिसको पास रखने की पहली शर्त थी सामान्य जनों के हितों की रक्षा। सभा तथा समिति अब भी पहले की तरह अपना कार्य करती थीं तथा इसके लिए प्रायः प्रार्थना की जाती थी कि परिषद् तथा राजा के बीच में सद्भावना बनी रहे। कुछ विषयों में राजा को उनका परामर्श लेना पड़ता था, परन्तु इसका विस्तृत उल्लेख नहीं मिलता। ऐसा ज्ञात होता है कि युद्ध, शान्ति तथा अर्थ-सम्बन्धी विषयों में जिनका कि महत्त्व सार्वजनिक था, परिषद् का परामर्श आवश्यक था। इसके अतिरिक्त वे कभी कभी भूमि, ऋण, उत्तराधिकार तथा दण्डच अपराधों का न्याय भी करते थे। अपराधियों पर जुर्माना होता था तथा कभी कभी उसकी निर्दोषिता की परीक्षा सार्वजनिक रूप से कठिन दण्डों द्वारा होती थी।

राज-कर्मचारी—परन्तु राजा तथा राज-कर्मचारी महत्त्व में काफी बढ़

गये। समस्त राज-कर्मचारी मिलकर विरस या रत्निन कहलाते थे जिनमें रानी (महिषी) पुरोहित, सेनापति (सेनानी) कर लेनेवाला (संगृहीतृ) इत्यादि शामिल थे। दरबार में अनेक राजा के सम्बन्धी रहते थे जो राजन्य कहलाते थे।

वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति—वर्ण-व्यवस्था बहुत ही विवाद-ग्रस्त विषय है तथा अब भी कोई असन्दिग्ध प्रमाण नहीं मिलता। कुछ लोगों के मतानुसार यह व्यवस्था केवल व्यवसाय पर अवलम्बित थी जो कि क्रमशः वंश-परम्परा में निर्बाध गति से चलती गई तथा बाद में अन्तर्वर्ण विवाह का भी निषेध हो गया। परन्तु दूसरों का मत है कि यह जाति के सिद्धान्त पर अवलम्बित थी; जिसमें जितने अंश तक शुद्ध आर्य रक्त था उसे उसी अनुपात से समाज में स्थान दिया गया। परन्तु एक नवीन विचारधारा के अनुसार भारत के अनार्यों में परम्परागत व्यवसाय के ग्रहण तथा अन्तर्वर्ण विवाह के निषेध की व्यवस्था थी जिसे आर्यों ने अपना लिया।

पूर्व वैदिक काल में समाज के तीन भाग थे (१) ब्राह्मण (पुरोहित) (२) राजन्य* (सामन्तगण) तथा (३) विश (साधारण जन)। यह विभाग प्रायः व्यवसायात्मक था तथा बाद में आनेवाली जाति-व्यवस्था से इसका कोई साम्य न था। अभी तक परम्परागत व्यवसाय के ग्रहण तथा अन्तर्विवाह के निषेध की कोई व्यवस्था न थी तथा सब लोग एक थे।

उत्तर वैदिक काल में हम इस व्यवस्था का दृढ़ रूप देखते हैं। कर्मकाण्ड तथा यज्ञ-विधि की बढ़ती हुई जटिलता के कारण एक ऐसे वर्ग की आवश्यकता थी जो अपना सारा समय इन पवित्र धार्मिक कार्यों की ओर दे सके। राज्य-दरबार तथा उसके कार्य-व्यापार की बढ़ती हुई व्यापकता से सामन्त-वर्ग का आविर्भाव हुआ तथा व्यापार एवं वाणिज्य के विस्तार तथा उद्योग-धंधों की कुशलता के कारण शिल्पियों तथा वणिकों का एक नवीन वर्ग बन गया। इनके अतिरिक्त इसी में आदिम निवासी भी समाज में मिल गये और इस प्रकार समाज चार भागों में बँट गया* ब्राह्मण, राजन्य या क्षत्रिय, विश या वैश्य तथा शूद्र।

---

*ऐसा बहुधा कहा जाता है कि दूसरा वर्ण योद्धाओं का था परन्तु वास्तविक सत्य यह है कि राजन्य या क्षत्रिय वर्ग देश के समृद्ध सामन्तों के वंश के थे जो कि राज्य-दरबार में रहते थे तथा सेना केवल सामान्य जनों से बनती थी।

विकास के इस स्तर पर सम्भव है कि आर्यों ने अनार्यों की कुछ प्रणालियों को अपनाया हो जैसे कि परम्परा-व्यवसाय ग्रहण तथा अन्तर्विवाह-निषेध जिनके द्वारा कि समाज के ये वर्ग आगे चलकर जाति-रूप में परिवर्तित हो गये।

ब्राह्मण—पूर्व वैदिक काल में ही ब्राह्मण समाज में ऊँचा स्थान ग्रहण कर चुके थे जो कि समाज के अन्य सभा-सदस्यों के ऊपर था। वह मनुष्यों में श्रेष्ठ माने जाते थे तथा क्षत्रियों के उद्गम-स्थान माने जाते थे। उनको समाज में अपनी श्रेष्ठता का ऊँचा उदाहरण रखना पड़ता था तथा उनसे आशा की जाती थी कि कर्मकाण्ड तथा यज्ञ-विधि की जटिलताओं से परिचित हो तथा उनकी भाषा शुद्ध हो।

क्षत्रिय—क्षत्रियों ने इस युग के दर्शन-ज्ञान में विशेष भाग लिया तथा वे कभी-कभी यज्ञ की प्रणाली पर ब्राह्मणों से विवाद कर बैठते थे। राज्य-दरबार में सम्मान तथा वाद-विवाद के लिए ब्राह्मण बहुत संख्या में आया करते थे। बहुत से क्षत्रियों ने अपने व्यक्तिगत ज्ञान के बल पर ब्राह्मणों के पद को प्राप्त किया।

वैश्य—वैश्य मिश्रित जनों में से थे, जिनमें उच्च वर्णों की अपेक्षा शुद्ध रक्त की कमी थी तथा जो स्वतन्त्र जन होने के नाते शूद्रों से उच्च थे। वैश्य की स्थिति बहुत सुखमय न थी। एक स्थान पर ऐसा उल्लेख आया है कि 'उच्च जातियों को उनसे कर लेने का अधिकार है, उनकी सम्पत्ति में भाग बँटाने का अधिकार तथा स्वेच्छा से उन पर शासन करने का अधिकार है।' परन्तु इस जाति का धनी वर्ग जिसे श्रेष्ठी या गृहपति कहते हैं, राज्य-दरबार में सम्मानित था।

शूद्र—शूद्रों का जीवन कष्ट-साध्य था। उपर्युक्त लेख, जिसमें वैश्य की स्थिति का उल्लेख आता है, शूद्र के विषय में यह कहता है 'वह दूसरे के दास की स्थिति में रहेगा जिसे उसका स्वामी इच्छा के अनुकूल निकाल या मार डाल सकता है।' यज्ञ करनेवाले पुनीत पुरुषों को उससे बात न करनी चाहिए, परन्तु फिर भी समाज में उसका महत्त्वशाली स्थान था और घरेलू कार्यों में उसका उपयोग होता था। फिर भी यह असंभव है कि शूद्रों की सम्पूर्ण जन-संख्या आर्यों के केवल भृत्य-रूप में रही हो। यह निश्चित है कि वे भी वैश्यों

की भाँति कृषि तथा अन्य व्यवसायों को करते थे और केवल कर्मकाण्ड के अंग को छोड़कर वैश्यों तथा शूद्रों में केवल सैद्धान्तिक अन्तर था, वास्तविक अन्तर न था।

कृषि—कृषि में काफी उन्नति हुई तथा अनेक प्रकार की फसलें बोई जाती थीं जैसे धान, गेहूँ, तिल इत्यादि। कभी कभी एक हल में चौबीस बैल तक जोते जाते थे। देश के उपजाऊ मैदानों में साल में दो फसलें होती थीं। परन्तु फलों को उत्पन्न करने अथवा बागवानी की कला के प्रचार के प्रमाण नहीं मिलते हैं।

औद्योगिक धंधे—औद्योगिक धंधों की विशेष उन्नति हुई तथा उनमें लोगों ने विशेष कुशलता प्राप्त की। शिकारियों, धीवरों, कृषकों, घरेलू नौकरों तथा खेती के नौकरों, टोकरी बनानेवालों, रस्सी बनानेवालों, धोबियों, रँगरेजों, जुलाहों, नापितों, धातुकारों तथा कुम्भकारों इत्यादि का उल्लेख आता है।

विद्या—वेद की ऋचाएँ अब भी विशेष पुनीत मानी जाती थीं तथा उनके लिखने का निषेध था। अपने पूर्वजों द्वारा बनाई हुई ऋचाओं को पुरोहित लोग कण्ठस्थ करते थे तथा इस तरह वेद का ज्ञान वंश-परम्परागत पिता से पुत्र सीखकर कण्ठस्थ कर लेता था। वैदिक पाठ को शुद्ध रखने के लिए अनेक युक्तियाँ निकाली गईं जिनमें से प्रमुख ऋग्वेदसंहिता का पदपाठ है, जिसे कि साकल्य ने ईसा से दस शताब्दी पूर्व रचा। इस कृति में पाठ की शुद्धता के लिए ऋचा का प्रत्येक शब्द अलग अलग लिखा गया है। वैदिक व्याकरण पर भी कुछ कृतियाँ रही होंगी जो कि अब नहीं मिलतीं।

भाषा—इस समय तक पुरोहितों ने भाषा को प्रौढ़ रूप दे दिया था अतः व्याकरण-द्वारा उत्पन्न हुई भाषा की नवीन जटिलताएँ—जन-साधारण की समझ में न आ सकीं। जन-साधारण की भाषा अनार्यों के सम्पर्क से भिन्न रही होगी, अतः फलस्वरूप यह नवीन सरल भाषा साधारण जन की 'प्राकृत' भाषा के नाम से पुकारी गई। यह स्वाभाविक है कि भिन्न-भिन्न स्थानों पर प्राकृत का स्वरूप भिन्न हो गया। प्रारम्भिक अवस्था में तीन ऐसी प्राकृत भाषाएँ प्रचलित थीं (१) शौरसेनी जो सूरसेन जिले या मध्य दोआब में बोली जाती थी, (२) मागधी जो पूर्वी भारत के मगध जिले में बोली जाती थी तथा

(३) पश्चिम में बोली जानेवाली महाराष्ट्री। कालान्तर में इनकी स्वयं अनेक शाखाएँ हो गई जो कि साहित्यिक कार्यों में भी कभी-कभी प्रयुक्त होती थीं। अतः वैदिक भाषा से दो स्वतन्त्र शाखाएँ निकलीं (१) संस्कृत जिसके स्वरूप को प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने निर्धारित किया (ईसा से ७०० वर्ष पूर्व) तथा प्राकृत जो कि बोल-चाल की साधारण भाषाएँ थीं और जो समय समय पर बदलती गईं। संस्कृत शिक्षित तथा सभ्य लोगों की भाषा थी और सारे भारत के योग्य विद्वानों की राष्ट्रभाषा थी।

लेखन—मोहेनजोदड़ो आदि पूर्व-ऐतिहासिक स्थानों को छोड़कर भारतवर्ष में सबसे प्राचीन लेख ईसा से पाँचवीं या चौथी शताब्दी पूर्व के हैं परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसके बहुत पूर्व ये लोग लेखन-कला से परिचित रहे होंगे। कुछ विद्वानों ने भारत की नागरिक ब्राह्मी लिपि की, जिससे आधुनिक भारत तथा ब्रह्मा की भाषाओं की लिपियाँ निकली हैं, उत्पत्ति फिनीशिया में बतलाई है; परन्तु यह सम्भव है कि इसकी उत्पत्ति देशीय रही हो; यद्यपि मोहेनजोदड़ो की लिपि से इसकी उत्पत्ति होने के कोई प्रमाण नहीं मिलते।

औषधियाँ—यज्ञ की अग्नि में बहुधा पशुओं के विभिन्न अंगों की बलि देते देते ये लोग शरीर-विज्ञान के प्रारम्भिक ज्ञान से परिचित हो चले थे, परन्तु औषधि अब भी बहुत साधारण किस्म की थी तथा लोगों को अधिकतर जादू-टोनों की रोग-निवारक शक्ति पर विश्वास था।

ज्योतिष शास्त्र—ज्योतिष के ज्ञान में काफी उन्नति हुई थी। तिथियों अथवा चन्द्रमा की दशाओं का लोगों को निश्चित ज्ञान था तथा सौर-मार्ग के २७ भाग थे जिनमें से प्रत्येक नक्षत्र कहलाता था।

धर्म—पूर्व वैदिक काल तथा उत्तर वैदिक काल के धर्म में हम बड़ा भेद पाते हैं। पूजा में यज्ञों का महत्त्व बहुत बढ़ गया तथा देवताओं का स्थान निम्न हो गया और ऐसा विश्वास किया जाने लगा कि यदि यज्ञ को विधिपूर्वक किया जाय तो देवताओं को प्रसन्न होना ही पड़ेगा। अब यज्ञ में उच्चारण की जानेवाली ऋचाओं को जादू का मन्त्र समझा जाने लगा और पहले की भाँति वे प्राकृतिक शक्तियों के द्वारा प्रभावित कवित्वपूर्ण कुतूहल की

मनोवेगमय अभिव्यंजना न रहे। कर्मकाण्ड की सूक्ष्मतम बारिकियों का विस्तार *होने लगा जिनको पूर्ण रूप से समझाने में अनेक वर्ष लग जाते थे। ऐसे भी यज्ञों का उल्लेख आता है जो वर्षों तक चलते थे तथा जिनमें १७ पुरोहितों* की आवश्यकता पड़ती थी और जिनमें से प्रत्येक की यज्ञ की विशिष्ट परिस्थिति में आवश्यकता पड़ती थी। प्रत्येक प्रकार की अभिलाषा-पूर्त्ति के लिए अनेक प्रकार की यज्ञ-विधियों का प्रादुर्भाव हुआ। देवताओं की संख्या प्रायः वही रही पर एक नवीन सृष्टि-रचयिता प्रजापति की और कल्पना की गई जिनके विषय में ऐसा कहा गया कि उन्होंने स्वयं भी सृष्टि-रचना के लिए अनेक यज्ञ किये थे।

दर्शन—परन्तु उपनिषदों से जो सम्भवतः दस या बारह हैं तथा वेदों के ज्ञान-कांड से एक नवीन वातावरण झलकता है। जिज्ञासुओं ने जीवन मृत्यु तथा सृष्टि के रहस्यों के जानने का प्रयास किया और इस निर्णय पर पहुँचे कि विश्व के परे एक अपरिवर्तनशील ब्रह्म है जो समस्त विश्व का रचयिता तथा नियन्ता है। हमारी आत्माएँ उस असीम शक्ति की अणुमात्र हैं जो जीवन के पश्चात् उसी में लय हो जाती हैं, इसी के साथ-साथ पुनर्जन्म-वाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन मिलता है जिसके अनुसार कुछ आत्माएँ बार-बार पृथ्वी पर जन्म लेती हैं तथा पूर्व-जन्म में किये हुए कर्मों के फलों का भोग करती हैं; परन्तु एक बार दुस्साध्य ब्रह्म तथा आत्म-साक्षात्कार करने के पश्चात् वे आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाती हैं।

उपनिषदों में दिव्य ज्ञान का भण्डार है तथा वे रूढ़िवाद से मुक्त हैं और उनमें विश्व-रहस्य के ज्ञान के लिए मनुष्य का प्रथम प्रयास निहित है। सत्य को मस्तिष्क तक पहुँचाने के लिए अनेक उपमाओं तथा रूपकों का प्रयोग किया गया है तथा कुछ अंश तो बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं।

उपनिषदों के सिद्धान्तों पर प्रायः विदेह अथवा जनक के राजदरबार में वाद-विवाद हुआ करते थे तथा विदेह स्वयं इन वाद-विवादों की व्यवस्था करते और उनमें भाग लेते थे। ऐसी धारणा है कि ये सब सिद्धान्त क्षत्रियों द्वारा प्रतिपादित हैं, ब्राह्मण तो केवल कर्मकाण्ड में लगे रह गये। परन्तु इस धारणा का कोई आधार नहीं, वरन् इसके विपरीत याज्ञवल्क्य जैसे ब्राह्मण विद्वान्

उपनिषद्ज्ञान में अग्रगण्य थे। इसके अतिरिक्त गार्गी तथा मैत्रेयी इत्यादि कुछ स्त्रियों का भी उल्लेख आता है जो कि उपनिषद् का ज्ञान रखती थीं तथा पुरुषों के साथ वाद-विवाद में भाग लेती थीं।

समाज—उत्तर वैदिक काल में सामाजिक अवस्था का संक्षेप में यों वर्णन किया जा सकता है कि युद्ध तथा समाज की बढ़ती हुई आवश्यकताओं के कारण परम्परागत वर्गों का निर्माण जाति की रूढ़ियों के रूप में बदल गया। परन्तु अभी तक यह जाति रूढ़ि आगे आनेवाली रूढियों की तरह नहीं हुई थी, क्योंकि हमें एक ब्राह्मण ऋषि का क्षत्रिय कन्या के साथ विवाह का कथानक मिलता है। विद्योपार्जन केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित न था, जनक तथा अजातशत्रु जैसे अनेक क्षत्रिय राजे विद्याभ्यास करने लगे थे और वाद-विवादों में भाग लेते थे। समाज में शूद्रों की निम्न स्थिति थी तथा उनको वेद के पाठ और यज्ञ में भाग लेने का अधिकार न था। स्त्री की स्थिति भी समाज में नीची हो गई थी। वह सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी न हो सकती थी तथा उसकी अर्जित सम्पत्ति या तो पति की होती थी या पिता की। राजवंशों में बहुविवाह की प्रथा थी, लड़की का जन्म एक अभिशाप तथा पुत्र का जन्म वरदान समझा जाता था। शिक्षा की कसौटी पर वैदिक समाज बौद्धिक उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँच चुका था। विद्यार्थी-जीवन के नियम निश्चित थे। पहला संस्कार उपनयन होता था जिसके पश्चात् ब्रह्मचारी एक नवीन जीवन में प्रवेश करता है, उसको आत्मसंयम से रहना पड़ता था तथा जीवन में विनयशीलता लाने के लिए भिक्षा-वृत्ति करनी पड़ती थी। उसको सदा अपने सामने छः उद्देश्य रखने पड़ते थे (१) ज्ञान, (२) श्रद्धा, (३) प्रजा, (४) धन, (५) आयु, (६) अमृत्व। शिष्य को विद्या का अभ्यास करते रहने के लिए आदेश दिया जाता था तथा शिक्षक हमेशा 'ज्ञान, विद्याभ्यास तथा वेदपाठ' पर जोर देता था। लोगों का धार्मिक दृष्टिकोण बदल गया था। तप तथा ब्रह्मचर्य पर विशेष जोर दिया जाता था और यज्ञ की विधि विस्तारपूर्ण हो गई थी। ऋग्वेद काल की अपेक्षा एक यज्ञ में अधिक पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती थी तथा समाज में ब्राह्मण का स्थान सर्वोच्च निश्चित हो चुका था। वे भूसुर कहलाते थे। यज्ञ की सफलता विधि के अनुसार त्रुटिहीन अनु-

ष्ठान पर निर्भर थी। यद्यपि कर्मकाण्ड पर विशेष ध्यान दिया जाता था फिर भी कुछ ऐसे ब्राह्मण तथा क्षत्रिय थे जिन्होंने ज्ञान के आनन्द को प्राप्त करने का प्रयास किया। उनके विचार छन्दोग्य जैसे उपनिषद् में पाये जाते हैं। उनका सिद्धान्त था कि वास्तविक सत्य केवल एक ब्रह्म है तथा 'तत्त्वमसि' उनके दर्शन का सर्वस्व था।

ऋग्वेद काल की अपेक्षा आर्थिक उन्नति भी विशेष हुई थी। बहुत-सी भूमि में अब खेती हो चली थी तथा अनेक प्रकार के अनाज उत्पन्न किये जाते थे। हल का आकार बढ़ गया था तथा एक हल जोतने के लिए चौबीस बैलों का उल्लेख आता है। सम्पत्ति बढ़ गई थी और नवीन व्यवसाय चल पड़े थे। धीवरों, नापितों, धातुकारों, रथकारों, व्यापारियों तथा महाजनों का उल्लेख आता है और अनेक स्थानों पर श्रेष्ठी शब्द का प्रयोग हुआ है। औद्योगिक धंधों में स्त्रियाँ पुरुषों की सहायता करती थीं। चाँदी का प्रयोग बढ़ गया था तथा उसके आभूषण बनने लगे थे। लोगों के भोजन में बहुत कम परिवर्तन हुआ था। हाँ, एक नवीन धारणा हो चली थी तथा कुछ ग्रन्थों ने मांस-भोजन और मदिरा-पान को पाप ठहराना प्रारम्भ कर दिया था।

चतुर्थ अध्याय

प्राचीन वंश

पुराण—हिन्दुओं के ग्रंथों में से पुराण भी हैं जिनमें कि धर्म, जनश्रुति, सृष्ठि, युग तथा देवताओं के विषय में कल्पनाएँ, पवित्र स्थानों का वर्णन, संस्कारों और कर्मकाण्ड के उल्लेख दिये हुए हैं।* इनमें से अधिकांश साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के हैं जिनमें किसी विशिष्ट देवता का विशेष उल्लेख किया गया है। पुराणों के भिन्न-भिन्न अंग भिन्न-भिन्न समयों में बनाये गये। जिनमें से कुछ तो मध्यकालीन युग के बने हुए हैं, परन्तु उनके कुछ अंश बहुत ही प्राचीन हैं या कम से कम बहुत ही प्राचीन रूढ़ियों पर अवलम्बित हैं उनमें से कुछ में तो सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अपेक्षाकृत अर्वाचीन काल तक की वंशावली दी हुई है। परन्तु जिन रूढ़ियों पर वे अवलम्बित हैं उनमें विरोधाभास है तथा कभी कभी एक पुराण में दूसरे पुराण के प्रतिकूल उल्लेख पाये जाते हैं। अतः पहले के विद्वान् इन विरोधाभासों के कारण पुराणों में दी हुई वंशावलियों में अविश्वास करने लगे थे और अपना इतिहास ईसा से ६०० वर्ष पूर्व से प्रारंभ करते थे, क्योंकि उस समय के पश्चात् की ऐतिहासिक घटनाओं से प्रमाण मिलते हैं।

परन्तु यह धारणा तर्कपूर्ण नहीं है। केवल पाठ की अशुद्धता के कारण हम उन्हें बिलकुल ही दृष्टिपथ से हटा दें, यह ठीक नहीं। हमको पुराण तथा रामायण एवं महाभारत आदि महाकाव्यों में दिये हुए राजवंशों का उल्लेख ध्यान से पढ़ना चाहिए और उसमें से असत्य के अंशों को हटाकर ऐतिहासिक सत्य खोज निकालना चाहिए। परन्तु यह कार्य कष्टसाध्य है तथा इसके प्रयास

*पुराण अठारह हैं जिनके नाम निम्न हैं:—
(१) अग्नि, (२) कूर्म, (३) शिव, (४) स्कन्द, (५) वराह, (६) गरुड़, (७) नारद, (८) पद्म, (९) वामन, (१०) विष्णु, (११) वायु, (१२) आदि, (ब्रह्म) (१३) मत्स्य, (१४) भागवत, (१५) ब्रह्मवैवर्त, (१६) लिंग, (१७) मारकण्डेय, (१८) भविष्य।

में बहुत ही परिश्रम उठाना पड़ेगा। पुराणों इत्यादि में जिन वंशों का वर्णन है उनका उल्लेख किया जाता है, यद्यपि संदिग्ध उल्लेखों का निराकरण कर दिया गया है।

असत्य नामकरण—जिन राजाओं का उल्लेख पुराणों में मिलता है उन्हें हम प्राय: पौराणिक राजाओं के नाम से पुकारते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि ये राजा पुराणों के निर्माण-काल में थे अथवा भारत में 'पौराणिक युग' जैसा कोई काल रहा है। वास्तव में इन राजाओं में से पूर्व समय-वाले कुछ राजा वैदिक काल में रहे होंगे तथा कुछ बहुत ही बाद तक चलते रहे। अत: 'पौराणिक राजा' अथवा 'पौराणिक वंश' इत्यादि शब्दों का कोई कालनिर्देशात्मक महत्त्व इतिहास में नहीं है।

थोड़े से अवलोकन के पश्चात् ही इस सत्य का पता चल जायगा कि पौराणिक उल्लेख वैदिक वर्णनों में हर बात में नहीं मिलते। अनु, पुरु, यदु, द्रुह्य तथा तुर्वसु जो कि वेद में जातियों के नाम हैं यहाँ पर व्यक्तिगत राजाओं के नाम हो गये हैं। इस बात का निर्णय करना कठिन है कि वेदों में दी हुई जातियों का नाम व्यक्तिगत राजाओं के नाम पर पड़ा अथवा व्यक्तिगत राजाओं का नाम जाति के नाम के आधार पर हुआ।

मनु—पौराणिक सूची दन्तकथाओं से मिली हुई है तथा सृष्टिकर्ता ब्रह्मा से विश्व का इतिहास प्रारम्भ करती है। ब्रह्मा की चार पीढ़ियों बाद मनु का उल्लेख आता है जो कि मानव-जाति के पिता माने जाते हैं और उनके बाद से राजवंशों का उल्लेख प्रारम्भ हो जाता है। मनु विवस्वत् अथवा सूर्य के पुत्र माने जाते हैं तथा उनसे निकली हुई वंश-परम्परा सूर्य-वंश के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके एक लड़की इला थी जो कि चन्द्रमा के पुत्र बुध से ब्याही गई और इस समागम से निकली हुई वंश-परम्परा चन्द्रवंश नाम से विख्यात हुई।

इक्ष्वाकु-वंश—मनु के पुत्र इक्ष्वाकु थे जो सूर्य-वंश के प्रथम राजा हुए। यह राजवंश कोशल में राज्य करता था जिसकी दो राजधानियाँ थीं—अयोध्या तथा श्रावस्ती (आधुनिक उत्तर-प्रदेश के गोंडा जिले का सहेत-महेत)। इनके दो पुत्र हुए—विकुक्षि जिन्होंने कोशल में अपना राज्य बनाये रक्खा तथा निमि जो सुदूरपूर्व में उत्तरी बिहार में विदेह गये तथा मिथिला जिनकी राज-

धानी हुई। विकुक्षि के वंश में रामायण-प्रसिद्धिवाले दशरथ हुए। उनके पुत्र राम हुए जो बाद में भगवान् विष्णु के अवतार माने गये तथा जिनका विवाह विदेहराज शीरध्वज जनक की पुत्री सीता के साथ हुआ।

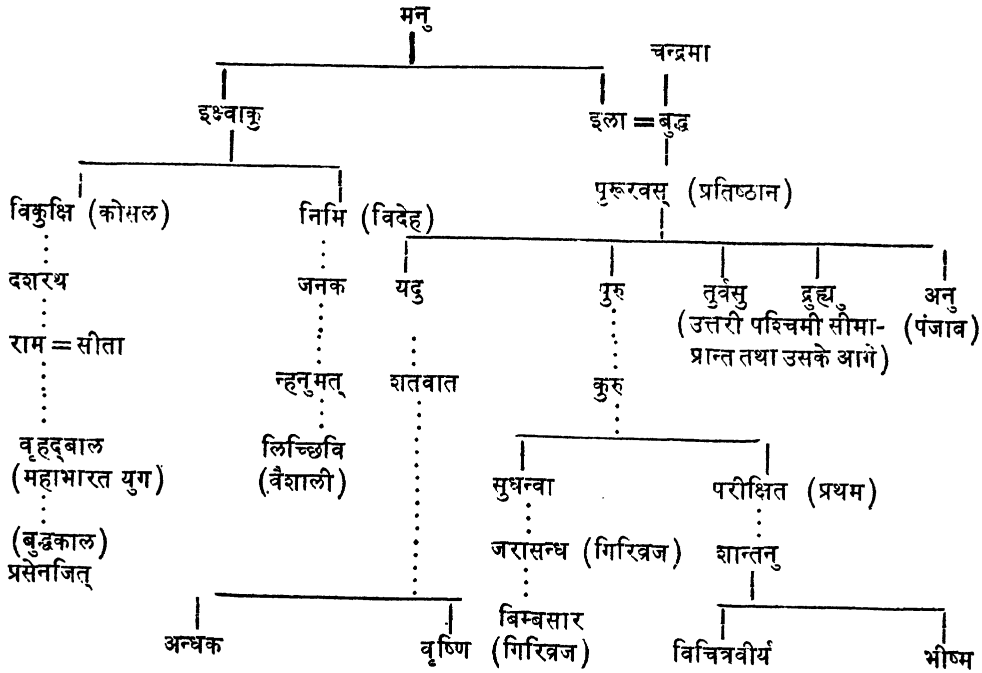
प्रसेनजित् इसी कोशल वंश का था जो महात्मा बुद्ध के समय श्रावस्ती में राज्य कर रहा था। उस समय विदेह में लिच्छवि वंश का राज्य था जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे।

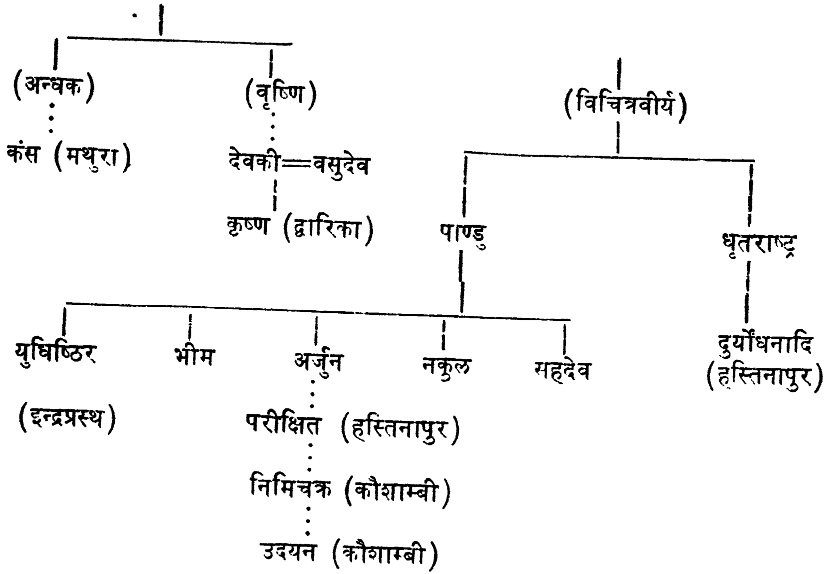
पौरव-वंश—बुध तथा इला के पुत्र पुरूरवस् हुए जो कि चन्द्रवंश के प्रथम पूर्वज माने जाते हैं। आधुनिक इलाहाबाद के पास गंगा-यमुना के संगम पर स्थित प्रतिष्ठान को उन्होंने राजधानी बनाया। उनके वंश में पाँच युवराज हुए जिनके नाम से पाठकगण पहले से ही ऋग्वेद काल की जातियों के रूप में परिचित हैं--अनु, द्रुह्यु, तुर्वसु (वेद में तुर्वस) यदु तथा पुरु। अनु तथा द्रुह्यु के वंशजों ने पंजाब तथा उत्तर-पश्चिम में अपना राज्य स्थापित किया तथा भारत के बाहर तक फैल गये, अतः भारत के इतिहास से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है तथा तुर्वस का वंश समाप्त हो गया और उसका नाम इतिहास से मिट गया। पुरु तथा यदु के वंशजों का भारत के इतिहास में प्रमुख स्थान रहा।

कौरव-वंश—पुरु के वंश में कुरु नाम के एक राजा हुए। कुरु भी वेदों में एक जाति का नाम है, जिनके वंशजों ने कुरुक्षेत्र की भूमि पर अधिकार जमाया।

महाभारत का युद्ध—उनकी राजधानी हस्तिनापुर (आधुनिक मेरठ के पास) थी। इस वंश में शान्तनु नाम के एक राजा हुए जिनके पुत्र भीष्म तथा विचित्र-वीर्य थे। भीष्म ने राज्य-सिंहासन का त्याग किया तथा जन्म भर ब्रह्मचारी रहे, विचित्रवीर्य राजसिंहासन पर बैठे। इनके दो पुत्र हुए—धृतराष्ट्र तथा पाण्डु। धृतराष्ट्र के दुर्योधनादि सौ पुत्र हुए तथा पाण्डु के युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव पाँच पुत्र हुए। कौरवों तथा पाण्डवों के बालिश विवाद कालान्तर में वैमनस्य में बदल गये तथा उनमें उत्तराधिकार के लिए आगे चलकर युद्ध हुआ। पहले तो समझौता हो गया जिसके फलस्वरूप धृतराष्ट्र के पुत्र हस्तिनापुर में राज्य करते रहे तथा पाण्डु के पुत्र इन्द्रप्रस्थ में राज्य करने चले गये। परन्तु आपस का वैमनस्य शान्त न हुआ और आगे चलकर घातक युद्ध के रूप में प्रकट हुआ जिसमें सारे आपसी झगड़े तलवार की धार से तय किये गये। अम्बाला

(प्राचीन राजवंशों की वंश-तालिका)





नोट—(१) खड़ी बिन्दु की रेखा से तात्पर्य है कि दो राजाओं के बीच में अनेक पीढ़ियों का अन्तर है।
(२) पड़ी रेखा से यह तात्पर्य है कि उस वंश की समाप्ति हो गई तथा एक नवीन वंश का प्रारंभ हुआ।

के पास कुरुक्षेत्र के मैदान में १८ दिन तक महाभारत का युद्ध हुआ जिसमें युद्ध में भाग लेनेवाले उत्तरी तथा मध्य-भारत के राजा मारे गये। दुर्योधन का पक्ष हार गया तथा नष्ट हो गया। महाभारत में इस युद्ध का सविस्तार वर्णन है। ऐसा ज्ञात होता है कि इस कथानक में अनेक दन्तकथाएँ हैं। कुछ का तो ऐसा मत है कि पाण्डवों तथा कौरवों का कोई संबंध न था। परन्तु महाभारत के युद्ध के विषय में कोई भी संदेह नहीं। विभिन्न मतों के अनुसार इसका समय ईसा ३००० वर्ष पूर्व से लेकर ९०० वर्ष पूर्व तक है, परन्तु ईसा से १५०० वर्ष पूर्व से लेकर १,२०० वर्ष पूर्व तक का समय विशेष असंदिग्ध मालूम होता है।

युद्ध-विजय के पश्चात् अपने तीसरे भाई अर्जुन के पौत्र परीक्षित को युधिष्ठिर ने हस्तिनापुर के सिंहासन पर बिठलाया जो महाभारत-विजय के बाद उन्होंने प्राप्त किया था और तत्पश्चात् अपने भाइयों तथा स्त्री-सहित संसार से वैराग्य ले लिया। परीक्षित की चार पीढ़ियों के बाद गंगा हस्तिनापुर को बहा ले गई, अतः राजधानी को वहाँ से हटाकर कौशाम्बी (कोसम, इलाहाबाद से तीस मील) लाना पड़ा। बुद्ध के समय यहाँ का राजा उदयन था जिसका अनेक कथानकों में उल्लेख आता है।

यदुवंश—यदु के वंशज यादव कहलाये, जो मथुरा से लेकर दूर गुजरात तक फैल गये तथा सातवात, भोज, हैहय, चेदि, विदर्भ, वृष्णि आदि अनेक शाखाओं में बँट गये। धार्मिक हिन्दुओं के लिए इस वंश का महत्त्व इसलिए विशेष है कि इसमें ही कृष्ण उत्पन्न हुए जो भगवान् विष्णु के अवतार तथा कभी-कभी स्वयं विष्णु माने गये।

कृष्ण—श्रीकृष्ण मथुरा के राजा कंस की बहन के पुत्र तथा उनकी राजधानी गुजरात से द्वारिका (जो द्वारावती तथा कुशस्थली आदि अन्य नामों से प्रसिद्ध है) थी। महाभारत के युद्ध में कृष्ण का मस्तिष्क पाण्डव दल युधिष्ठिर के साथ था तथा उन्होंने अपनी कुशल राजनीति से युद्ध जीता। वे युद्ध के पश्चात् तुरन्त मर गये। पुराणों के अनुसार विश्व के चार युगों में अन्तिम कलियुग उनकी मृत्यु के पश्चात् प्रारम्भ हुआ।

अन्य राजवंश—पुराणों में कन्यकुब्ज (कन्नौज) काशी (बनारस) तथा उत्तरी एवं दक्षिणी पांचाल (गंगा-यमुना का दुआब) आदि वंशों का भी उल्लेख

है। इनमें से एक मगध (दक्षिणी बिहार) भी है जिसमें महाभारत के समय में जरासंध राज्य करता था तथा जिसकी राजधानी गिरिव्रज, राजगृह (बिहार में आधुनिक राजगिर) थी। उसके बाद उसका वंश चलता रहा, परन्तु महात्मा बुद्ध के समय किसी दूसरे राजवंश ने उस पर अधिकार कर लिया जिससे बाद में बिम्बिसार मगध के सिंहासन पर बैठा।

महात्मा बुद्ध के समय तक जहाँ से प्राय: भारतवर्ष का इतिहास प्रारम्भ किया जाता है भारत के राजनैतिक इतिहास का संक्षिप्त वर्णन ऊपर दिया जा चुका है। हम यह देखते हैं कि ईसा के पूर्व छठी शताब्दी के अन्तिम भाग में, जिस समय महात्मा बुद्ध अपने धर्म का उपदेश कर रहे थे, उत्तरी भारत में तीन शक्तिशाली राजा राज्य कर रहे थे—कोशल के प्रसेनजित्, वत्स के उदयन तथा मगध के बिम्बिसार। अतः हमारा अगला अध्याय इस समय के राजनैतिक इतिहास से प्रारम्भ होगा।

पञ्चम अध्याय

प्राचीन धार्मिक तथा दार्शनिक प्रणालियाँ

पूर्वाभास---उपनिषदों की चर्चा करते समय इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि तदन्तर भारतीय समाज में एक ऐसा भी वर्ग था जो केवल यज्ञों तथा कर्मकांड को जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य न मानता था। कुछ उपनिषद् तो इस बात की स्पष्ट घोषणा करते हैं कि यज्ञमात्र से मनुष्य का पूर्ण लाभ नहीं हो सकता, केवल ज्ञान ही से वास्तविक आनन्द मिलता है। अतः इसी के साथ साथ हम वैराग्य तथा मुनिव्रत की प्रथा का भी प्रकर्ष पाते हैं जिसके अनुसार इस मार्ग पर चलनेवाले संसार के सभी भोगों को त्यागकर केवल भिक्षावृत्ति से भिक्षु का कठिन जीवन यापन करते थे और इस जीवन में ही मुक्तिमार्ग के ढूंढ़ने का प्रयास करते थे। यद्यपि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, फिर भी संभवतः यह भिक्षु वर्ग आर्यावर्त के मध्य की अपेक्षा पूर्वी भाग में विशेष संख्या में था। अतः जैनधर्म अथवा बौद्धधर्म भारतीय धर्माकाश में कोई नवीन ग्रह के रूप में नहीं प्रकट हुए, वरन् उपर्युक्त भिन्न भिक्षुवर्गों में से ही दो वर्ग थे। यद्यपि उनका प्रभाव दूसरों की अपेक्षा विशेष महत्त्वपूर्ण तथा स्थायी हुआ था।

अ---जैन-धर्म

तीर्थंकर---जैनों का विश्वास है कि उनका धर्म २४ तीर्थंकरों अथवा महात्माओं के उपदेश का परिणाम है जो सभी क्षत्रिय थे तथा क्रम से एक के पश्चात् एक हुए। प्रथम बाईस तो इतनी किंवदन्तियों से भरे पड़े हैं कि उनके विषय में कुछ भी कहना सम्भव नहीं।* तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ पहले

---

*उनके नाम ये हैं:---

ऋषभदेव, अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभ्विनन्दन, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्वनाथ, सुविधिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयनिशानाथ, वसुपूज, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुण्ठुनाथ, अवानाथ, मल्लिनाथ, सुव्रत, नामिनाथ, नेमिनाथ, चन्द्रप्रभु।

ऐतिहासिक व्यक्ति मिलते हैं। वे बनारस के युवराज थे तथा सम्भवतः ईसा से ८०० वर्ष पूर्व अपने धर्म का उपदेश करते रहे हों। उन्होंने अपने शिष्यों को निम्न बातों को करने से रोका—जीवहिंसा, सम्पत्तिग्रहण, स्तेय तथा असत्य। वे अपने पश्चात् एक सुगठित संगठन छोड़ गये। बिहार के हजारीबाग जिले में पार्श्वनाथ में उनका एक पवित्र मन्दिर बना हुआ है।

महावीर—अगले तथा अन्तिम तीर्थंकर वैशाली (बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में वसाढ़) के एक धनी सामन्त सिद्धार्थ के पुत्र थे। उनका यशोदा देवी से विवाह हुआ तथा एक लड़की हुई। तीस वर्ष की आयु में गृह-त्याग करके वे कुछ दिनों गोशाल नामक भिक्षु के साथ रहे। पूर्वी भारत में भ्रमण करते हुए बारह वर्ष के कठिन जीवन के पश्चात् उन्होंने इस बात की घोषणा की कि उन्होंने मुक्तिमार्ग का ज्ञान प्राप्त कर लिया है तथा उन्होंने अपना नाम जिन (विजेता) तथा महावीर रक्खा। तीस वर्षों तक अपने धर्म का उपदेश कोशल, मगध तथा सुदूर पूर्व में करते रहे और पावा (पटना जिला) में मृत्यु को प्राप्त हुए। जैन लोग इस घटना का समय ईसा से ५२७ वर्ष पूर्व बतलाते हैं, परन्तु इस रूढ़िगत विश्वास पर विशेष विश्वास नहीं किया जा सकता। सम्भवतः यह घटना ईसा से ४७० वर्ष पूर्व हुई थी।

उनके उपदेश—इस बात का पता नहीं चलता कि महावीर पार्श्वनाथ के शिष्यों के अधिनायक किस प्रकार हो गये। परन्तु उन्होंने शीघ्र ही अपने को इस वर्ग में मिला लिया तथा पार्श्वनाथ के चार उपदेशों में सच्चरित्रता के पाँचवें उपदेश को मिला दिया। उन्होंने अपने शिष्यों को दिगम्बर रहने का आदेश दिया तथा पशुजीवन की पवित्रता पर विशेष महत्त्व दिया।

भारतवर्ष के अन्य दर्शनों की भाँति जैन-मत भी पुनर्जन्मवाद तथा कर्मवाद में विश्वास रखता है। सहस्रों पूर्व-जन्मों की पुंजीभूत कामनाओं तथा विषयों के बन्धन में मानव-आत्मा बँधी हुई है। अतः अनेक भावी जीवन के अनवरत प्रयत्नों द्वारा ही आत्मा के ये बन्धन काटे जा सकते हैं तथा उसे निष्काम बनाया जा सकता है। तब वह परिस्थिति आती है जब आत्मा को सत्य ज्ञान, सदास्था तथा सद्व्यवहार रूप तीन रत्न मिलते हैं। इसके पश्चात् आत्ममोक्ष निश्चित हो जाता है तथा दैहिक मृत्यु के पश्चात् स्वतंत्र आत्मा

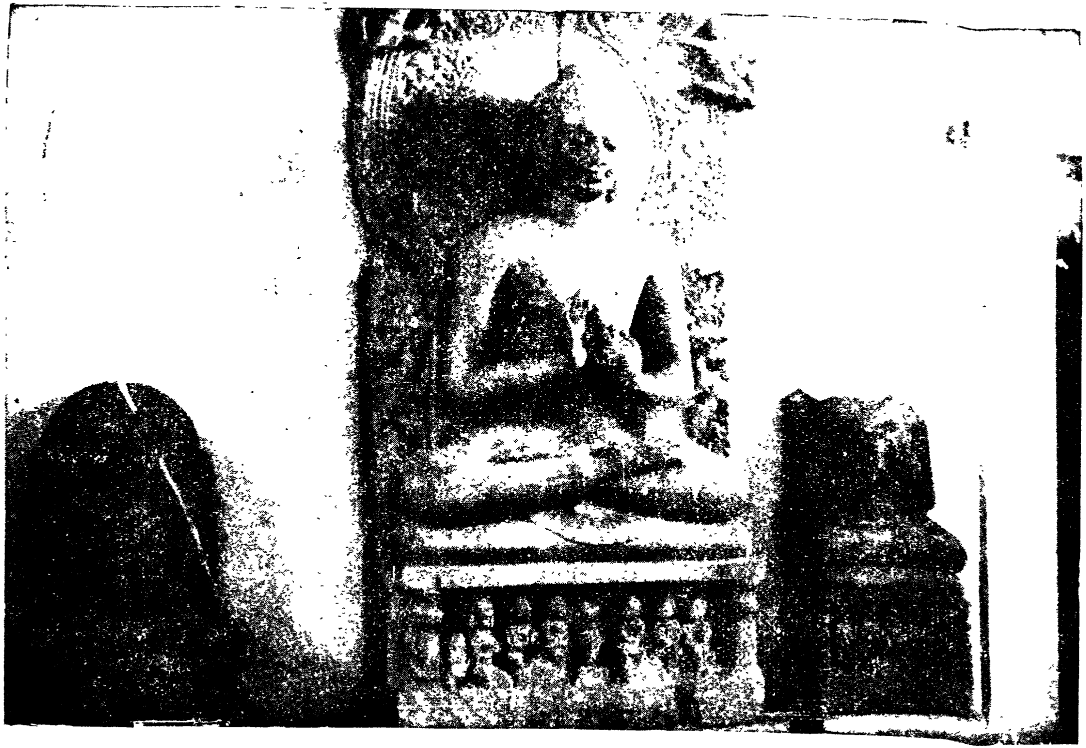
सिद्धों के प्रदेश में जाकर अनन्त निष्क्रियता की स्थिति में विश्राम कर अनन्त आनन्द का उपभोग करती है। तब कर्मों का संचय तथा पुनर्जन्म नहीं होता केवल वह अनन्त आनन्द-लाभ उठाती है।

महावीर ने स्वयं कठिन आत्म-यंत्रणा का साधुजीवन व्यतीत किया था अतः वह शिष्यों को भी उसी प्रकार का जीवन व्यतीत करने को कहते थे। उपवास-मृत्यु उत्तम मानी जाती थी तथा कठिन से कठिन तप पर्याप्त नहीं माना जाता था।

जैनधर्म का इतिहास—महावीर के अनुयायी प्रथम तो निर्ग्रन्थ कहलाये, परन्तु बाद में अपने स्वामी 'जिन' के नाम पर उनका नाम जैन पड़ा। महावीर ने अपने प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति को अपने अनुयायियों का संचालक बनाया। इस प्रकार यह संचालक पद एक के पश्चात् दूसरे को मिलता गया और ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी के मध्य में भद्रबाहु जैनियों के संचालक हुए। ऐसी जनश्रुति है कि उनके संचालन-काल में मगध में बहुत बड़ा अकाल पड़ा, अतः भद्रबाहु तथा उनके अनुयायियों को विवश होकर मैसूर जाना पड़ा। वहाँ कुछ समय तक रहने के पश्चात् वे मगध लौट आये और वहाँ आकर उन्होंने देखा कि वहाँ के जैनमतानुयायियों ने महावीर के उपदेश की अवहेलना करके वस्त्र पहनना प्रारम्भ कर दिया है। इस प्रकार मत-वैभिन्य के कारण इस मत में दो सम्प्रदाय हो गये—प्रथम दिगम्बर जो निर्वस्त्र रहना पसन्द करते थे तथा दूसरे श्वेताम्बर जो सफेद कपड़े पहनना पसन्द करते थे।

इसी समय ईसा से ३०० वर्ष पूर्व भद्रबाहु के उत्तराधिकारी स्थूलभद्र ने मगध की राजधानी पाटलिपुत्र में इस मत के सिद्धान्तों को संगृहीत करने के लिए एक सभा बुलवाई। इन उपदेशों का कुछ अंश खो चुका था, अतः जितना अंश शेष था उसको लिपिबद्ध किया गया। दिगम्बरों ने इस सभा का बहिष्कार किया तथा इस बात की घोषणा की कि पाटलिपुत्र सभा द्वारा निश्चित किया हुआ मत अवैधानिक है, क्योंकि धर्म के मौलिक सिद्धान्त पूर्णतया लुप्त हो चुके हैं।

विधान—इस शताब्दी के पश्चात् आनेवाली शताब्दियों में जैन धर्म क्रमशः मगध से हटकर मथुरा, मध्य-भारत, गुजरात तथा दक्षिण में केन्द्रीभूत हो गया। पाँचवीं-छठीं शताब्दी में वल्लभी (आधुनिक वालाह, कुम्भ की खाड़ी के पास) में फिर देवर्धि के सभापतित्व में एक सभा हुई। अनेक हस्त-



सारनाथ में बुद्ध की मूर्ति



गौतम बुद्ध

लिपियाँ एकत्र की गईं तथा एक नवीन विधान-प्रणाली बनाई गई। श्वेताम्बरों के धर्मग्रन्थों के ग्यारह अंग, बारह उपांग, दस प्रकीर्ण, छः छंदशास्त्र, छः मूलसूत्र हुए। ये सब अर्धमागधी में, जो कि प्राकृत का एक रूप है, लिखे गये।

प्रारम्भ से ही महावीर के अनुयायियों के दो वर्ग थे—एक तो वे भिक्षु जिन्होंने भिक्षु-जीवन के लिए संसार से वैराग्य लिया था तथा दूसरे वे सामान्य जन जो गृहस्थ होते हुए भी महावीर के अनुयायी थे और भिक्षुओं को भिक्षा देकर उनके जीवनयापन में सहायता पहुँचाते थे। जैनमतावलम्बी यह सामान्य जनवर्ग अपने धन तथा दानशीलता के कारण एक महत्त्वपूर्ण वर्ग रहा है। पश्चिमी भारत तथा राजपूताना का वणिक् वर्ग इन्हीं की वंश-परम्परा का है।

ब—बौद्ध-धर्म

महात्मा बुद्ध—अपने दिव्य ज्ञान के पहले बुद्ध का नाम सिद्धार्थ गौतम था तथा वे कपिलवस्तु के शाक्यवंशीय राजा कोशल-नरेश के गण-सामन्त शुद्धोदन के पुत्र थे। वे लुम्बिनी (गोरखपुर जिले का आधुनिक लुम्मिनदेई) के उद्यान में उत्पन्न हुए थे। उनकी जन्म तिथि की निश्चितता विवादग्रस्त है, परन्तु पूर्ण विवाद के उपरान्त दो तिथियाँ विशिष्ट रूप से स्वीकार की जाती हैं, प्रथम ईसा से ६२३ वर्ष पूर्व तथा द्वितीय ५६३ वर्ष पूर्व। इनमें से दूसरी विशेष तर्कसंगत मालूम होती है, अतः सामान्य रूप से यही उनकी जन्म-तिथि मानी जाती है।

अनेक रूढ़ि-कथाओं से इस बात का पता चलता है कि बाल्यकाल से ही युवराज का मन राजवैभव से विरक्त था और किस भाँति वृद्ध मनुष्य, रोगी, मृतक तथा साधु के दर्शन से उनकी संसार के प्रति यह वितृष्णा और भी बढ़ गई तथा किस भाँति उन्होंने ३० वर्ष की अवस्था में सत्य की खोज के लिए गृह-त्याग किया। इस कथानक से ज्ञात होता है कि किस भाँति गौतम का मस्तिष्क विश्व की अनन्त पहेलियों में उलझा रहता था और जीवन, मृत्यु, रोग तथा अमरत्व की समस्याएँ उन्हें हमेशा चिन्तित रखती थीं जिन समस्याओं ने उनका नहीं वरन् उनके पहले तथा बाद में आनेवाले मनुष्यों को व्यस्त रक्खा है।

गृह-त्याग के पश्चात् वे अनेक साधु-वर्गों के सम्पर्क में आये तथा सत्य तक

पहुँचाने के लिए अनेक उपायों का प्रयोग किया। उनकी कठिन तपस्या से उनके निकट पाँच प्रशंसक आये। परन्तु उन्होंने इस उग्र तप को व्यर्थ समझ उपवास का त्याग किया तथा सरल जीवन बिताने लगे, जिससे उनके सहवासी अलग हो गये। उरुवेला (गया के समीप) के समीप नैरंजना नदी के किनारे एक पीपल के वृक्ष के नीचे वे ध्यान के लिए बैठे तथा इस बात का दृढ़ निश्चय कर लिया कि वे इन समस्याओं का हल करके ही छोड़ेंगे। जब वे उठे तो उन्हें ज्ञात हुआ कि समस्त दुःखों से मोक्ष का उपाय उन्होंने जान लिया है। तब बुद्ध मृगदाव (बनारस के पास सारनाथ) गये तथा अपना उपदेश उन पाँच भिक्षुओं को सुनाया जिन्होंने उन्हें छोड़ दिया था। तब वे ब्राह्मणों के विद्या केन्द्र काशी गये जहाँ पर ब्राह्मणों ने उनका उचित सम्मान किया। उनकी सौम्य आकृति, उनके जीवन की पवित्रता, उनकी सौम्यता, सत्य की भावना तथा उनके अन्वेषण की महत्त्वशीलता ने आगंतुक श्रोताओं पर विशेष प्रभाव डाला। वह सबके प्रति दयालु थे तथा सभी दीनों और पददलितों मे सहानुभूति रखते थे अतः सहस्रों की संख्या में लोग उनके संघ में सम्मिलित हुए। कोसल-नरेश प्रसेनजित्, मगध-नरेश बिम्बिसार तथा अजातशत्रु इत्यादि ने उनके धार्मिक सिद्धान्तों को स्वीकार किया और उनके अनुयायी हो गये। अपने शेष जीवन भर भगवान् बुद्ध कोसल मगध में भ्रमण करते हुए उपदेश देते रहे और अंत में अस्सी वर्ष की आयु में कुशीनगर (गोरखपुर में आधुनिक कसया) में निर्वाण को प्राप्त हुए। मृत्यु समय उनके सहस्रों शिष्य थे तथा अनेक राज-दरबारों में सम्मान था। उनकी जन्म-तिथि ईसा से पूर्व ५६३ मानते हुए उनकी मृत्यु या परिनिर्वाण ईसा से ४८३ वर्ष पूर्व हुई।

उनके उपदेश—दुःख एवं कष्ट के निवारण के उपाय जानने के लिए बुद्ध ने गृह-त्याग किया था, अतः उन्होंने इनके कारण जानने का प्रयास किया तथा इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि तृष्णा ही इन सबका मूल है जिससे मनुष्य कर्म बंधन में बँधता और आवागमन के चक्र में फँसता है, अतः इस तृष्णा तथा इससे उत्पन्न होनेवाले दुःख के विनाश के लिए उन्होंने सद्विचार, सदिच्छा, सद्वचन, सदाचार, सद्वृति, सदुपाय, सन्मानसिकता तथा सद्भावावेश का अष्टमार्ग बतलाया। इस अष्टमार्ग के अनुसरण से मुक्ति अथवा निर्वाण प्राप्त होगा जो

कि प्रचलित अर्थ में वह स्थिति है जब व्यक्ति की सत्ता का लोप हो जाता है। उन्होंने अपने अनुयायियों को अपने नैतिक जीवन में सदाचार के समावेश का आदेश दिया तथा उन्हें भोग-विलास और उग्र तप के बीच का मध्यम मार्ग अपनाने को कहा। आधुनिक मापदण्डों से बुद्ध भिक्षु का जीवन तपस्या की ओर ही विशेष रूप से अग्रसर था। उन्होंने यज्ञ में बलि का निषेध किया तथा मुक्ति-लाभ में जाति की निम्नता को बन्धन नहीं माना। उन्होंने सदाचार पर विशेष महत्त्व दिया तथा सभी भूतों और प्राणिमात्र की ओर दया दिखलाई तथा माता-पिता एवं अपने से बड़ों की आज्ञा मानने का आदेश दिया। वे चापलूस-पसंद न थे तथा एक बार उन्होंने अपनी चापलूसी करनेवाले एक मनुष्य को डाँटा। वे तर्क तथा वाद-विवाद नापसंद करते थे। सदाचार एवं सत्यमार्ग के अवलम्बन का ही विशेष मूल्य रखते थे। वे पापी से नहीं वरन् पाप से घृणा करते थे। उन्होंने एक बार आम्रपाली नामक वेश्या का निमंत्रण स्वीकार किया। उसका आतिथ्य ग्रहण कर उसे दीक्षा दे अपनी शिष्या बना लिया। उनका हृदय दया भाव से ओत-प्रोत था। मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिए वे सतत प्रयत्नशील रहते थे। समस्त प्राणिमात्र के प्रति अहिंसा उनका प्रसिद्ध सिद्धान्त था, परन्तु इसका जैनधर्म की तरह अतिरंजित महत्त्व न था। बुद्ध ने कुछ विशेष परिस्थितियों में अपने अनुयायियों को आमिष भोजन की स्वतंत्रता दे रक्खी थी।

महावीर की भाँति बुद्ध ने भी बिना किसी समालोचना के पुनर्जन्मवाद तथा कर्मवाद के सिद्धान्तों को मान लिया। परन्तु इसी के साथ-साथ उन्होंने आत्मा तथा परमात्मा पर सैद्धान्तिक विवादों से अपने को अलग रक्खा तथा तत्सम्बन्धी प्रश्न किये जाने पर मौन धारण किये रहे। उनका केवल ध्येय दुःख से जीव की मुक्ति थी। शेष बातें उनकी विचार-सीमा के परे थीं।

संघ-स्थापना—धर्म की सरलता, साधारण भाषा में इसका उपदेश, उपदेशक का आकर्षक व्यक्तित्व तथा उसका राजदरबारों से सम्मान इत्यादि ऐसी घटनाएँ थीं, जिनके कारण लोग इस धर्म की ओर पर्याप्त संख्या में आकृष्ट हुए। जैनियों की भाँति बौद्ध-धर्मावलंबी भी दो वर्ग में बँटे थे :—भिक्षु तथा सामान्य उपासक। प्रथम वर्ग का संगठन संघ था, जिनकी संख्या धर्म के विस्तार के साथ-साथ बढ़ी। संघ के भिक्षुओं की जीवनचर्या के विषय में बुद्ध

ने स्वयं सविस्तर नियम बनाये। पन्द्रह वर्ष की आयु से ऊपरवाले सभी बिना जाति-भेदभाव के संघ के सदस्य हो सकते थे, परन्तु राज-अपराधियों, दासों, अंगहीनों तथा संक्रामक रोगियों के लिए यह सदस्यता खुली न थी। संघ की सदस्यता के नवीन प्रार्थी को अपना एक शिक्षक चुनना पड़ता था। जिसके साथ कुछ वर्ष उसे रहना पड़ता था, जिसके पश्चात् वह स्वयं भिक्षु हो जाता था। संघ के जीवन पर कड़े प्रतिबन्ध थे। वैयक्तिक रुचि अथवा अरुचि के लिए उसमें स्थान न था। सारी सम्पत्ति सबकी सम्मिलित सम्पत्ति थी, वैयक्तिक सम्पत्ति रखने का निषेध था। बुद्ध ने पहले स्त्रियों को संघ में लेने से इनकार किया। परन्तु अपनी धात्री माँ के आग्रह पर उन्होंने उनको भिक्षुणी बनने दिया और इस बात का कठिन प्रतिषेध किया कि वे भिक्षुओं से कोई सम्पर्क न रक्खें।

संघ की सामान्य सभा की प्रणाली एक कुतूहल की वस्तु है। ज्ञप्ति अथवा प्रस्ताव सभा के सामने तीन बार रक्खे जाते थे तथा विवाद-ग्रस्त अंशों पर सार्वजनिक मत लिया जाता था। एक मास में चार बार प्रतिमोक्ष नामक समारोह होता था, जिसमें संघ के नियम प्रत्येक भिक्षु के सामने व्यक्तिगत रूप से पढ़े जाते थे और प्रत्येक भिक्षु को अपने पापों की घोषणा करनी पड़ती थी, जिसके अनुरूप उन्हें दण्ड दिया जाता था। वर्षाकाल के चार मासों में भिक्षुओं को मठों में रहना पड़ता था तथा वर्ष के शेष भाग में वे पास के स्थानों में उपदेश करते घूमते थे।

महात्मा बुद्ध ने स्वयं अनवरत रूप से ४५ वर्ष तक बौद्धधर्म का प्रचार किया तथा अपने जीवन में ही उसे क्या छोटे क्या बड़े सभी को अपनाते देखा। उनके भिक्षुसंघों ने धर्म के सुदूर देशों में फैलने में बड़ी सहायता की। उन्होंने भिक्षुओं को विभिन्न दिशाओं में जाकर पवित्र जीवन के महत्त्व को बतलाने तथा धर्म फैलाने को कहा। चूंकि वे स्वयं राजवंश के थे, अतः राजवंशों, अभिजात कुलों और अन्य वर्गों ने उनके उपदेशों को स्वीकार किया। उनके सिद्धान्तों से जनता विशेष रूप से प्रभावित हुई, क्योंकि प्रथम तो वे सरल थे तथा सर्वसाधारण के लिए थे और एक ऐसी भाषा में थे जो विद्वानों की न होकर सर्वसाधारण की थी। सत्यज्ञान में जाति का भेदभाव न था। उनके

दार्शनिक सिद्धान्त केवल विद्वानों के लिए न थे, धर्म का दरवाजा हर एक के लिए खुला था। चाहे वह छोटा हो या बड़ा हो, विद्वान् हो या मूर्ख, ब्राह्मण हो या शूद्र। धार्मिक कर्मकाण्डों से लोगों को मुक्ति देकर उन्होंने संगठित विप्र-वर्ग के महत्त्व को कम कर दिया और अब तक समाज में मनुष्य की जो गिरी हुई दशा थी उसे उठाया जिससे उन्होंने स्वतंत्रता तथा सुख का अनुभव किया।

सभाएँ—जिस समय महात्मा बुद्ध अपनी मृत्यु-शय्या पर थे, उन्होंने अपने एक प्रमुख शिष्य आनन्द को बुलाकर यह कहा :—'हे आनन्द ऐसा सम्भव है कि तुम लोगों में से कुछ के अन्दर यह भावना जागृत हो कि मेरी मृत्यु के पश्चात् तुम लोगों का कोई उपदेशक न रहेगा, परन्तु यह भावना वाञ्छनीय नहीं। जिन सत्यों तथा संघ के नियमों का मैंने प्रतिपादन किया है, वे ही मेरी मृत्यु के पश्चात् तुम्हारे गुरु होंगे।' अतः उनकी मृत्यु के पश्चात् शीघ्र ही उनके उपदेश को संगृहीत करने के लिए प्रथम बौद्धों की सभा राजगृह में बुलाई गई। सौ वर्ष के पश्चात् वैशाली के भिक्षुओं के व्यवहार के औचित्य पर विचार करने के लिए दूसरी सभा बुलाई गई। तीसरी सभा अशोक की अध्यक्षता में पाटलिपुत्र में बुलाई गई तथा अन्तिम सभा काश्मीर में कनिष्क के शासन-काल में बुलाई गई।

सम्प्रदाय—इस समय तक बौद्ध लोग दो सम्प्रदायों में बँट चुके थे, स्थविर-वाद तथा महासांघिक। परन्तु दूसरी शताब्दी में या उसके कुछ प्रथम बौद्ध-धर्म महायान तथा हीनयान इन दो बड़े सम्प्रदायों में बँट गया। महायानों का कथन था कि निर्वाण की प्राप्ति से मनुष्य पुनः पृथ्वी पर नहीं आता। अतः वह किसी कार्य के योग्य नहीं रहता, यहाँ तक कि मानव-जाति की सेवा भी नहीं कर सकता; परन्तु वे व्यक्ति जिन्होंने निर्वाण नहीं पाया है केवल उसके लिए प्रयास कर रहे हैं, वे दुःखमय विश्व की बड़ी सेवा कर सकते हैं। अतः बोधि-सत्व जो कि अनेक जीवनों में इन परिस्थितियों से होकर बुद्ध-पद पर पहुँचे, इस संसार के तथा मानव के विशेष कल्याण-कारक थे। अतः महायानों ने बुद्ध से भी अधिक महत्त्व बोधिसत्व पर दिया। बोधिसत्व की कल्पना से पहले भी बौद्ध परिचित थे, पर महायानों ने ही प्रथम बार बोधिसत्व के इस महत्त्व का प्रतिपादन किया। अतः इसके साथ ही अनेक देवताओं तथा देवियों की कल्पना की गई,

जिनके अंग-प्रत्यंगों तथा चरित्र का सविस्तार वर्णन किया गया। इस सम्प्रदाय में नागार्जुन अग्रगण्य थे जो दूसरी या तीसरी शताब्दी में हुए। कुछ समय के पश्चात् महायान भी शून्यवाद तथा विज्ञानवाद इत्यादि शाखाओं में बँट गये, जिनके दर्शन तथा जिनकी विचारधारा भिन्न-भिन्न थी।

बौद्ध-धर्म का प्रचार--सम्राट् अशोक की सहायता से (आठवाँ अध्याय देखिए) जो ईसा से तीसरी शताब्दी पूर्व हुए, बौद्ध-धर्म सारे भारत, लंका तथा ब्रह्मा में फैल गया। पहली शताब्दी के प्रथम भाग में तथा उससे पहले की शताब्दी में सम्पूर्ण भारतवर्ष में उत्तर-पश्चिम में मथुरा, मध्य-भारत में तथा पूर्वी एवं पश्चिमी समुद्री किनारों पर बौद्ध-धर्म पूर्ण रूप से फैला हुआ था। परन्तु क्रमशः बिहार तथा बंगाल को छोड़कर इसका हर एक स्थान से लोप हो गया। जहाँ कि पालवंशीय (१०वीं या १२वीं शताब्दी) राजाओं ने इसे राज्य-धर्म बनाकर स्थापित रक्खा। परन्तु मुसलमानों द्वारा पूर्वी-भारत के आक्रान्त होने पर यह धर्म अपनी जन्मभूमि से पूर्णतः लुप्त हो गया। इसके नष्ट होने का वर्णन मुसलमानी ऐतिहासिक पुस्तक 'तबियते-नासिरी' में दिया हुआ है। परन्तु भारत के बाहर लंका, ब्रह्मा तथा श्याम में अब भी इसकी हीनयान शाखा पाई जाती है और तिब्बत, चीन एवं जापान में महायान शाखा। इन देशों में बौद्ध-धर्म के प्रचार का वर्णन आगे किया जावेगा।

धर्म-ग्रन्थ--बौद्धों के धर्म-ग्रन्थ तीन वर्गों में विभाजित हैं जो त्रिपीठिका नाम से पुकारे जाते हैं। विनय-पीठिका में भिक्षुओं की दिनचर्या तथा विहारों के नियम दिये हुए हैं। सूत्र-पीठिका में महात्मा बुद्ध के उपदेश हैं, यह धर्म-ग्रंथ का सबसे बहुमूल्य अंश है तथा तीसरा अंग है अभिधर्म-पीठिका जिसमें बुद्ध के उपदेशों का दार्शनिक विवेचन किया गया है। बौद्ध-धर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय की अपनी निजी त्रिपीठिका थी। लंका, ब्रह्मा तथा श्याम की पाली त्रिपीठिका जो कि सबसे शुद्ध तथा उत्तम मानी जाती है, वह वस्तुतः धर्म-ग्रंथ का एक रूपान्तर मात्र है जिसको कि लंका के स्थविरवाद सम्प्रदाय ने सुरक्षित रक्खा और जहाँ से यह श्याम तथा ब्रह्मा में भी प्रचलित हुई है। इसकी भाषा पाली है जो कि प्राचीन भारत की एक प्रचलित भाषा थी।

जैन-धर्म तथा बौद्ध-धर्म--महावीर तथा बुद्ध अपने जीवन में कभी एक

दूसरे से नहीं मिले तथा उनकी घनिष्ठता के भी कोई प्रमाण नहीं मिलते; परन्तु इन दोनों धर्मों में एक बाह्य साम्य मिलता है जो सम्भवत: एक ही प्रदेश से उद्गम होने के कारण तथा रूढ़ि पर अवलम्बित जीवन-हीन कर्मकाण्डों के प्रति विद्रोह भावना के कारण रहा हो। दोनों ने ही ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा को भंग किया तथा वेदों से किसी भी उद्धरण को लेकर अपनी बात का समर्थन नहीं किया। उनके संघों के संगठन में भी साम्य था तथा उनके भिक्षु-जीवन के नियम तथा धर्म के माननेवालों के भिक्षुओं तथा गृहस्थों की श्रेणी में विभाजन भी परस्पर मिलते थे। परन्तु उनके धर्म-तत्त्वों में साम्य नहीं मिलता। उनके निर्वाण की कल्पना भिन्न थी; जैनों के लिए निर्वाण का तात्पर्य था आत्मा का अनन्त आनन्द की स्थिति में पहुँचना तथा बौद्धों के लिए निर्वाण का अर्थ या वैयक्तिक सत्ता का पूर्ण विनाश। इसके अतिरिक्त निर्वाण-प्राप्ति के उनके उपाय भी भिन्न थे। यद्यपि सदाचार को दोनों ने ही विशेष महत्त्व दिया है फिर भी बौद्धों के प्रति जैनों की श्लाघ्य आत्म-यन्त्रणा विवस्त्रता तथा उपवास-मृत्यु का कोई विशेष महत्त्व न था। जैनियों ने अपने धर्म के प्रचार में सामान्य जनों की ओर ही विशेष ध्यान रक्खा तथा विदेशों में इसे फैलाने की ओर ध्यान नहीं दिया। आगे चलकर उन्होंने हिन्दू-धर्म से भी सामंजस्य स्थापित कर लिया। यही कारण है कि भारतवर्ष की जन-संख्या के एक अंश में वह अब भी पाया जाता है, जब की बौद्ध-धर्म पूर्णत: विलुप्त हो चुका है।

बौद्ध-धर्म तथा जैन-धर्म दोनों ही में कुछ साम्य है जो कि उन्होंने अन्य स्रोतों से ग्रहण कीं। भिक्षु जीवन की प्रथा तथा उसका नियंत्रण करनेवाला नियम उनके निजी आविष्कार न थे, वरन् उन्होंने उनको अपने पूर्व वर्त्तमान भिक्षु-संगठनों से लिया था। कर्मवाद तथा पुनर्जन्मवाद के सिद्धान्त, जिनको उन्होंने बिना तर्क के स्वीकार कर लिया, उनका प्रतिपादन उपनिषदों में पहले ही हो चुका था।

स—अन्य सम्प्रदाय

आजीवक—महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेशों में अनेक बार अपने समय के पाँच उपदेशकों का उल्लेख किया है जिनमें से निग्रंथ, ज्ञातिपुत्र तथा गोशाल मस्करी पुत्र विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें से प्रथम तो महावीर स्वयं थे तथा अन्तिम गोशाल

थे, जिनके साथ महावीर कुछ दिनों तक रहे थे। बौद्धों तथा जैनियों दोनों ने इस शिक्षक की अपने ग्रन्थों में जी भर निन्दा की है। अतः उनके ग्रन्थों से गोशाल के वास्तविक उपदेशों का पता लगाना कठिन है। ऐसा ज्ञात होता है कि वनस्पति-जीवन के सूक्ष्म पर्यवेक्षण के पश्चात् वे इस निर्णय पर पहुँचे कि मानव-जीवन प्राकृतिक नियमों पर अवलम्बित है। अत: केवल कर्म मनुष्य को अवश्यंभावी परिणाम से मुक्त नहीं कर सकता। अत: जीवन का शान्तिमय रूप ही वांछनीय है। उनके शिष्य आजीविकों या आजीविकों के नाम से पुकारे गये तथा कोसल की राजधानी श्रावस्ती उनका केन्द्रस्थान हुई, जहाँ सोलह वर्ष पश्चात् उपदेश करते हुए गोशाल दिवंगत हुए। यह आजीवक-धर्म चौदहवीं शताब्दी तक भारत से बिलकुल मिट गया।

दूसरी धारा--इन प्रतिक्रियावादी सम्प्रदायों के अतिरिक्त हिन्दू-धर्म में कुछ ऐसे ही सम्प्रदाय पल रहे थे जिन्होंने वेदों का विरोध नहीं किया तथा जो आगे चलकर बहुत ही महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय बन गये। इन सम्प्रदायों की विशे-षता किसी एक विशिष्ट देवता की इष्टदेव के रूप में उपासना थी। इस समय वैदिक देवताओं की पुनर्व्यवस्था हुई, जिससे कुछ का महत्त्व घट गया और कुछ का बढ़ गया। इस दूसरे वर्ग में विष्णु तथा रुद्र आते हैं जो वैदिक विष्णु तथा रुद्र से पूर्णतः भिन्न हैं।

शैव सम्प्रदाय--हम इस बात का पहले ही उल्लेख कर आये हैं कि शिव की पूजा आर्यों के पहले से ही होती आई है, उन्हीं की **प्रतिमूर्ति** की पूजा मोहेनजोदड़ो में होती थी। धीरे-धीरे इनका साम्य वैदिक देवता रुद्र के साथ पाया गया तथा इनको हिन्दू-धर्म के देवताओं में उच्च स्थान प्राप्त हुआ। उनके सौम्य और रुद्र दोनों रूपों की कल्पना की गई; एक योगी, मृग-चर्म धारण किये हुए तथा वान्य-पशुओं एवं भूत-पिशाचों से घिरे हुए, श्मशानों में पर्यटन करते हुए जो कैलाश में अपने प्रिय कुटुम्ब के साथ रहते हैं तथा संगीत एवं नृत्य में मस्त रहते हैं।

शैव-धर्म के प्राचीन इतिहास में, 'लकुलिश' बहुत ही महत्त्वपूर्ण नाम मिलता है। कट्टर लोग इसे शिव का अवतार मानते हैं, परन्तु वास्तव में सम्भवतः वे एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। जिन्होंने शैवों के पाशुपत सम्प्रदाय

की स्थापना की। पाशुपत सम्प्रदाय के लोग पीत-वस्त्र धारण करते तथा त्रिशूल लिये हुए श्मशानों में घूमा करते थे। शैवों का एक कट्टर सम्प्रदाय कापालिकों का था जो विचित्र क्रियाओं का अभ्यास किया करते थे।

बहुत प्राचीन काल से ही शिव की लिंग रूप में पूजा होती रही है जो कि भारत में अब भी प्रचलित है।

भागवत या वैष्णव सम्प्रदाय--विष्णु के पुजारी वैष्णवों या भागवतों ने वासुदेव कृष्ण की पूजा चलाई जो कि महाभारत के नायक देव प्रमुख तथा विष्णु के अवतार थे। कृष्ण के व्यक्तित्व के विषय में बचपन से ही अनेक दन्त-कथाएँ कही जाने लगीं। मथुरा तथा वृन्दावन जहाँ पर उनका बाल्यकाल बीता था, वैष्णवों के केन्द्र बन गये। परन्तु शीघ्र ही अपने में सन्निहित मानवीय तत्त्वों के कारण यह सम्प्रदाय समस्त भारतवर्ष में फैल गया। मानव-भावनाओं से ओत-प्रोत अपने इष्टदेव के प्रति भक्तों की भक्ति ने भी इस सम्प्रदाय को जनता के लिए विशेष आकर्षक बना दिया। ऐसा विचार प्रचलित हो गया कि अपने जनों तथा विश्व को संकट से बचाने के लिए विष्णु ने अनेक अवतार लिये। रामायण के नायक राम आगे चलकर विष्णु के अवतार माने जाने लगे।

द—छः दार्शनिक प्रणालियाँ

इन धार्मिक सम्प्रदायों के अतिरिक्त भारतवर्ष में कुछ दार्शनिक प्रणालियों का प्रतिपादन हो रहा था; परन्तु जिनके अनुयायियों ने कभी अपना कोई धार्मिक संगठन नहीं बनाया। भारतीय दर्शन की छः प्रणालियाँ या शास्त्र हैं; सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा या वेदान्त। ये सभी वेद को प्रमाण मानते हैं, परन्तु वास्तव में इनमें से अन्तिम दो ही वेदों से प्रेरणा पाते हैं तथा शेष चारों केवल अपनी मौखिक श्रद्धांजलि वेदों को अर्पित करते हैं। वस्तुतः उनका मूल स्रोत अन्य स्थानों से सम्बन्धित है। विशेष सम्भावना इसी बात की है कि इनमें से योग सिन्ध-देश की सभ्यता का परिणाम था।

सांख्य--कपिल का सांख्य, जिसे कट्टर हिन्दुओं ने पहले अवैदिक मानकर अस्वीकार किया, इन सभी शास्त्रों में सबसे प्राचीन ज्ञात होता है। यद्यपि

उसके कुछ अंश जो अन्य शास्त्रों की विवेचना करते हैं बाद के हैं। यह प्रकृति के अस्तित्व का सिद्धांत लेकर चलता है जो कि सत्व, रज तथा तम इन तीन गुणों की सम अवस्था है।

योग—प्रत्येक व्यक्ति में आत्मा अथवा पुरुष भिन्न-भिन्न हैं। जिसका प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं, मनुष्य इन दोनों की एकता के मिथ्याभास से अपने ऊपर कष्ट एवं दुःख लाता है; प्रकृति तथा पुरुष की इस एकता के आभास का निराकरण ही मोक्ष है। इस स्थिति को प्राप्त करने का साधन योग है, जिसकी पतंजलि ने सविस्तर व्याख्या की है। शारीरिक तथा मानसिक अभ्यासों द्वारा क्रमशः ध्यान की अवस्था तक पहुँचना ही योग है।

न्याय तथा वैशेषिक—गौतम का न्याय तथा कणाद का वैशेषिक प्रधानतः तर्क के आधार पर हैं। उनके अनुसार अदृष्ट तथा अनन्त परमाणुओं द्वारा विश्व की सृष्टि हुई। जिस समय मनुष्य की आत्मा मन के माध्यम द्वारा संसार के सम्पर्क में आती है तथा सुख से रत हो जाती है तभी उसे कष्ट एवं दुःख पहुँचता है। अज्ञान का निराकरण होते ही मनुष्य बन्धनों से मुक्त हो जाता है तथा उसका पुनर्जन्म नहीं होता; यद्यपि दोनों ही दर्शन एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं परन्तु भेद इतना है कि न्याय तर्क को प्रधानता देता है और वैशेषिक भौतिक विज्ञान तथा पारभौतिक विज्ञान को विशेष महत्त्व देता है।

पूर्व मीमांसा—जैमिनि की पूर्व-मीमांसा का मूल विषय वैदिक अर्थों का सैद्धान्तिक प्रतिपादन है। इसका मत है कि ध्वनि अनन्त है; अतः वेद जो कि ध्वनियों का संग्रह है, अनन्त है तथा वह किसी की रचना नहीं है। अर्थात् अपौरुषेय है। इसके पश्चात् इस दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है कि ज्ञान तथा भावना इत्यादि विनाशशील गुणों से आत्मा की निरसंगता से मोक्ष मिलता है।

उत्तर-मीमांसा या वेदान्त—वादरायण की उत्तर मीमांसा या वेदान्त उपनिषद्-ज्ञान पर ही अवलम्बित हैं, जिसका आगे चलकर शंकराचार्य ने विस्तार किया (आठवीं सदी)। उनके अनुसार केवल आत्मा ही सत्य हैं जो अद्वैत एवं अपरिवर्तनशील है तथा सम्पूर्ण जगत् केवल माया है। केवल समाधि तथा आत्म-ज्ञान द्वारा ही मनुष्य इस माया के भाव का अपने से निरा-

करण कर सकता है। आत्मा की सत्य प्रकृति अज्ञान के अवगुण्ठन में आच्छादित है। इस माया को पार करने के पश्चात् मनुष्य की आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती है यही उसकी मुक्ति है।

भगवद्गीता—भगवद्गीता का दार्शनिक सिद्धान्त इन सबसे भिन्न है। जिस समय महाभारत के युद्धस्थल में पाण्डु के तृतीय पुत्र अर्जुन को अपने कर्त्तव्य का भ्रम हुआ और जब उन्होंने युद्ध करने से इनकार किया, उस समय कृष्ण ने जो विष्णु के अवतार माने जाते हैं, उनको गीता का उपदेश किया। गीता का उपदेश है कि परिणाम को भगवान् को अर्पण कर मनुष्य को केवल कर्म करना चाहिए। इस प्रकार मनुष्य कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है तथा पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होता। इसमें भगवान् के प्रति श्रद्धा तथा भक्ति का भी उपदेश किया गया है जो अपने भक्तों को पाप से बचाते हैं। यह धर्म-ग्रन्थ अब भी भारत में बहुत ही लोक-प्रिय है। प्रत्येक धार्मिक हिन्दू श्रेय-लाभ के लिए इसका पाठ करता है।

भारतीय दर्शन के सामान्य गुण—भारतीय दर्शन-पद्धति एवं जैनधर्म तथा बौद्धधर्म सभी कर्मवाद तथा पुनर्जन्मवाद के सिद्धान्त से ओत-प्रोत हैं। उनका मत है कि मनुष्य पृथ्वी पर बार बार उत्पन्न होता है तथा पूर्वजन्म के किये हुए संचित कर्मों का फल भोगता है। संसार दुःखमय है अतः इसका त्याग करना चाहिए। यद्यपि मोक्ष की कल्पना और उसकी प्राप्ति के साधन भिन्न हैं फिर भी सब प्रणालियों का उद्देश्य एक ही है अर्थात् पुनर्जन्म के चक्र से तथा संसार के दुःखों से मोक्ष।

षष्ठ अध्याय

सूत्रों, महाकाव्यों तथा जातकों के कुछ उद्धरण

अ—सूत्र

विशेषता—सूत्र-साहित्य में अनेक विषयों पर शिक्षाएँ संगृहीत हैं। सूत्र गद्य के बहुत ही संक्षिप्त रूप हैं ताकि वे सरलता से कण्ठस्थ किये जा सकें। जिस समय सूत्रों का निर्माण हुआ उस समय कट्टर ब्राह्मण अनेक मतों में बँट चुके थे और उनमें से प्रत्येक कर्मकाण्ड तथा रूढ़ि-परम्परागत नियमों का विस्तार कर रहा था। भावी सन्तानों के पथ-प्रदर्शन के लिए यह आवश्यक था कि इन विस्तृत विवेचनों को एक वैध रूप दिया जाय अतः भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों ने परम्परागत ज्ञान को भिन्न-भिन्न पुस्तकों का रूप दे दिया। इन पुस्तकों की भाषा इतनी जटिल है तथा संक्षिप्तता पर अर्थ की स्पष्टता का इतना बलिदान किया गया है कि वे विना टीका के पूर्ण रूप से नहीं समझी जा सकतीं।

वेदांग—वेदांग साहित्य की छः शाखाएँ हैं जो कि वैदिक साहित्य के समझने में सहायता देने के लिए लिखे गये थे। इस साहित्य का कुछ अंग सूत्रों के रूप में है। छः वेदांग ये हैं:—

(१) शिक्षा (२) छंद (३) व्याकरण (४) निघण्टु (जिसमें यास्क का निरुक्त भी सम्मिलित है) (५) कल्प तथा (६) ज्योतिष। इनमें से प्रत्येक पर अनेक सूत्र-ग्रन्थ थे, परन्तु उनमें से बहुत थोड़े अब प्राप्य हैं। कल्प-सूत्रों के अतिरिक्त जिनका आगे उल्लेख किया जायगा, यहाँ पर व्याकरण-ग्रन्थ का उल्लेख कर देना आवश्यक है।

पाणिनि—जो वेदांग-साहित्य का भाग न होते हुए भी सूत्रों में है यह ग्रन्थ पाणिनि का अष्टाध्यायी है जो ईसा से पूर्व आठवीं शताब्दी और चौथी शताब्दी के बीच में हुए तथा जो उत्तरी-पश्चिमी प्रदेश के निवासी कहे

जाते हैं। जिस वैज्ञानिक प्रणाली तथा विस्तार के साथ उन्होंने अपने विषय पर लिखा है उसके कारण यह ग्रन्थ भारत में बहुत ही लोक-प्रिय हो गया है। जिस समय इसकी रचना हुई थी, उस समय से लेकर मध्य-काल तक इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं। इस ग्रन्थ द्वारा पाणिनि ने संस्कृत को जो रूप दिया वह इस समय भी प्रचलित है।

सूत्रों का निर्माण-काल—सूत्र-साहित्य का निर्माण अनेक शताब्दियों तक होता रहा। अतः उनके निर्माण की निश्चित तिथि का बतलाना कठिन है फिर भी साधारण रूप से ईसा से पूर्व आठवीं शताब्दी से दूसरी शताब्दी तक उनका निर्माण-काल माना जाता है।

कल्प-सूत्र—कल्प-सूत्र तीन श्रेणियों में बँटे हुए हैं:—

(१) श्रौत-सूत्र (जिनमें वैदिक कर्मकाण्ड का उल्लेख है) (२) गृह-सूत्र (जिनमें गृह की पुनीत यज्ञ का अग्नि के विषय में विधियों का उल्लेख है) तथा (३) धर्म-सूत्र (जिनमें परम्परागत रूढ़ियों तथा सदाचार के नियम का उल्लेख है) श्रौत-सूत्रों का विषय हमारे ऐतिहासिक ज्ञान के लिए व्यर्थ है, परन्तु अन्य दोनों के द्वारा उस समय की दशा के जानने में विशेष सहायता मिलती ह।

सूत्र-काल का जीवन—गृह्य-सूत्रों में आदर्श आर्य के कौटुम्बिक जीवन तथा संस्कारों का वर्णन है। जन्म से ही नहीं, वरन् गर्भ में आते ही बालक को अनेक संस्कारों से गुजरना पड़ता है जो सब मनुष्य के जीवन की निश्चित अवस्था पर सामने आते हैं। धर्मसूत्र चूँकि मनुष्य के सामाजिक रूप का चित्रण करते हैं, अतः उनका दृष्टिकोण उदार है। परन्तु दोनों के सम्मिलित ज्ञान से ही हम आर्यों, विशेष रूप से द्विजों, के जीवन का पता लगा सकते हैं। छः वर्ष की अवस्था में बालक आचार्य के यहाँ जाता था जो विधि के अनुसार उसका यज्ञोपवीत संस्कार करके उसे अपनी जाति में प्रविष्ट करता तथा वेद-ज्ञान की दीक्षा देता था। विद्यार्थी को तपस्या का कठिन जीवन व्यतीत करना पड़ता था। गुरु की हर प्रकार से सेवा करनी पड़ती थी तथा भिक्षा माँगनी पड़ती थी। गुरु उसको वेदभ्यास कराता और उसके नैतिक कल्याण की ओर ध्यान रखता था। विद्यार्थी-जीवन, अठारह या चौबीस वर्ष तक या

कभी-कभी इससे भी अधिक रहता था और शिक्षा समाप्त हो जाने के पश्चात् विद्यार्थी गुरु को समुचित दक्षिणा देकर अपने घर लौटता और विवाह करके गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता था। वधू के चुनने में जाति, वंश और आर्थिक स्थिति का ध्यान रक्खा जाता था। कभी-कभी तो वर को वधू के पिता को शुल्क देना पड़ता था। विवाह वैदिक विधि से होता था और वधू अपने पति के कुटुम्ब की सदस्य हो जाती थी।

गृहस्थ को अपने कौटुम्बिक प्रथाओं का पालन करना पड़ता था। उसको नित्य पंचयज्ञ अर्थात् ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृ-यज्ञ, ऋषियज्ञ तथा भूतयज्ञ करने पड़ते थे तथा भोजन करने के प्रथम अतिथि को भोजन कराना पड़ता था। वह इस समय कुछ छात्रों को रख सकता था और अन्य लोगों से दान ले सकता था, परन्तु उसे अपने वैदिक अध्ययन को जारी रखना पड़ता था। कभी-कभी यज्ञ भी करना पड़ता था। गृहस्थ-जीवन को बड़ा महत्त्वपूर्ण माना जाता था; क्योंकि विद्यार्थी तथा साधु अपनी भिक्षा के लिए उसी पर निर्भर रहते थे।

गृहस्थ-जीवन के पश्चात् लोग पत्नी के साथ अथवा उसके बिना वन चले जाते थे और लौटकर घर न आते थे। वहाँ पर कन्दमूल एवं फलों पर रहकर वे तपस्या एवं ध्यान करते थे। कुछ समय के पश्चात् वे संन्यासी हो सकते थे। वे बिना एक स्थान पर रुके हुए स्वेच्छा से घूमते हुए जो कुछ बिना प्रयास मिल जाता था उसे खाकर जीवन-निर्वाह करते थे।

चार आश्रम--इन ग्रंथों में धर्म-निष्ठ ब्राह्मण के जीवन की चार अवस्थाएँ या आश्रम दिये हुए हैं--ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम। इस बात को समझना आवश्यक है कि नियामकों ने आदर्श-ब्राह्मण के जीवन का यह आदर्श रूप खींचा था। ऐसा समझना गलत होगा कि प्रत्येक व्यक्ति इन सभी आज्ञाओं का पूर्णतया पालन करता था। वह इस आदर्श की प्राप्ति के लिए प्रयासशील अवश्य रहता था। यद्यपि ये कर्त्तव्य तथा संस्कार प्रधानतः द्विजवर्ग के लिए ही हैं, फिर भी इनका अधिकांश पालन ब्राह्मणों के जीवन में ही पाया जाता है।

जातियाँ--धर्म-सूत्रों में समाज तथा मानव-जीवन की व्यवस्था जाति-प्रणाली पर की गई है। प्रत्येक जाति के कर्त्तव्यों को सामान्य रूप से बतलाया

गया है, परन्तु इसके साथ ही इस बात की भी आज्ञा दी गई है कि आपत्ति-काल में मनुष्य अपने से अगली जाति के व्यवसाय को अपना सकता है; परंतु बाध्य होकर वैश्य-वृत्ति को अपनानेवाले ब्राह्मण को कृषि-कार्य करने तथा कुछ विशेष वस्तुएँ बेचने का निषेध था। यद्यपि अपनी ही जाति में विवाह करने की आज्ञा थी फिर भी ब्राह्मण, क्षत्री तथा वैश्य अपने से निम्न जातियों की स्त्रियों को पत्नी रूप में स्वीकार कर सकते थे, परन्तु शूद्र केवल शूद्र स्त्री से ही विवाह कर सकता था। सामाजिक प्रतिष्ठा तथा उत्तराधिकार इत्यादि में मनुष्य की मातृ-पक्ष की जाति का ध्यान रक्खा जाता था। 'प्रतिकूल विवाह' जिसमें मनुष्य अपनी जाति से ऊँची जाति की स्त्री से विवाह करते थे, उसका घोर विरोध किया जाता था। इस प्रकार के विवाह से होनेवाली सन्तान का प्रायः समाज में कोई स्थान न था। अपवित्र मनुष्यों के स्पर्श करने और विशेषतः बढ़ई, जेलर, वैद्य तथा सूम के कुधान्य को न ग्रहण करने में पवित्रता समझी जाती थी। परन्तु इस बात का उल्लेख मिलता है कि ब्राह्मण-परिवार में घरेलू नौकर की भाँति सेवा करनेवाला शूद्र देवताओं के लिए भोजन बना सकता था। चाण्डाल समाज से बहिष्कृत थे और नीचों में भी नीच माने जाते थे।

ब्राह्मणों को राज्य की ओर से कुछ विशेष अधिकार मिले थे। उनको शारीरिक दण्ड न दिया जा सकता था तथा विशेष विद्वान् ब्राह्मणों को कर से मुक्त कर दिया जाता था। प्रत्येक अपराध का दण्ड अपराधी की जाति के अनुसार होता था। यह कहना व्यर्थ है कि ब्राह्मणों का दण्ड सबसे अधिक था।

अन्य नियम—धर्मसूत्रों में उत्तराधिकार तथा दण्डों के नियम राजाओं की सहायता के लिए दिये हुए हैं। इसके अतिरिक्त पाप-मुक्ति के लिए उनमें अनेक प्रायश्चित्त तथा उनके ढंग दिये हुए हैं। पवित्रता तथा नैतिक सच्चरित्रता के अन्य अनेक सामान्य नियम थे, परन्तु निषिद्ध अन्न पर बड़ा महत्त्व था। कुछ विशेष शाकों तथा कुछ पशुओं के मांस को ग्रहण करने का घोर निषेध किया गया है परन्तु मांस-भोजन का सर्वथा निषेध नहीं मिलता। गाय का बहुत ही महत्त्व तथा आदर था।

स्त्रियाँ—सामान्य विधिपूर्ण विवाह से लेकर बलपूर्वक हरण तक आठ

प्रकार के विवाहों का उल्लेख मिलता है। परन्तु द्वितीय प्रकार के विवाह *अनादर की दृष्टि से देखे जाते थे। सभी नियामक अल्प आयु में ही लड़की के* विवाह कर देने के पक्ष में मालूम होते हैं। यद्यपि इसके लिए उन्होंने कोई विशेष आवश्यक नियम नहीं दिये। पति की मृत्यु हो जाने पर निस्सन्तान विधवा को कुछ विशेष परिस्थितियों में यह अधिकार दिया गया था कि वह अपने मृत पति के निकट-सम्बन्धी से नियोग कर एक सन्तान-लाभ करे। धार्मिक कार्यों में स्त्रियों का कोई स्थान नहीं था। साथ ही इस बात की घोषणा की गई है कि उन्हें स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने की आज्ञा न देनी चाहिए, यद्यपि उसके साथ इस बात का भी उल्लेख दिया है कि वे स्वभावतः शुद्ध होती हैं अतः उन्हें नैतिक दोष पर छोड़ना न चाहिए।

नगर-जीवन—इन ग्रन्थों में जिस जीवन-प्रणाली की चर्चा की गई है वह प्रायः ग्रामीणों की है। ब्राह्मणों के कर्म-काण्ड तथा यज्ञ-कार्य गाँवों में ही हो सकते थे। नगर प्रायः गन्दे तथा धर्मनिष्ठों के रहने के अयोग्य समझे जाते थे।

ब—महाकाव्य

दो महाकाव्य—अब हम भारतवर्ष के दो प्रधान महाकाव्यों रामायण और महाभारत का उल्लेख करते हैं जो हिन्दुओं के सदियों से प्राण रहे हैं तथा जिनसे अनेक काव्यों और नाटकों में कथानक लिये गये हैं। महाभारत में यद्यपि प्रधानतः पाण्डवों और कौरवों के युद्ध का वर्णन है परन्तु इसके अतिरिक्त उसमें अनेक कहानियाँ, वंश-परम्पराओं का उल्लेख, ऐतिहासिक कथानक, नैतिक कथाएँ, राजनीति, धर्म, दर्शन तथा नीति पर अनेक वाद-विवाद मिलते हैं। इस ग्रन्थ की कम-से-कम तीन बार तीन पुनरावृत्तियाँ हुई। हर बार ग्रन्थ आकार में बढ़ाया गया। रामायण में भी राम तथा सीता के कथानक से असंबद्ध अनेक अन्य कथानक मिलते हैं, परन्तु फिर भी यह महाभारत की अपेक्षा अपने कथानक से विशेष सम्बद्ध है। परम्परागत विश्वास के अनुसार इसके रचयिता भारत के आदि कवि वाल्मीकि थे और यह सम्भवतः सच है। यह निश्चित करना कठिन है कि ये महाकाव्य कब लिखे गये।

तिथि––ऐसा ज्ञात होता है कि महाभारत का रचना-काल रामायण की *अपेक्षा विशेष विस्तृत है तथा सम्भवतः ईसा से सातवीं शताब्दी पूर्व से लेकर* ईसा के पश्चात् दूसरी या तीसरी शताब्दी तक है। रामायण का निर्माण-काल ईसा से पूर्व छठी या सातवीं शताब्दी से लेकर दूसरी या तीसरी शताब्दी तक है।

उच्च कुलों का जीवन––दोनों ही महाकाव्यों में राजवंश के पुरुषों का वर्णन है, अतः यह स्वाभाविक ही है कि उनका दृष्टिकोण धर्मग्रन्थों से भिन्न हो। उनमें उच्च कुलीन आर्यों के सामाजिक गुण और दोषों का वर्णन है तथा केवल उन स्थलों को छोड़कर जब वे निम्न वर्ग के सम्पर्क में आते हैं, हम अन्य वर्गों का जैसे ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रों का वर्णन नहीं पाते।

महाभारत तथा विशेष रूप से रामायण में पुत्र की पितृभक्ति, पत्नी की पति-सेवा और भाइयों के परस्पर प्रेम के अनेक सुन्दर पारिवारिक चित्र मिलते हैं। प्रण तथा सत्य का पालन भले ही परिणाम कुछ भी हो, अदम्य वीरता क्षत्रियों के विशेष गुण मालूम होते हैं। बहुत ही अल्प वायु से ही युवराजों की शिक्षा-दीक्षा गुरु द्वारा प्रारम्भ कर दी जाती थी और इससे धनु-विद्या तथा शारीरिक व्यायामों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। द्यूत और द्वन्द्व-युद्ध में किसी के निमन्त्रण देने पर उसे अस्वीकार करना कायरता समझी जाती थी। द्यूत-क्रीड़ा में युवराज अपने शरीर को, राज्य को तथा स्त्री को भी दाँव पर रख सकता था। क्षत्रियों में बहु-विवाह की प्रथा सामान्य थी। प्रत्येक राजा के रनिवास में अनेक पटरानियाँ, रानियाँ तथा दासियाँ रहती थीं। रामायण के कथानक से इस बात का पता चलता है कि किस प्रकार राज्य उत्तराधिकार जैसे सार्वजनिक प्रश्न पर रानी ने अपना निर्णय दिया जिसे प्रजा या राजा कोई भी रोकने में समर्थ न हुए।

युद्ध––युद्ध क्षत्रियों के लिए एक प्रकार का मनोरंजन था। प्रत्येक शक्तिशाली राजा समुद्रपर्यन्त विस्तारवाले विशाल साम्राज्य का स्वप्न देखा करता था। पड़ोसी राज्य पर आक्रमण करने के लिए किसी बहाने की आवश्यकता न होती थी। सेना के चार अंग होते थे। रथ, घोड़े, हाथी तथा पैदल सैनिक। युद्ध प्रायः धनुष, बाण तथा साँगों द्वारा होता था। प्रत्येक सेना का एक सेना-

पति होता था। युद्ध में कुछ विशेष नियम होते थे जो सबको पालन करने पड़ते थे जैसे शरणार्थी की रक्षा आदि। अप्रतिष्ठापूर्ण सन्देशों के भी सुनानेवाले दूत को कोई दण्ड नहीं दिया जा सकता था। रणभूमि में वीर गति को प्राप्त होना क्षत्रिय की सबसे बड़ी आकांक्षा रहती थी। राजा के पकड़े जाने या कैद हो जाने पर हार मान ली जाती थी तथा विजयी राजा की अधीनता स्वीकार करने पर उसे मुक्त कर दिया जाता था और उसका सिंहासन उसे वापस मिल जाता था। शक्तिशाली राजा लोग प्रायः राजसूय या अश्वमेध यज्ञ बड़े उत्सव एवं समारोह के साथ करते थे।

शासन-प्रबन्ध—प्रायः राज्य-उत्तराधिकारी पिता के बाद पुत्र होता था परन्तु कुछ ऐसे भी दृष्टान्त मिलते हैं जब कि राजा के निःसन्तान मरने पर राजा का चुनाव प्रजा ने स्वयं किया है। राज्य के शासन-प्रबन्ध में मन्त्री, पुरोहित तथा राजा के भाई उसकी सहायता करते थे। कई एक ऐसे दृष्टान्त मिलते हैं जब कि कुछ दुष्ट राजाओं ने मन्त्रणा के अनुकूल कार्य न कर स्वेच्छा से निरंकुश राज्य किया। परन्तु प्रायः राजा देश की रीतियों तथा धर्मों का सम्मान करता था। उसको राज्याभिषेक के समय प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि वह प्रजा की रक्षा करेगा तथा उसके हितों का ध्यान रक्खेगा। राज्य के शासन-प्रबन्ध में मन्त्रि-परिषद् उसकी सहायता करती थी जिसके कि सदस्य प्रत्येक जाति से चुने जाते थे। प्रजा को कष्ट पहुँचानेवाले राजा को पागल कुत्ते की भाँति मार डाला जाता था। पुरोहित का प्रभाव राजा की प्रकृति पर अवलम्बित था। रामायण में राजा अपने पुरोहित वशिष्ठ का परामर्श लेता हुआ दिखाया गया है। परन्तु महाभारत में पुरोहित या राजगुरु की मंत्रणा पर हम राजाओं को विशेष महत्त्व देते हुए नहीं देखते तथा उनको अपने स्वेच्छा से निरंकुश शासन करते हुए पाते हैं। ग्रामीण तथा नागरिक या पौर तथा जनपद को हम प्रायः नवीन राजा को स्वीकार करने, किसी महत्त्वपूर्ण राजा के कार्य में अनुमति देने या राजा से अपने दुःख कहने इत्यादि के लिए एक स्थान पर एकत्र होते देखते हैं। परन्तु उनके किसी संगठित प्रतिनिधि-वर्ग का पता नहीं चलता जिसके द्वारा वे अपनी आवश्यकताओं को राजा के सामने रखते हों।

महाभारत में कुछ जन-तंत्र राज्यों का उल्लेख आता है जिनमें लोग स्वयं राज्य का प्रबन्ध करते थे तथा जो गण कहलाते थे। वे मिलकर अपना एक संघ बना लेते थे जिनमें से प्रत्येक का अपना निजी संगठन रहता था। जनतंत्रों में वृष्णियों, यादवों तथा भोजों के नाम उल्लेखनीय हैं। जनतंत्र के बुद्धिमान् लोग शास्त्रों के नियमों को मानते, अनाचार तथा पक्षपात का विरोध करते तथा गुणों के अनुकूल इन कार्यों के लिए राजपुरुष नियुक्त करते थे। ग्रामों में पूर्णतः स्वायत्त शासन था; उनके अपने निजी राजपुरुष होते थे जो ग्रामीण (मुखिया) कहलाते थे तथा जो कर वसूल करते तथा राजा एवं प्रजा के बीच मध्यस्थ का काम करते थे।

जाति—जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि महाकाव्यों में केवल राजाओं तथा उनके दरबारों के ही कार्य-व्यापारों का वर्णन है तथा प्रजा या अन्य वर्गों के विषय में केवल आकस्मिक वर्णन मिलते हैं। हम अनेक ऋषियों के विषय में जो कि संसार से वैराग्य ले वन में तप करते थे अनेक उल्लेख पाते हैं। जिस समय का ये महाकाव्य वर्णन करते हैं उस समय जाति-प्रथा से सभी पूर्णतः परिचित ज्ञात होते हैं। ब्राह्मण क्षत्रियों से अपने को ऊँचा मानते थे तथा जैसा कि रामायण में हम पाते हैं, राजाओं को मन्त्रणा देते थे। वे राजा से गो-दान तथा भूमि-दान की आशा रखते थे। उत्सवों पर उनको पर्याप्त संख्या में भोजन के लिए निमन्त्रित किया जाता था। क्षत्रिय लोग युद्ध करनेवाले वर्ग में से थे जिनका देश तथा धर्म के लिए लड़ना कर्तव्य माना जाता था। क्षत्रिय यश के लिए या अपने स्वामी के लिए लड़ते थे। युद्ध में ही क्षत्रिय जीते, रहते तथा चलते-फिरते थे। रणभूमि में मृत्यु श्रेयस्कर समझी जाती थी। युद्ध-भूमि में वीरता के अनेक दृष्टान्त महकाव्यों में मिलते हैं। वणिक् तथा कारीगर वैश्य कहलाते थे जो अपने व्यवसाय के अनुकूल भिन्न वर्गों या श्रेणियों में बँटे थे। धनी श्रेष्ठियों का राज्य-दरबार में बड़ा मान होता था। अभिजात कुलों में अनेक नौकर तथा दास रहते थे जिनमें से प्रायः अधिकतर शूद्र होते थे। इसके अतिरिक्त अनेक स्थानों में जहाँ आर्य नहीं पहुँच पाये थे जंगली जातियाँ रहती थीं।

स्त्रियाँ—जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है राजवंशों में बहु-विवाह

की प्रथा थी। क्षत्रियों की लड़कियों का विवाह प्रायः वयस्क होने पर होता था। वे स्वयंवरों में भी अपने पति का चुनाव करती थीं। राजमहल में रानियों के अलग रहने के लिए स्थान रहता था। परन्तु पर्दे की प्रथा अधिक प्रचलित न थी। राजाओं का नैतिक चरित्र सदा बहुत ऊँचा न होता था। उनके गुप्त प्रेम-व्यापारों तथा षड्यन्त्रों के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं।

स—जातक

जनश्रुति—जातक जो बौद्ध त्रिपिटक के अंग हैं बुद्ध के पिछले जीवनों का वर्णन करते हैं। परन्तु वस्तुतः वे केवल जन-श्रुतियों तथा लोक-प्रिय कथाओं के संग्रह हैं जिनको कि बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए बौद्ध रूप दे दिया गया है। यद्यपि ये ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी पहले तक नहीं लिखे गये थे परन्तु जन-श्रुति के रूप में वे बहुत प्राचीन हैं। इस कारण वे और भी मनोरंजक हो गये हैं।

जाति—यद्यपि जातकों से यह ज्ञात होता है कि महात्मा बुद्ध जाति-पाँति के पक्ष में न थे। तथापि बौद्ध-धर्म इस जाति-भेद को बौद्ध-समाज से दूर न कर पाया। बौद्धों को सामाजिक व्यवस्था से कोई द्वेष न था। वे केवल ब्राह्मणों के आधिपत्य के विरोधी थे। इसके अतिरिक्त चूँकि महात्मा बुद्ध स्वयं क्षत्रिय थे अतः बौद्धों ने चार जातियों में क्षत्रियों को सबसे ऊपर रक्खा। उन्होंने ब्राह्मणों का जो चित्र खींचा है वह ब्राह्मणों की पुस्तकों से बिलकुल भिन्न है। उन्होंने उनको नीच, लोभी तथा अपने व्यवसाय में अविवेकी दिखलाया है। परन्तु उन ब्राह्मण ऋषियों को जिनके आदर्श बौद्ध भिक्षुओं के आदर्शों के समान थे वे श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। उनका वर्णन इस प्रकार है—'बिना भूमि तथा सम्बन्धियों के सांसारिक विषयों से दूर रहने-वाले, निष्काम तथा बुरी इच्छाओं से रहित, जीवन से उदासीन ब्राह्मण मन की शान्ति को प्राप्त करते हैं। इसी कारण लोग उन्हें पुण्यात्मा कहकर पुकारते हैं।'

क्षत्रिय—ब्राह्मण-काल के ग्रंथों की प्रतिक्रिया के रूप में जातकों में क्षत्रिय का स्थान ऊँचा कर दिया गया है। 'यद्यपि क्षत्रिय बहुत ही पतित हो गया हो

फिर भी वह ऊँचा है और ब्राह्मण उससे नीचा है।' इन्हें अपने उच्च कुल का बड़ा ही स्वाभिमान रहता था। वे अपने रक्त में किसी प्रकार का सम्मिश्रण सहन न करते थे।

वैश्य—वैश्य जो प्रायः गृहपति कहलाते थे कृषि, व्यापार तथा पशुपालन आदि व्यवसायों को करते थे। प्रायः औद्योगिक धन्धे एक ही स्थान पर केन्द्रीभूत रहते थे। अतः पूरे ग्राम एक ही व्यवसाय करनेवालों से भरे हुए मिलते हैं। अपने अपार धन के कारण सेठों का राजा लोग सम्मान करते तथा उन्हें दरबारों में स्थान देते थे।

शूद्र—शूद्र प्रायः घरों में नौकरों की तरह रहते थे या बिना जातिवाले व्यवसायों को, जैसे संगीत, नृत्य तथा नटविद्या आदि को करते थे। समाज से बहिष्कृत चाण्डालों को बौद्ध लोग घृणा की दृष्टि से देखते थे।

विवाह प्रायः एक ही जाति में होते थे यद्यपि इसके अनेक अपवाद भी मिलते हैं। नीच जाति के छू लेने से भोजन अपवित्र माना जाता था। पुत्र प्रायः अपने अपने पिता के व्यवसाय को अपनाते थे, यद्यपि इसके विरुद्ध भी अनेक उदारहण मिलते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि जाति-प्रथा की सभी विशेषताएँ समाज में आ चुकी थीं परन्तु वास्तविक जीवन में उसके नियमों का पूर्ण पालन न होता था।

व्यापार—देश के अन्दर व्यापार की चहल-पहल थी। हम अनेक व्यापारियों को एक स्थान से दूसरे स्थान को अपनी वस्तुओं को ले जाते हुए देखते हैं। देश भर में अनेक व्यापार-मार्ग थे जो प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्रों को आपस में मिलाते थे। भारतीय व्यापारी स्वर्णभूमि (ब्रह्मा) लंका तथा वावेरु (बेबीलोनियाँ) आदि विदेशों से भी व्यापार करते थे। पश्चिमी किनारे पर भृगुकच्छ (आधुनिक ब्रोच) नाम का एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। सिक्कों का भी प्रयोग होता था यद्यपि व्यापार वस्तु-विनिमय द्वारा होता था। सोने, चाँदी तथा ताँबे के अनेक प्रकार के सिक्के थे, जो निष्क, सुवर्ण तथा कर्षापण के नाम से प्रसिद्ध थे। ऐसा ज्ञात होता है कि महत्त्वपूर्ण व्यवसायी-वर्गों की अपनी निजी टकसालें थीं जहाँ पर वे अपने चिह्नवाले सिक्के बनाते थे। भारत का सबसे प्राचीन सिक्का आहत सिक्का (Punchmarked) है। धातु को पहले

लंबी चादर के रूप में बनाकर उसे वर्गाकार या गोलाकार या अन्य आकार के टुकड़ों में काट लिया जाता था और उनमें छिद्र करनेवाले औजार की सहायता से अनेक प्रकार के चिह्न बनाये जाते थे। भारत के सभी स्थानों में छिद्र-चिह्नवाले अनेक चाँदी तथा ताँबे के सिक्के पाये गये हैं।

शिक्षा--उच्च वर्ग में ही शिक्षा का विशेष प्रचलन था। तक्षशिला (रावलपिण्डी जिला) तथा वाराणसी (बनारस) शिक्षा के बड़े केन्द्र थे। यहाँ के अध्यापक अपनी विद्वत्ता के लिए दूर दूर तक प्रसिद्ध थे। कोई भी विद्यार्थी केवल दो प्रकार से विद्याभ्यास कर सकता था। या तो वह गुरु को शिक्षा के लिए दक्षिणा दे या उसके बदले में उसकी सेवा करे। भारत की शिक्षा-प्रणाली में वनों का विशेष महत्त्व था। शिक्षक के आश्रम में बहुत कठिन कठिन विषयों को पढ़ाया जाता था। भारतीय दर्शन के बड़े-बड़े गम्भीर विवेचन शिक्षकों के इन वन-आश्रमों में ही हुए थे।

पारिवारिक जीवन--घर में सबसे बूढ़ा ही कौटुम्बिक स्वामी होता था। वही कुटुम्ब के अन्य सदस्यों की देख-भाल करता था। संतान के प्रायः सभी इच्छुक रहते थे। जब कभी सन्तान की उत्पत्ति होती थी तो बड़ा उत्सव मनाया जाता था और पड़ोसी एवं कुटुम्बी नव-जात शिशु के माता-पिता के लिए अनेक उपहार लाते थे। परन्तु पुत्र के होने पर जो आनन्द मनाया जाता था वह पुत्री के जन्म पर नहीं मनाया जाता था। माता-पिता अपनी संतान से बड़ा स्नेह रखते थे। बच्चे का जीवन अनेक खेल-कूद तथा तमाशों में आनन्द से बीतता था। सन्तान के लिए माता-पिता की आज्ञा मानना अनिवार्य था। जो बच्चे अपने माता-पिता को पहले न खिलाकर स्वयं साथ खाने लगते थे, उनमें पितृ-भक्ति की कमी समझी जाती थी। मित्रता अत्यन्त मूल्यवान् वस्तु समझी जाती थी। यद्यपि लोगों को मित्र चुनने में सावधान कर दिया जाता था। अतिथि का सत्कार गृहस्थ का प्रथम कर्तव्य होता था। यह उसका कर्तव्य होता था कि वह अतिथि का उचित सम्मान करे तथा उसे पूर्ण आराम पहुँचावे। प्रत्येक मनुष्य से यह कहा जाता था कि जिस मनुष्य का उसने एक दिन भी आतिथ्य स्वीकार किया है उसका स्वप्न में भी बुरा न सोचे। पीठ जातक में एक व्यापारी कहता है :--

'बहुत दिनों से मेरे वंश में यह परिपाटी चली आती है कि जो भी अतिथि हमारे यहाँ आ जाता है उसे हम स्थान देते हैं, उसके पैरों का जल से प्रक्षालन करते हैं तथा उसकी हर एक आवश्यकता की पूर्ति करते हैं और उससे सगे-संबंधी की भाँति व्यवहार करते हैं।'

स्त्रियों को शिक्षा दी जाती थी। वे नृत्य तथा संगीत जानती थीं। अल्प अवस्था में विवाह का प्रचलन न था। अनेक लड़कियों के स्वयंवर के दृष्टान्त मिलते हैं। स्वयंवर की प्रथा काफी प्रचलित थी। पत्नी को मृदु-भाषी, सुशीला तथा पतिव्रता होने के लिए आदेश दिया जाता था। पर्दा की प्रथा के कोई प्रमाण नहीं मिलते। केवल राजवंश की स्त्रियाँ पर्दायुक्त पालकी या सवारियों पर चलती थीं, परन्तु वे भी कभी-कभी इस नियम का पालन न करती थीं। रानियों के महल में स्वच्छन्द घूमने तथा मंत्रियों से वार्तालाप करने के दृष्टान्त मिलते हैं। स्त्रियों को काफी स्वतंत्रता मिली हुई थी। वे मेलों तथा उत्सवों में भाग लेती थीं। धनी तथा गरीब सभी स्त्रियाँ सन्तान के लिए प्रार्थना करती थीं। माता को आदर की दृष्टि से देखा जाता था। उसका परिवार में महत्त्वपूर्ण स्थान होता था। निःसन्तान स्त्रियों को अनादर की दृष्टि से देखा जाता था। सती-प्रथा न थी। विधवा का जीवन कठिन एवं दुःखमय होता था। कुछ स्त्रियाँ वैराग्य तथा भिक्षा-वृत्ति से जीवन-यापन करती थीं। परिव्राजिकाएँ विदुषी तथा बुद्धिमान् होती थीं और संसार के झगड़ों से दूर रहकर धर्मोपदेशकों का सत्संग-लाभ करती थीं।

शासन—राजा अपने पुरोहित, मंत्रियों एवं अधिकारियों की सहायता से शासन करता था। वह बड़े वैभव एवं ऐश्वर्य से रहता तथा निरंकुश राज्य करता था। परन्तु कभी-कभी दुष्ट राजा को मंत्री एवं प्रजा मिलकर सिंहसन से उतार देते थे तथा नया राजा चुन लेते थे। यद्यपि न्यायाधीश होते थे परन्तु कभी-कभी राजा स्वयं न्याय करता था तथा स्वेच्छा से कठिन दण्ड देता था। भूमि प्रजा की होती थी। वह राजा को कर या दशमांश अनाज या रुपये के रूप में देती थी।

तीन परम्पराएँ—क्रमशः ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं बौद्धों के भिन्न-भिन्न साहित्यों में दी हुई भारत की सामाजिक दशा का ऊपर संक्षिप्त वर्णन किया जा चुका है। वे प्रायः एक ही समय की कृतियाँ हैं जो प्राचीन रूढ़ि तथा

परम्पराओं पर अवलंबित हैं। अतः उनमें केवल उनके निर्माण काल की ही नहीं वरन् शताब्दियों पहले की सामाजिक दशा का वर्णन मिलता है। यह स्वाभाविक है कि चूँकि ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों के हित एक न थे वरन् विरोधी थें। अतः उनमें समाज तथा जीवन के दृष्टिकोण भी भिन्न थे। फिर भी यह समाज का चित्र केवल एकांगी ही है, क्योंकि समाज से निम्न वर्ग के लोगों के बारे में इनसे कुछ नहीं मालूम होता।

भूगोल--ध्यान देने की विशेष बात यह है कि इस समय तक आर्यों के उपनिवेश कहाँ तक स्थापित हो चुके थे। ब्राह्मण स्मृतिकारों का प्रिय स्थान (धुर पश्चिम तथा पूर्व छोड़कर) उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त (गंगा-जमुना का दोआब) था। इसके बाहर का स्थान अपवित्र एवं आर्यों के निवास के अयोग्य समझा जाता था। जातकों में कोशल, काशी तथा मगध के राज्यों का विशेष महत्त्व था यद्यपि बुद्ध के जीवन-चरित से सम्बन्ध रखनेवाले पश्चिम तथा दक्षिण के स्थानों का भी उल्लेख मिलता है।

महाभारत युद्ध में उत्तर-पश्चिम से धुर पूर्व तक और दक्षिण में नर्मदा तक के राजाओं ने भाग लिया था। केन्द्रीय मध्यप्रदेश के लोगों ने पाण्डवों की सहायता की थी और दूर के सीमावाले लोगों ने कौरवों की। रामायण का क्षितिज सुदूर तक विस्तृत नहीं है। वह महाभारत की अपेक्षा प्राचीन ग्रंथ है। दक्षिण का बहुत कम वर्णन मिलता है। इधर-उधर वनों में फैले हुए मुनियों के आश्रमों का वर्णन अवश्य मिलता है।

रामायण से आर्यों के सैन्य-बल द्वारा दक्षिणापथ में प्रवेश का प्रमाण मिलता है यद्यपि उसके रचयिता का सम्भवतः यह अभिप्राय न था।

सप्तम अध्याय

मौर्य-काल से पूर्व

सोलह राज्य——महात्मा बुद्ध के जन्म से कुछ समय पूर्व भारतवर्ष में सोलह राज्य थे जो महाजन पद के नाम से प्रसिद्ध थे।[१] बौद्ध-धर्म की एक पुस्तक 'अंगुत्तर निकाय' में इन राज्यों की सूची दी हुई है। उसमें बंगाल तथा गोदावरी के दक्षिण के किसी राज्य का उल्लेख नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि पूर्व तथा दक्षिण के राज्य आर्य राज्य नहीं माने जाते थे। इनमें से प्रमुख राज्य आपस मे लड़ा करते थे। इससे छोटे राज्य बड़े राज्यों में मिल गये।

चार राज्य——जिस समय महात्मा बुद्ध अपने धर्म का उपदेश कर रहे थे उस समय केवल कोशल, अवन्ति, वत्स तथा मगध ही चार बड़े बड़े राज्य मध्यभारत में रह गये थे।

कोशल——चौथे अध्याय में कहा जा चुका है कि कोशल के राजा इक्ष्वाकुवंशी थे। यह पहले एक छोटा सा राज्य था, परन्तु ईसा से छठी शताब्दी पूर्व इसमें शाक्य वंश का कपिलवस्तु राज्य तथा बनारस का राज्य मिल गया। काशी राज्य के मिलने से कोशल का मगध से सीधा सम्बन्ध हो गया जो धुर पूर्व में था। ईसा से छठी शताब्दी पूर्व इसके एक राजा महाकोशल ने मगध के राजा बिम्बिसार को अपनी लड़की ब्याह दी तथा उसे काशी राज्य के कुछ जिले दहेज में दिये। महाकोशल का पुत्र प्रसेनजित् महात्मा बुद्ध का एक मित्र तथा बौद्धधर्म का अभिभावक था। काशी के आधिपत्य के लिए उसकी बिंबिसार के पुत्र

१——इनके नाम निम्नलिखित हैं :——

(१) काशी (बनारस) राजधानी-वाराणसी, (२) कोशल (अवध) राजधानी साकेत (अयोध्या) तथा श्रावस्ती (गोंडा जिले में सेतमहेत), (३) अंग (भागलपुर) राजधानी चम्पा, (४) मगध (दक्षिण बिहार) राजधानी गिरिव्रज-राजगृह (राजगिर), (५) वृजि (बिहार में दरभंगा तथा मुजफ्फरपुर-जिले में बसाढ़), (६) मल्ल (गोरखपुर तथा उसके आस-पास) राज-

अजातशत्रु से शत्रुता हो गई। बहुत दिनों तक युद्ध चलता रहा और अंत में कोशल के हाथ से सदा के लिए काशी का राज्य निकल गया। वृद्धावस्था में प्रसेनजित् को गद्दी से उतारकर उसका पुत्र विरुद्धक राजा हुआ और प्रसेनजित् सहायता के लिए पाटलिपुत्र भाग गया जो कि मगध की राजधानी थी। परन्तु पाटलिपुत्र पहुँचने के पहले ही मार्ग में उसकी मृत्यु हो गई। उसका वंश कुछ पीढ़ियों तक और चलता रहा जिसके पश्चात् कोशल मगध में मिल गया।

अवन्ति—महात्मा बुद्ध के समय में अवन्ति (मालवा) में प्रद्योत महासेन राज्य करता था। उसकी राजधानी उज्जयिनी थी। दन्तकथाओं के अनुसार वह बहुत ही शक्तिशाली तथा क्रोधी राजा था जिसका अन्य राजागण भय मानते थे। उसने अपनी पुत्री का विवाह वत्स के राजा उदयन के साथ किया। उसका वंश प्राय ४०० ई० पूर्व तक चलता रहा, जिसके पश्चात् मगध के शिशुनाग ने इसका नाश किया।

वत्स—इलाहाबाद के पास वत्स में पाण्डवों के वंशज राज्य करते थे उनकी राजधानी इलाहाबाद के पास कौशाम्बी थी। इस वंश का महात्मा बुद्ध के समय का राजा उदयन था जो भारतीय साहित्य में अनेक कथाओं के नायक के रूप में प्रसिद्ध है ऐसा कहा जाता है कि अवन्ति के प्रद्योत ने

धानी कुशीनगर (गोरखपुर में कसया) तथा पावा, (७) चेदि (बुन्देलखण्ड मध्यभारत) राजधानी शुक्तिमती (सम्भवतः उत्तर प्रदेश में बाँदा के पास), (८), वत्स (इलाहाबाद जिला) राजधानी कौशाम्बी (कोसम—इलाहाबाद के पास) (९) कुरु (देहली जिला) राजधानी इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली के पास इन्दर-पत), (१०) पांचाल (उत्तर दुआब) राजधानी अहिछत्र (बरेली के पास रामनगर) तथा कांपिल्य (उत्तर प्रदेश में फर्रुखाबाद के पास), (११) मत्स्य (जयपुर राज्य) राजधानी विराट (जयपुर के पास वैराट), (१२) शूरसेन (मथुरा जिला) राजधानी मथुरा, (१३) अश्मक (गोदावरी की घाटी) राजधानी पौदन्य, (१४) अवन्ति (मालवा) राजधानी उज्जयिनी (ग्वालियर राज्य में उज्जैन), (१५) गान्धार (सीमान्त प्रदेश) राजधानी तक्षशिला (रावलपिंडी के पास), (१६) काम्बोज राजधानी राजपुर (दोनों की ही स्थिति अज्ञात है)।

एक बार मृगया में इसे पकड़ लिया और अपनी पुत्री वासवदत्ता से विवाह करने के लिए बाध्य किया। उदयन बौद्धमत की ओर से विशेष उदासीन न था यद्यपि महात्मा बुद्ध ने उसके राज्य में अधिक पर्यटन नहीं किया था। उसके कुछ पीढ़ियों के पश्चात् वत्स मगध के शासकों के हाथ में चला गया।

बिम्बिसार—बिंविसार अल्प आयु में ही ईसा से ५४३ वर्ष पूर्व मगध के सिंहासन पर बैठा। उसने अपनी राजधानी गिरिव्रज से अंग राज्य की विजय की तथा कोशल के राजा से दहेज में कुछ काशी के जिले पाये। वह महात्मा बुद्ध तथा महावीर स्वामी दोनों का ही मित्र था, वस्तुतः वे बौद्ध और जैन दोनों ही उसे अपने धर्म का अनुयायी मानते हैं।

अजातशत्रु—संभवतः उसे सिंहासन से उतारकर उसका पुत्र अजातशत्रु (ईसा से ४९१ वर्ष पूर्व से लेकर ४५९ वर्ष पूर्व तक) सिंहासन पर बैठा। उसके शासन के आठवें साल में महात्मा बुद्ध निर्वाण को प्राप्त हुए। अजातशत्रु ने आगे चलकर कोशल के प्रसेनजित से काशी राज्य छीन लिया तथा लिच्छिवि राज्य को अपने राज्य में मिला लिया। अपने शासन-काल के प्रारम्भ में वह बौद्ध-मत के विरुद्ध था परन्तु बाद में उसे अपने पिता के प्रति अपने आचरण पर पश्चात्ताप हुआ और उसने बौद्ध-धर्म स्वीकार किया।

पाटलिपुत्र—गंगा तथा सोन के संगम पर स्थित एक ग्राम के चारों ओर अजातशत्रु ने प्राचीर बनवाई। यही स्थान आगे चलकर पाटलिपुत्र (पटना) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आगे चलकर अनेक शताब्दियों तक यह नगर भारत की राजधानी रहा। अजातशत्रु के पुत्र तथा उत्तराधिकारी उदयन (ईसा से ४५९ वर्ष पूर्व—४१३ वर्ष पूर्व) ने अपनी राजधानी गिरिव्रज से बदलकर पाटलिपुत्र में स्थापित की।

शिशुनाग—ईसा से ४११ वर्ष पूर्व मगध के सिंहासन पर काशी के शासक शिशुनाग ने आधिपत्य जमाया। वह एक अत्यन्त शक्तिशाली राजा था। उसने अपने राज्य में अवन्ति को मिलाया था जिस पर कि महासेन का पंचम वंशज राज्य कर रहा था। उसके पश्चात् उसका पुत्र कालाशोक काकवर्ण (ईसा से ३९३ वर्ष पूर्व—३६५ वर्ष पूर्व तक) राज्य का उत्तराधिकारी हुआ उसके समय

में बौद्धों की दूसरी सभा वैशाली में हुई। उसको मारकर उसके दस पुत्र राज्य के अधिकारी हुए (ईसा से ३६५ वर्ष पूर्व—३४३ वर्ष पूर्व तक) जिनमें से नन्दिवर्धन विशेष उल्लेखनीय है।

नन्दवंश—ईसा से ३४३ वर्ष पूर्व के लगभग शिशुनाग वंश का उच्छेद कर नंदवंश अस्तित्व में आया। इस आकस्मिक राज्य-परिवर्तन का कारण कुछ समझ में नहीं आता, परन्तु ऐसा समझ में आता है कि अपनी कूटनीति तथा षड्यन्त्र के बल पर एक निम्न जाति का उग्रसेन महापद्म नामक व्यक्ति सिंहासन पर बैठा। वह तथा उसके आठ पुत्र जो नौ नन्दों के नाम से प्रसिद्ध हैं, करीब २२ वर्ष तक (ईसा से ३४३ वर्ष पूर्व से लेकर ३२१ वर्ष पूर्व तक) राज्य करते रहे। ये बहुत ही शक्तिशाली राजे थे जिनसे सभी भय मानते तथा घृणा रखते थे। उन्होंने अपने कोष में बहुत सा धन संचय किया था। उनके समय में मगध साम्राज्य पंजाब तथा बंगाल को छोड़कर सारे उत्तरी भारत में फैल गया। कदाचित् इसमें दक्षिण का भी कुछ देश सम्मिलित था। इस वंश को चन्द्रगुप्त मौर्य ने कूटनीतिज्ञ चाणक्य की सहायता से समूल नष्ट किया। चाणक्य नन्दवंश का घोर विरोधी था।

मगध का उत्कर्ष—इस प्रकार हम यह देखते हैं कि महात्मा बुद्ध की मृत्यु के शताब्दियों बाद उत्तरी भारत की राजनैतिक शक्ति केवल एक मगध राज्य में केन्द्रीभूत हो गई। बुद्ध के समय के चार बड़े बड़े राज्य क्रमशः मगध के शक्तिशाली सम्राटों द्वारा विजित हुए तथा बिम्बिसार से लेकर नन्द के समय तक मगध का राज्य समस्त भारत में फैल गया।

काल-निर्णय—काल-निर्णय की जिस प्रणाली का यहाँ अनुसरण किया गया है उसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। बिम्बिसार तथा शिशुनाग के वंश के विषय में हमारे ज्ञान के आधार पुराण तथा लंका में पाये गये बौद्धमत के ग्रन्थ दीपवंश तथा महावंश हैं। अनेक उल्लेखों में ये पुराण आपस में भिन्न हैं और उनमें अनेक विरोधाभास पाये जाते हैं। इसका एक प्रमाण उदाहरण के लिए मिलता है। ऐसा उल्लेख आता है कि शिशुनाग ने एक वंश की स्थापना की जिसका छठा राजा बिम्बिसार था परन्तु उसी प्रसंग में इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि अवन्ति के प्रद्योत महासेन के वंशजों

स्काइलैक्स की अध्यक्षता
(जिसके कि बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार बुद्ध तथा बि. ेजा! अगले सम्राट्
होने के प्रमाण मिलते हैं) का उसी शिशुनाग ने नाश ा परन्तु उसके
कारणों से ऐतिहासिकों का ऐसा मत है कि बिम्बिसार का ॰ ला।
वंश के बाद नहीं वरन् पहले हुआ।
यूनान

ऐसा ज्ञात होता है कि इस समय का सच्चा इतिहास लंका के ऐतिहासिपा वृत्तान्तों में पाया जाता है जिसका कि अनुसरण ऊपर किया गया है। इस सूची में दिये हुए प्रत्येक राजा के शासन-काल का योग २२२ वर्ष होता है। महात्मा बुद्ध का अजातशत्रु के शासन-काल के आठवें साल में निर्वाण प्राप्त करने का उल्लेख आता है। यदि इस उल्लेख को हम सत्य मानें तो अजातशत्रु के राज्याभिषेक की तिथि ईसा से ४९१ वर्ष पूर्व निकलती है (क्योंकि महात्मा बुद्ध की मृत्यु सम्भवतः ईसा से ४८३ वर्ष पूर्व हुई थी) तथा बिम्बिसार के राज्याभिषेक का समय ईसा से ५४३ वर्ष पूर्व तथा नन्दवंश के नाश की तिथि ईसा से ३२१ वर्ष पूर्व निकलती है। यद्यपि इन ग्रन्थों की समय-तालिका पुराणों की अपेक्षा विशेष सन्तोषजनक है परन्तु सम्भव है कि इसमें भी कुछ वर्षों की त्रुटि हो और नन्दवंश का नाश दी हुई तिथि से कुछ पहले या बाद में हुआ हो। इस समय के ऐतिहासिक ज्ञान के आधुनिक स्तर पर यह सम्भव नहीं कि हम इस समस्या को निश्चित रूप से हल कर सकें।

ब—जनतंत्र-राज्य

अल्प जनशासित राज्य—बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में अनेक स्वायत्त शासन-वाली जातियों का उल्लेख आता है जिनका शासन एक राजा के हाथ में न होकर अनेक शासकों के हाथ में रहता था। प्रत्येक राज्य में एक सभा-भवन होता था जहाँ सार्वजनिक समस्याओं पर विचार करने के लिए लोग इकट्ठे होते थे। जब कभी मत का वैभिन्य रहता था तब मत-निर्णय संख्या के बल पर होता था। इससे अधिक हमें इनके विधान अथवा कार्यक्रम के विषय में कुछ नहीं मालूम। ऐसा असम्भव है कि प्रत्येक सभा में जाति के सभी सदस्य आते हों परन्तु प्रतिनिधियों के चुनाव होने के कोई प्रमाण नहीं मिलते। अभिजात-वंशों के कुछ सदस्यों की एक कार्यकारिणी सभा होती थी। जिसका एक प्रधान होता था। सम्भवतः यह प्रधान का पद परम्परानुकूल उसी के

वंशजों को मिलता था। इन कारणों से ऐसा ज्ञात होता है कि बिना राजा-वाले ये राज्य जनतन्त्र न होकर अल्प-जन-शासित राज्य थे जैसा कि कुछ इतिहासकारों ने उनका नामकरण किया है।

लिच्छवि-वंश—ये राज्य पंजाब में तथा उत्तर प्रदेश एवं बिहार के पर्वतों की तराइयों में थे। इनमें से प्रमुख वृजि (जिनका कि सोलह राज्यों में नाम आ चुका है) थे जो अनेक जातियों के संगठन से बने थे तथा जिनके प्रधान वैशाली के लिच्छवि-वंश के थे। जब अजातशत्रु ने इनको परास्त किया तो इन्होंने मगध के सिंहासन की अधीनता स्वीकार की।

शाक्य, मल्ल, मौर्य—शाक्य वंश जिसमें महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ था तराई में अनेक स्थानों पर फैला हुआ था। इसके प्रधान कपिलवस्तु के शाक्य (उत्तर प्रदेश गोरखपुर जिले में पिपरवा) थे जो कि कोशल के अधीन थे। इस समय भी अनेक स्वतन्त्र तथा स्वायत्त शासनवाले राज्य थे जिनमें से विशेष उल्लेखनीय मल्ल हैं जिनका गोरखपुर जिले में केन्द्र था तथा जिनकी राजधानी कुशीनगर (कसया) तथा पावा थी। इनके अतिरिक्त पिप्पलिवन (कुशीनगर के पश्चिम की ओर) के मौर्य भी उल्लेखनीय हैं।

1993 (3)

स—सिकन्दर का आक्रमण

फारस के साथ सम्बन्ध—बहुत पहले समय से ही फारस के निवासी अपने भारतीय पड़ोसियों के साथ सम्बन्ध रखते रहे हैं जो कि पंजाब में हिन्दू आर्यों के बसने के पूर्व एक थे। हिन्दू तथा हिन्दुस्तान दोनों ही शब्द फारसी के नदी-नाम सिन्धु पर पड़े हैं।[१]

दारा—ईसा से पूर्व छठी शताब्दी के मध्य में कुरुश ने फारस में एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया। उसने भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त पर अनेक बार आक्रमण किया तथा थोड़ा-बहुत प्रभुत्व स्थापित करने में सफल हुआ। दारा प्रथम ने जो कि तृतीय बादशाह था अपने साम्राज्य में गान्धार का प्रान्त मिलाया जिसका कि मुख्य नगर सिन्धु की तलहटी में

---

१ फारसी लोग इस शब्द को 'हिन्दू' उच्चारण करते थे अतः यूनानियों ने इसी रूप को ग्रहण कर इसे योरोप में प्रचलित किया।

तक्षशिला था। ईसा से प्रायः ५१६ वर्ष पूर्व उसने स्काइलैक्स की अध्यक्षता में सिन्धु नदी के पर्यवेक्षण के लिए एक समुद्री बेड़ा भेजा! अगले सम्राट् क्शायार्श से इस भारतीय प्रान्त पर प्रभुत्व कायम रक्खा परन्तु उसके उत्तराधिकारियों के समय में यह फारसी आधिपत्य शिथिल हो चला।

सिकन्दर महान्—उत्तर-पश्चिम में दूसरा महत्त्वपूर्ण आक्रमण यूनान के राज्य मेसीडोनिया के शासक सिकन्दर की अध्यक्षता में हुआ। वह ईसा से ३५६ वर्ष पूर्व उत्पन्न हुआ। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू से उसने शिक्षा प्राप्त की और एक हत्यारे द्वारा अपने पिता फिलिप के मारे जाने पर २० वर्ष की अवस्था में सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। दो वर्ष पश्चात् अर्थात् ईसा से ३३४ वर्ष पूर्व बाईस वर्ष की अवस्था में एशिया की विजय के लिए उसने प्रस्थान किया। एशिया माइनर से होता हुआ वह ईसा से ३३२ वर्ष पूर्व सीरिया तथा फिनीशिया पहुँचा। फिनीशिया के नगर टाइरास ने सात महीनों तक उसका प्रतिरोध किया परन्तु अन्त में यूनानियों ने नगर में प्रवेश किया और वहाँ के निवासियों को मौत के घाट उतारा, उनमें से ३०,००० को दास बनाकर बेच दिया। इसके पश्चात् सिकन्दर मिस्र की ओर बढ़ा तथा उस पर विजय कर भूमध्यसागर के तट पर उसने सिकन्दरिया नामक नगर की स्थापना की।

इसके पश्चात् यूनानियों ने पुनः पूर्व की ओर प्रस्थान किया। उन्होंने ईसा से ३३१ वर्ष पूर्व सितम्बर में टाइग्रिस नदी पार की तथा आरमीनिया के सम्राट् दारा तृतीय का सामना किया। बहुत थोड़े से प्रयास से विजय प्राप्त हो गई और दारा भाग निकला। फारस का प्रसिद्ध नगर परसीपॉलिस नष्ट-भ्रष्ट हुआ। राजमहल जला दिया गया।

हिन्दूकुश—फारस के पश्चात् उत्तर में वह बैक्ट्रिया की ओर बढ़ा और उस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। बैक्ट्रिया-विजय के पश्चात् सिकन्दर ने भारतवर्ष पर आक्रमण करने का निश्चय किया। उसकी विजयी सेना उत्तर-पश्चिमी पर्वतीय प्रदेश से होकर पंजाब की ओर बढ़ी। यह प्रदेश सदैव से युद्ध-प्रिय जातियों का निवास-स्थान रहा है। अतः इस पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए सिकन्दर को अनेक स्थानों पर

घोर युद्ध करना पड़ा। पहला तीव्र विरोध स्वतन्त्रताप्रिय हास्तिनायन जाति ने किया। इसके राजा हस्तिन् ने पूरे ३० दिन तक अपनी रजधानी पुष्कलावती की यूनानियों से वीरतापूर्वक रक्षा की। अन्त में वह युद्ध में मारा गया और उसके राज्य पर सिकन्दर का अधिकार हो गया। इसी प्रकार आश्वकायन जाति ने भी अपने राज्य की रक्षा में यूनानियों से भयंकर युद्ध किया। उनकी सेना में ३०,००० घोड़े, ३८,००० पैदल और ३० हाथी थे। इस सेना का नेतृत्व उसकी रानी 'क्यू फिस' ने किया। उसने अनेक दिनों तक अपनी राजधानी मशक की रक्षा की। इस युद्ध में पुरुषों की भाँति स्त्रियों ने भी भाग लिया। अन्त में रानी युद्ध करती हुई मारी गई और सिकन्दर का उसके राज्य पर अधिकार हो गया।

आक्रमण के समय भारत की स्थिति—इस प्रकार सिकन्दर की सेनाएँ पर्वतीय जातियों की स्वतन्त्रता का अपहरण करती हुई सिन्धु नदी के तट पर आ पहुँचीं। भारत के लिए यह महान् संकट-काल था। प्रख्यात विजेता सिकन्दर महान् से लोहा लेना कोई हँसी-खेल न था। इधर, अभाग्यवश भारतवर्ष की राजनीतिक परिस्थिति भी आक्रमणकारी के ही अनुकूल थी। सम्पूर्ण उत्तर-पश्चिमी भारत, पंजाब तथा सिन्ध छोटे छोटे अनेक राज्यों में विभक्त था। इनमें से कुछ जन-तंत्र राज्य थे और कुछ राज-तन्त्र। जन तन्त्रात्मक राज्यों में मालव, शूद्रक, मूषिक, सौभूति, कठ, शिवि, अम्बष्ठ प्रमुख थे। राजतन्त्रात्मक राज्यों में तीन विशेष उल्लेखनीय हैं—(१) अभिसार-राज्य जो तक्षशिला के उत्तर में पर्वतीय प्रदेश में स्थित था। (२) अम्भी-राज्य जिसकी राजधानी तक्षशिला थी। (३) पुरु-राज्य जो झेलम और चिनाब के बीच में स्थित था। इन राज्यों में एकता न थी। इनकी पारस्परिक कलह ने सिकन्दर का कार्य अति सुगम कर दिया। संगठित विरोध करने की बात तो दूर रही, इनमें से बहुतों ने देश के साथ विश्वासघात कर विदेशी आक्रमण-कारी का साथ दिया। जिन स्वतंत्रता-प्रिय राज्यों ने सिकन्दर का विरोध किया, उनमें भी कोई सैनिक संगठन न था। अच्छा होता यदि वे सब राज्य एक संघ बनाकर अपनी सम्मिलित शक्ति से शत्रु का सामना करते। परन्तु ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय राज्यों में उच्च स्तर की राष्ट्रीय भावना न थी। प्रत्येक का दृष्टि-

कोण संकुचित था। सब अपने-अपने राज्यों तक ही सोच सकते थे। ऐसी दशा में सिकन्दर का जो विरोध किया गया वह केवल स्थानीय था, राष्ट्रीय नहीं। छोटे-छोटे राज्यों को हराने में विश्व-विख्यात विजयी सिकन्दर को अधिक कठिनाई न पड़ी और शीघ्र ही सारा पंजाब और सिन्ध-प्रदेश विदेशियों से पदाक्रान्त हो गया।

सिन्धु—इस प्रकार पर्वतीय प्रदेशों से होता हुआ सिकन्दर ईसा से ३२६ वर्ष पूर्व जनवरी मास में सिन्धु-तट पर पहुँचा। आधुनिक अटक के पास ही एक स्थान पर एक पुल बनवाया गया, परन्तु नदी के पार करने के प्रथम ही तक्षशिला (झेलम तथा सिन्धु के मध्य में) के राजा अम्भी ने उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया। जब सिकन्दर तक्षशिला पहुँचा तो अम्भी ने उसे सम्राट् माना और धन से उसकी सहायता की।

झेलम—अम्भी के इस व्यवहार से सिकन्दर ने समझा कि उसका मार्ग निर्विघ्न है। अतः उसने झेलम तथा चिनाब के मध्य के प्रदेश के राजा के पास सन्देश भेजा कि वह उसकी अधीनता स्वीकार कर ले। परन्तु झेलम तथा चिनाब के दुआब के अधिपति ने उत्तर में कहला भेजा कि वह उससे सेना के साथ युद्धस्थल में मिलेगा।

पुरु—सिकन्दर मई ३२६ ई० पू० को झेलम के तट पर पहुँचा और वहाँ दूसरे तट पर पुरु को युद्ध की प्रतीक्षा करते हुए पाया। यूनानी सेना कुछ समय तक वहाँ कैम्प डाले पड़ी रही। उसी वर्ष के जुलाई मास में, जब कि नदी खूब बाढ़ पर थी, यूनानी सैनिक चुपचाप नदी के ऊपर की ओर रातोंरात १६ मील चले गये और नदी को पार किया। भारतीय प्रहरी स्तम्भित रह गये। झेलम का युद्ध प्रारम्भ हुआ। भारतीय पदाति सेना तलवारों, भालों तथा पाँच या छः फीट ऊँचे धनुषों से लड़ रही थी जिनके तीर प्रायः तीन गज लम्बे थे। ये धनुष चलानेवाले अच्छे तीरन्दाज थे और उनके बाण ढाल तथा कवच इत्यादि भेद कर शत्रु के शरीर में प्रवेश कर जाते थे। इस पदाति सेना के अतिरिक्त हाथी, घोड़े तथा रथ भी थे परन्तु इनसे विशेष लाभ न था। दिन भर युद्ध होता रहा और भारतीय सफल न हो सके। उनके प्रायः तीन हजार अश्वारोही तथा बारह हजार प्यादे काम आये एवं दस हजार बंदी हुए।

पुरु के स्वयं नौ घाव लगे और अपनी इस अचेत अवस्था में वह शत्रु द्वारा बन्दी हुआ। वह सिकन्दर के सामने लाया गया। उसका सुदृढ़ लम्बा तथा दिव्य शरीर था। जब उससे पूछा गया कि तुम्हारे साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाय तो उसने उत्तर दिया कि जिस प्रकार एक राजा के साथ किया जाता है। सिकन्दर इस भारतीय नृप से अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसे उसका राज्य कुछ और जागीर मिलाकर लौटा दिया। पुरु की इस पराजय के पश्चात् आस-पास के कुछ अन्य सामन्तगणों ने भी सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली।

चिनाब तथा रावी—यूनानियों ने चिनाब तथा रावी को विशेष असुविधा के बिना पार कर लिया परन्तु उन्हें कुछ राज्यों से लड़ना पड़ा। इनमें कठ-राज्य प्रमुख था। इनको वीरतापूर्वक अपनी रक्षा करते देख सिकन्दर को क्रोध आ गया और उसने दुर्ग को भमिसात् कर दिया।

व्यास—सितम्बर ३२६ ई० पू० में यूनानी सेना व्यास के तट पर पहुँची जहाँ पर एकत्र मगध के सम्राट् नन्द की विशाल वाहिनी के विषय में वे पहले से ही सुन चुके थे। इसके अतिरिक्त सिपाही काफी थक गये थे तथा हतोत्साह हो चुके थे अतः उन्होंने आगे बढ़ने से इनकार किया। सिकन्दर ने अपनी वक्तृता में उन्हें धन तथा यश का लालच दिखाया पर इन सब प्रलोभनों से उनके सूखे दिलों में उत्तेजना न पैदा की जा सकी। अतः सिकन्दर को विवश हो लौटना पड़ा। अपनी विजय के सीमा-निर्देशन के लिए उसने पचास हाथ ऊँची बारह यज्ञशालाएँ बनवाईं।

प्रत्यावर्त्तन—लौटते समय सिकन्दर ने सीवियों तथा अन्य जातियों को हराया, जिनकी भौगोलिक स्थिति का परिज्ञान नदियों के बार-बार मार्ग बदलने के कारण निश्चित रूप से नहीं हो सका। और दक्षिण की ओर रावी के दोनों तटों पर बसे हुए मालवों ने उसका मुकाबिला किया तथा रावी और व्यास के अन्तर्प्रदेश में बसे हुए क्षुद्रकों से मित्रता स्थापित करने का प्रयास किया। परन्तु इसके पूर्व कि उनके मित्र उनकी संगठित रूप से सहायता कर सकें, सिकन्दर ने इन अप्रस्तुत मनुष्यों पर अचानक आक्रमण कर दिया तथा सहस्रों आदमियों को तलवार के घाट उतार दिया।

तत्पश्चात् सिकन्दर ने मूषिक, आक्सी के नाज तथा सैम्बू आदि अन्य राज्यों को जीता और इस प्रकार विजय करता हुआ वह सिन्धु के डेल्टा पर स्थित पाटल नगर तक पहुँच गया। यहाँ से सेना का एक भाग जल-मार्ग द्वारा पश्चिम की ओर चला और सिकन्दर स्वयं स्थल मार्ग से बिलोचिस्तान होता हुआ मई ३२४ ई० पू० में फारस के सूसा नामक नगर में पहुँचा। जून सन् ३२३ ई० पू० में बेबीलोन में उसकी मृत्यु हो गई।

भारतीय साम्राज्य—सिकन्दर सिन्धु के पूर्ववर्ती भारतीय प्रदेश में मार्च सन् ३२६ से सितम्बर ३२५ ई० पू० तक अर्थात् केवल उन्नीस मास रहा। उसने पंजाब, पुरु तथा आम्भी की संरक्षता में दिया था तथा सिन्ध एक यूनानी व्यक्ति पीथान की संरक्षता में; परन्तु भारत में यूनानी आधिपत्य दो वर्ष से अधिक टिकने न पाया।

उसके महान् कार्य—सिकन्दर एक योग्य सेनापति तथा यूनानी इतिहास का सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हुआ है। किसी भी विपत्ति से वह घबड़ाता न था तथा कठिन से कठिन कार्य भी उसके लिए दुस्तर न था। योरुप में आज भी उसका नाम श्रद्धा से लिया जाता है; परन्तु भारत में जहाँ उसका साम्राज्य बहुत थोड़े दिन टिक सका, उसका नाम लुप्तप्राय हो गया है। परसिपॉलिस के अग्निदाह में पारसी धार्मिक ग्रन्थों को भस्मसात् करने के कारण पारसियों ने बहुत दिनों तक उसे याद रक्खा।

पश्चिमी तथा मध्य एशिया में उसने दूर तक विजय की। वहाँ पर बहुत दिनों तक यूनानी वंश-परम्पराएँ चलती रहीं जिनके द्वारा वहाँ के इतिहास पर विशेष छाप पड़ी। परन्तु भारतवर्ष की दशा इनसे भिन्न रही, क्योंकि यूनानी साम्राज्य के भग्नावशेषों पर शीघ्र ही एक देशीय साम्राज्य स्थापित हो गया, अतः यहाँ पर यूनानी सभ्यता तथा संस्कृति को पनपने का अवसर ही न मिल सका। जो कुछ भी यूनानी सभ्यता के चिह्नावशेष भारत में बच गये हैं, वे बाद के सम्पर्क के कारण हैं। परन्तु सिकन्दर के आक्रमण से पंजाब की छोटी-छोटी रियासतें संगठित हो गईं जिससे भारत के भावी सम्राट् चन्द्रगुप्त का कार्य सरल हो गया।

सिकन्दर ने सदा विजित प्रदेशों में अपने उपनिवेश बनाने का प्रयास किया और सुन्दर-सुन्दर स्थानों पर नगर बनाकर अपने अनुयायियों को बस जाने को

कहा। भारत में उसने ऐसे तीन नगर बसाये :—वूकेफाल, जहाँ से यूनानियों ने झेलम पार करना प्रारम्भ किया था; निकाय, जहाँ कि सिकन्दर का पुरु के साथ युद्ध हुआ, तथा सिन्ध में सिकन्दरिया। भारत में सिकन्दर के आक्रमण के यही तीन स्पष्ट चिह्न बच सके।

जहाँ तक भारत में सिकन्दर के आक्रमण का संबंध है, यहाँ पर उसकी सैनिक प्रतिभा ने विशेष चमत्कार नहीं दिखाया; क्योंकि यहाँ उसे पंजाब के केवल उन छोटे-छोटे शासकों तथा सम्प्रदायों से लड़ना पड़ा, जो कि आये दिन स्वयं आपस में लड़ा करते थे तथा जिन्होंने एक सबल शत्रु के साथ एक साथ सम्मिलित होकर कभी युद्ध करने का प्रयास नहीं किया था। इतना होते हुए भी यूनानी सेना पुरु को बहुत सरलता से परास्त नहीं कर सकी। इस कारण सिकन्दर की सेना के हौसले इतने पस्त हो गये कि उन्होंने भारत में अधिक दिनों तक टिकना उचित न समझा।

सिकन्दर सदा विश्व-साम्राज्य स्थापित करने के स्वप्न देखा करता था तथा उसके अन्दर यही कामना थी कि वह अपनी विजयों द्वारा पौराणिक हैरेक्लीज तथा डायनीसस को मात कर दे। जो बिना युद्ध के उसकी अधीनता स्वीकार करते थे, उनसे वह मित्रता तथा सज्जनता का व्यवहार करता था। परन्तु अपनी दैवी उत्पत्ति के विश्वास ने उसे अभिमानी बना दिया था। उसके भारतीय आक्रमण में उतनी ही लूट, रक्तपात तथा गृह-दहन हु.! जितने कि आने-जानेवाले आक्रमणकारियों के आक्रमण में। एक निर्भ्रान्त इतिहास के विद्यार्थी के दृष्टिकोण से भारत के इतिहास का यह एक काला पृष्ठ है जो कि अभाग्यवश भारत के भाग्याकाश में कई बार प्रकट हो चुका है।

भारत के प्राचीन उल्लेख—सिकन्दर के इस आक्रमण से यूनानियों की भारत-विषयक ऐतिहासिक तथा भौगोलिक उत्कण्ठा बढ़ गई। सिकन्दर ने इस विषय में स्वयं भी दिलचस्पी ली और उसने अपने अनुयायियों को भारत तथा उसके निवासियों के विषय में लिखने के लिए उत्साहित किया। प्रायः सभी यूनानी तथा इटली के इतिहासकारों ने पूर्व के वर्णन में इनको तथा मेगस्थनीज के वर्णनों को अपना आधार माना। इनसे भारत के इतिहास-निर्माण में भी पर्याप्त सहायता मिली है।

अष्टम अध्याय

मौर्य-काल

नंद-वंश का विनाश तथा चन्द्रगुप्त मौर्य का सिंहासनारोहण

नंद-वंश—पहले कहा जा चुका है कि सिकन्दर महान् का विचार समस्त भारत को विजय करने का था। परन्तु पंजाब-विजय के पश्चात् उसकी सेनाओं ने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया। अतः सिकन्दर को प्रत्यावर्त्तन का आदेश देना पड़ा। जिन कारणों से सेना ने आगे बढ़ने से इन्कार किया था, उनमें दुआब और प्राच्य के राजा नन्द की विशाल एवं सुसंगठित सैन्य-शक्ति का भय भी था। पीछे बताया जा चुका है कि किस प्रकार उग्रसेन महापद्मनन्द ने मगध का राज्य-सिंहासन हस्तगत किया था। पुराणों में इस राजा को 'शूद्रागर्भोद्भव' कहा गया है। जैन परिशिष्टपर्वन में वह नापित-पुत्र बताया गया है जिसकी माता एक वीरांगना थी। यूनानी लेखक कर्टिअस भी उसे नापित-पुत्र कहता है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि नन्द-वंश निम्न जाति का था।

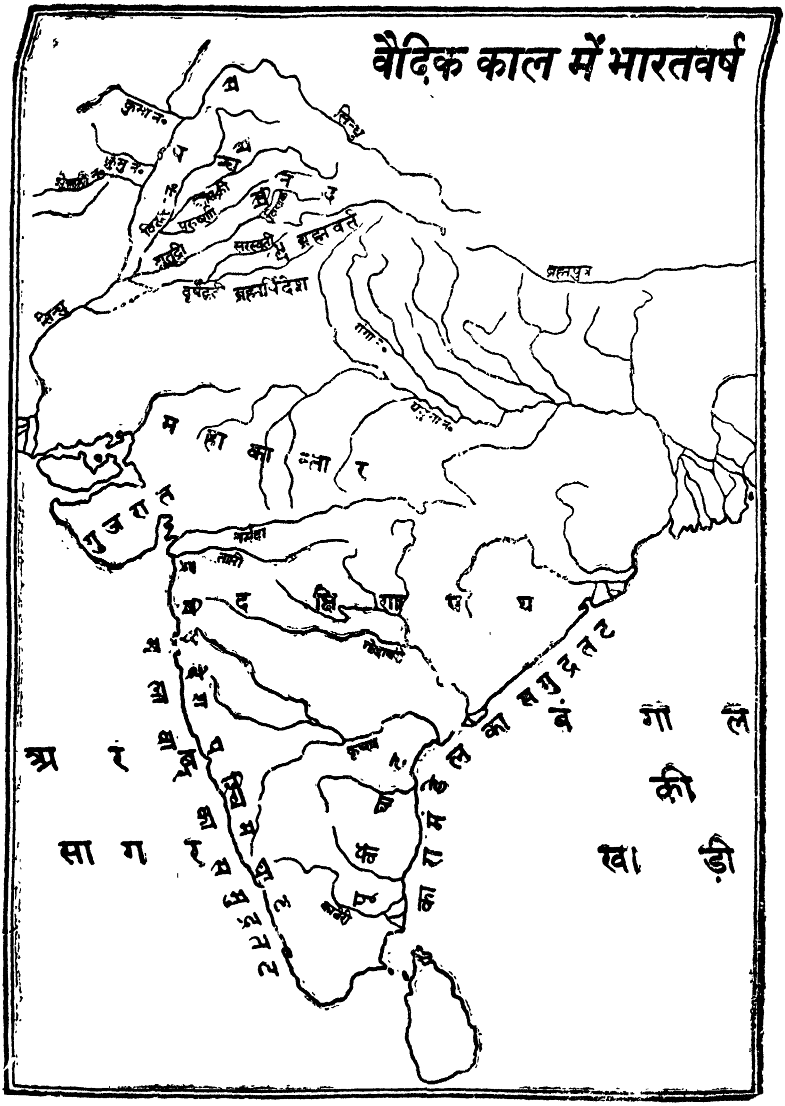
पुराणों से ज्ञात होता है कि महापद्मनन्द बड़ा वीर योद्धा था। उसने तत्कालीन उत्तर-भारत के समस्त राजवंशों—शैशुनाग, इक्ष्वाकु, कुरु, पाञ्चाल, काशी, मैथिल, वीतिहोत्र, हैहय, कलिंग, अश्मक और शूरसेन प्रभृति—को पराजित करके एकच्छत्र राज्य की स्थापना की। कथासारित्सागर से विदित होता है कि कोशल भी नन्द-राज्य के अन्तर्गत था। खारवेल के हाथीगुंफा शिलालेख के आधार पर यह निश्चित है कि कलिंग पर भी इस वंश का आधिपत्य था। कुछ शिलालेखों से कतिपय विद्वानों की यह धारणा है कि कदाचित् दक्षिण-भारत का कुछ भाग तत्कालीन मगध राज्य के अन्तर्गत था।

महापद्मनन्द के उत्तराधिकारी उसके आठ पुत्र हुए। सिकन्दर का समकालीन नन्द राजा धननन्द था। उसके पास २०००० पदातियों, २०००० अश्वारोहियों, २००० रथों तथा ३००० हस्तियों की एक विशाल सेना थी।

सैन्य-बल के अतिरिक्त राजा अपने विशाल धन-संचय के लिए प्रसिद्ध था। कदाचित् यह धन उसने अत्यधिक करों और लोलुपता के परिणामस्वरूप ही संचित किया होगा। इतना धन-बल होते हुए भी प्रजा उससे सन्तुष्ट न थी। उसके शूद्र-वंश, कठोर और लोलुप स्वभाव के कारण प्रजा में दिनोंदिन असन्तोष बढ़ता गया। अन्त में इस सार्वजनिक अशान्ति और असन्तोष से लाभ उठाकर चन्द्रगुप्त मौर्य ने महाकूटनीतिज्ञ चाणक्य की सहायता से नन्दवंश का अन्त कर दिया और स्वयं मगध पर अधिकार कर लिया।

चन्द्रगुप्त मौर्य—चन्द्रगुप्त मौर्य की जाति के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। बृहत्कथा के अनुसार वह अन्तिम नन्द राजा का पुत्र था। उसकी माता मुरा नाम की एक शूद्र स्त्री थी। कालान्तर में इसी मुरा से चन्द्रगुप्त का वंश 'मौर्य' कहलाया। बृहत्कथा के आधार पर लिखित 'मुद्रा-राक्षस' भी चन्द्रगुप्त को शूद्र बताता है। परन्तु विद्वान् इन उल्लेखों पर विश्वास नहीं करते। इसका कारण यह है कि इनके अतिरिक्त अन्य सब ग्रन्थ चन्द्रगुप्त मौर्य को क्षत्रिय मानते हैं। दिव्यावदान में बिन्दुसार और अशोक दोनों अपने को क्षत्रिय कहते हैं। महावंश और महावंश-टीका से प्रकट होता है कि हिमालय की तराई में मोरिय नाम की एक क्षत्रिय जाति रहती थी जो शाक्य नामक क्षत्रिय जाति से सम्बद्ध थी। यह जाति ऐसे स्थान पर रहती थी जो मोरों की अधिकता के लिए प्रसिद्ध था। इसी से इसका नाम 'मौर्य' पड़ा। पुनः महावंश-टीका का कथन है कि चन्द्रगुप्त का पिता इस जाति का प्रधान था जिसे एक राजा (कदाचित् नन्द?) ने युद्ध में मार डाला। तत्पश्चात् चन्द्रगुप्त की माँ, जो उस समय गर्भवती थी, भागकर पाटलिपुत्र में अपने सम्बन्धियों के घर चली आई। यहीं चन्द्रगुप्त का जन्म हुआ।

ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त प्रारम्भ में नन्दराज की सेना में एक सेनापति था। चारों ओर असन्तोष की भावना को देखकर उसने चाणक्य की, जो किसी कारण नन्दराज से क्रुद्ध था, सहायता से नन्दराज के विरुद्ध विद्रोह किया। परन्तु विद्रोह असफल रहा और दोनों को भागकर पंजाब जाना पड़ा। यहाँ पर दोनों ने एक स्थानीय सेना का संगठन किया और पंजाब में रही-



वैदिक काल में भारतवर्ष

सही यूनानियों की शक्ति को नष्ट करके उस प्रदेश पर अपना आधिपत्य जमा लिया। तत्पश्चात् नन्दवंश की बारी आई। इस कार्य में पर्वतक नामक एक पर्वतीय राजा ने भी चन्द्रगुप्त की सैनिक सहायता की। सैन्यबल और कूटनीति से चन्द्रगुप्त और चाणक्य को नन्द-वंश का नाश करने में सफलता मिली और इस प्रकार उत्तर-भारतवर्ष में मौर्य-राज्य की स्थापना हुई। चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक सम्भवतः ३२१ ई० पू० में हुआ।

साम्राज्य—केवल पंजाब तथा मगध की प्राप्ति से चन्द्रगुप्त की महत्त्वाकांक्षा तृप्त न हुई। उसने सात लाख की एक विशाल वाहिनी लेकर अपने साम्राज्य का दूर दूर तक विस्तार करना प्रारम्भ किया और अन्त में सम्पूर्ण उत्तरी-भारत में उसका आधिपत्य स्थापित हो गया। कुछ इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि वह दक्षिण की ओर भी दूर तक गया, परन्तु उसके साम्राज्य की दक्षिण सीमा को निश्चित रूप से निर्धारित करना कठिन है।

सेल्यूकस—सिकन्दर के सेनापतियों में, जो कि उसके मरते ही परस्पर लड़ने लगे, सेल्यूकस (जिसने 'निकेटार' या विजेता की उपाधि धारण की) ईसा से ३१२ वर्ष पूर्व प्रधान बन गया तथा उसका राज्य सीरिया से बैक्ट्रिया तक विस्तृत हो गया। उसकी सिकन्दर के समान बनने की महत्त्वाकांक्षा थी, अतः उसने ईसा से ३०५ वर्ष पूर्व सिन्धु नदी को पार किया और चन्द्रगुप्त का सामना किया। यूनानी इतिहासकार इस युद्ध के परिणाम पर मौन हैं, परन्तु संधि की शर्तों से यह ज्ञात होता है कि सेल्यूकस भारतीय सम्राट् से युद्ध में हार गया था। चन्द्रगुप्त ने सेल्यूकस को ५०० हाथी भेंट किये और बदले में उसे हिरात से लेकर बलूचिस्तान तक का प्रदेश मिला। इस संधि को पक्का करने के लिए चन्द्रगुप्त ने सेल्यूकस की पुत्री से विवाह भी कर लिया। इसके अतिरिक्त भारतीय सम्राट् के दरबार में सेल्यूकस का राजदूत मेगास्थनीज रहने लगा। मेगास्थनीज ने 'इण्डिका' नाम की एक पुस्तक लिखी थी जिसमें तत्कालीन भारतवर्ष की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था का अच्छा वर्णन किया था।

राज्य-त्याग—चन्द्रगुप्त के शासन-काल की और किसी भी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं मिलता। उसने २४ वर्ष तक अपने विशाल साम्राज्य

पर शासन किया। ईसा से २९६ वर्ष पूर्व उसका पुत्र बिन्दुसार सिंहासन पर बैठा। एक जैन परम्परागत अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त जैन-मतावलंबी था। वृद्धावस्था में वह जैन आचार्य भद्रबाहु (पाँचवाँ अध्याय देखिए) के साथ मैसूर की पहाड़ियों की ओर चला गया और जैनमत की रीति के अनुसार उपवास द्वारा मृत्यु को प्राप्त हुआ।

उसके महत्त्वपूर्ण कार्य—चन्द्रगुप्त के शासन-काल से भारतीय इतिहास का एक विशिष्ट अध्याय प्रारम्भ होता है। बिम्बिसार के शासन-काल की केन्द्रोन्मुखी शक्तियाँ अब अपने पूर्ण विकास तक पहुँच गईं और उत्तरी भारत की समस्त रियासतें तथा दक्षिणी भारत की भी कुछ रियासतें मगध के साम्राज्य में मिल गईं। उत्तर-पश्चिम में भारत अपनी प्राकृतिक सीमाओं से भी आगे बढ़ चुका था तथा यूनानियों ने भारत पर आक्रमण करने के विचार को कम से कम सौ साल के लिए स्थगित कर दिया था और भारतीय सम्राटों से मित्रता बनाए रखना ही वे उचित समझने लगे थे।

बिन्दुसार—चन्द्रगुप्त के चौबीस वर्ष के शासन-काल के पश्चात् उसका पुत्र बिन्दुसार सिंहासन पर बैठा, जिसका कि दूसरा नाम अमित्रखण्ड या अमित्रघट यूनानी इतिहासकारों ने लिखा है। वह चन्द्रगुप्त के विशाल साम्राज्य को ज्यों का त्यों बनाये रहा, यद्यपि उसके शासन-काल के अन्तिम दिनों में उसके राज्य में उसके विरुद्ध एक सार्वजनिक विद्रोह प्रारम्भ होने लगा था। वह पश्चिमी एशिया तथा मिस्र के यूनानी शासकों के साथ मित्रता बनाये रहा। सीरिया के ऐण्टियोकास तथा बिन्दुसार के बीच का वैयक्तिक पत्र-व्यवहार बहुत ही मनोरंजक है। बिन्दुसार ने ऐण्टियोकास से कुछ अंजीर, किशमिश, अंगूरी शराब तथा एक यूनानी दार्शनिक माँगे थे। ऐण्टियोकास ने अंजीर तथा शराब इत्यादि तो भेज दी, पर यूनानी दार्शनिक भेजने में असमर्थता दिखाई; क्योंकि यूनान के नियम के अनुसार दार्शनिक बेचा नहीं जा सकता था। बिन्दुसार पच्चीस वर्ष तक शासन करता रहा और ईसा से २७१ वर्ष पूर्व परलोक सिधारा।

ब—मेगास्थनीज

इण्डिका—चन्द्रगुप्त के शासन-प्रबन्ध के विषय में हमारे ज्ञान के दो

ही आधार हैं—प्रथम तो पाटलिपुत्र के राजदरबार से सिल्यूकस के राजदूत मेगास्थनीज के भारत-विषयक उल्लेख तथा दूसरा कौटिल्य का अर्थशास्त्र। परन्तु इन दोनों में ही कुछ त्रुटियाँ हैं। मेगास्थनीज की 'इण्डिका' की मूल प्रति अप्राप्य है। यूनानी इतिहासकारों के ऐतिहासिक उल्लेखों में इसके उद्धरण-मात्र मिलते हैं। परन्तु इन लेखकों ने ये उद्धरण भी शुद्ध नहीं दिये हैं और उनमें स्वयं अपनी टीका-टिप्पणी जोड़ दी है। अतः यह धारणा तर्कसंगत न होगी कि जो भी उद्धरण इन लेखकों ने मेगास्थनीज की पुस्तक से दिये हैं, वे मेगास्थनीज के ही लिखे हुए हैं। इसके अतिरिक्त इन उल्लेखों में बहुत से प्रादेशिक उल्लेखों को भारतव्यापी बना दिया गया है और एक विशिष्ट प्रान्त की प्रथाओं को समग्र भारत की प्रथा मान लिया गया है। इसके अतिरिक्त प्रायः ये सभी लेखक दन्तकथाओं तथा किंवदन्तियों तक में बहुत ही शीघ्र विश्वास कर लेते हैं। यहाँ तक कि मेगास्थनीज भी इसका अपवाद नहीं। सम्भवतः कोई भी अलौकिक घटना उनके विश्वास के अयोग्य न थी। परन्तु जहाँ तक उन वर्णनों का सम्बन्ध है, जिन्हें कि मेगास्थनीज ने स्वयं अपने साक्षात् अनुभव से लिखा है, वह विश्वास के योग्य माना जा सकता है।

राजधानी—गंगा तथा सोन के संगम पर वसा हुआ पाटलिपुत्र चन्द्रगुप्त की राजधानी रहा। मेगास्थनीज लिखता है कि यह नगर प्रायः ९ मील लम्बा तथा डेढ़ मील चौड़ा था, तथा चारों ओर एक लकड़ी की प्राचीर से घिरा हुआ था। इसमें चौंसठ फाटक थे और बाण चलाने के लिए छिद्र बने हुए थे। इस नगर में प्रायः पाँच सौ सत्तर मीनारें थीं। इसके चारों ओर एक ३०० फीट चौड़ी तथा तीस हाथ गहरी खाई थी जो कि आत्मरक्षा के लिए थी। इसमें समस्त नगर का मल फेंका जाता था।

शासन-प्रबन्ध—(अ) नगर-सम्बन्धी—नगर के पदाधिकारी छः समितियों में बँटे हुए थे तथा प्रत्येक समिति में पाँच सदस्य होते थे। प्रथम समिति के पास औद्योगिक कलाओं की रक्षा का भार था। दूसरी समिति मानवता के नाते विदेशियों की देख-भाल करती थी, यद्यपि कभी-कभी इस मानव-सेवा की भावना के भीतर राजनैतिक प्रयोजन भी निहित रहते थे। तीसरी

समिति पर जन-गणना का स्थायी भार था। इसके पास नागरिकों का एक रजिस्टर रहता था जिसे देखकर यह प्रत्येक नागरिक पर, उसकी आय के अनुकूल, कर लगाती थी। चौथी समिति व्यापार तथा वाणिज्य एवं नाप-तौल की देख-भाल करती थी। पाँचवीं समिति बनी हुई वस्तुओं का संरक्षण करती थी। छठी समिति बिकी हुई वस्तुओं के मूल्य का दशम भाग एकत्र करती थी। सामूहिक रूप से इन राज-पदाधिकारियों पर सार्वजनिक हितों, इमारतों तथा बाजारों की संरक्षा का भार था। मेगास्थनीज़ ने केवल राजधानी के इन नगर-पदाधिकारियों का ही उल्लेख किया है, परन्तु सम्भव है कि प्रायः सभी प्रमुख नगरों में यही व्यवस्था रही हो।

(ब) **सैन्य-प्रबन्ध**—इसी भाँति सैन्य पदाधिकारी भी पाँच पाँच सदस्यों की छः समितियों में बँटे हुए थे। प्रथम समिति जल-सेना के सेनापति के प्रबन्ध में सहायता करती थी। दूसरी समिति रसद का प्रबन्ध करती थी। शेष चार समितियाँ पैदल सेना, अश्वों, युद्ध-रथों तथा हाथियों की रक्षा और देख-भाल करती थीं।

(स) **ग्राम-प्रबन्ध**—इन दो नागरिक तथा सैन्य पदाधिकारियों के अतिरिक्त एक तीसरी श्रेणी के भी पदाधिकारी थे जिनके पास ग्राम्य शासन का भार था; परन्तु इनके विषय में हमें विशेष मालूम नहीं हो पाया है। संक्षेप में इनके पास भूमिकर, सिंचाई, जंगल, यातायात तथा आम देख-भाल का भार था।

राजसभा—राजसभा के वैभव तथा ऐश्वर्य की सीमा न थी। सम्राट् प्रायः स्त्रियों से घिरे रहते थे तथा मदिरापान किया करते थे। विशिष्ट अवसरों को छोड़कर प्रायः सम्राट् अपने प्रासाद के बाहर न निकलते थे। परन्तु चन्द्रगुप्त के पास कोई भी सामान्य जन पहुँच सकता था जिसके लिए प्रायः सभी पूर्वी सम्राट् प्रसिद्ध रहे हैं। दिन में वे न्यायालय में बैठते तथा प्रजा की शिकायतें सुनते थे और उनका सेवक उनकी मालिश करता, चरणों पर सुगन्धित वस्तुएँ मलता तथा बाल सँवारता था। मेगास्थनीज लिखता है कि इसी समय वह विदेशी राजदूतों से मिलते थे। जब वह यज्ञ के लिए या मृगया के लिए बाहर जाते, तो उनका शरीर-रक्षक साथ रहता था।

उनके चारों ओर सैनिकों का पहरा रहता था। वह स्वयं शासन की प्रत्येक व्यवस्था की देख-भाल करते थे, अतः उसकी दिनचर्या प्रायः व्यस्त रहती थी। उसके विषय में हम ऐसा सुनते हैं कि वह दिन में कभी न सोता था तथा उसका सारा दिन न्यायालय में प्रजा का दुख-दर्द सुनने में व्यतीत होता था। उसे हमेशा जीवन का भय रहता था, अतः षड्यन्त्रकारियों से बचने के लिए प्रायः वह रात्रि में सोने का स्थान बदल देता था।

सामाजिक स्थिति—इन सब उल्लेखों को देखकर पता चलता है कि भारतवर्ष ने मेगास्थनीज के मस्तिष्क पर अच्छा ही प्रभाव डाला। यद्यपि कानून अभी तक लिपिबद्ध न थे, फिर भी अपराध कम होते तथा मुकदमेबाजी विशेष न थी। "धरोहर तथा जमानत सम्बन्धी कोई मुकदमे न आते थे . . . . वे आपस में धरोहर रखते तथा एक दूसरे का विश्वास करते थे। वे अपने घर तथा अपनी सम्पत्ति प्रायः बिना रक्षक के खुली छोड़ देते थे।" लोग सुन्दर वस्त्र तथा आभूषणों के विशेष प्रेमी थे तथा अपने को सुन्दर बनाने का प्रयास करते थे। पाटलिपुत्र के लोग बेलबूटों से कढ़े हुए तथा रत्न-खचित मलमल के वस्त्र पहनते थे और जब कभी कोई सामन्त राजमार्ग से निकलता था तो उसके साथ उसका भृत्य उस पर छत्र लगाये हुए चलता था। मेगास्थनीज लिखता है कि "भारतीय ईमानदार होते हैं तथा अपने दरवाजो पर ताला नहीं लगाते हैं। उनके लेन-देन में कोई लिखा-पढ़ी नहीं होती और उन्हें न्याय के लिए न्यायालयों में बहुत कम जाना पड़ता है। उनके आपसी झगड़े पुराने काल से चली आई प्रथाओं के अनुसार पंचायत ही में तय हो जाते हैं।" विद्या का दान प्रायः मौखिक था और प्रायः सभी लौकिक तथा धार्मिक पुस्तकें कण्ठाग्र कर ली जाती थीं। जैसा कि हमें अन्य स्मृतियों से ज्ञात होता है, उसके प्रतिकूल मेगास्थनीज इस बात को जोर से कहता है कि भारत में दास-प्रथा न थी।

मेगास्थनीज के अनुसार भारतीय जनता सात वर्गों में बँटी हुई थी। दार्शनिक (ब्राह्मण तथा श्रमण); किसान, अहीर तथा गड़रिये, शिल्पकार, योद्धा, निरीक्षक तथा परामर्शदाता या सभासद। यह जानकर हर एक पाठक को बड़ा कुतूहल होगा कि यहाँ की वर्ण-व्यवस्था एक विदेशी के दृष्टिकोण में कैसी मालूम होती है। यह उसके लिए असम्भव था कि वह यहाँ की वर्ण-व्यवस्था

का रहस्य जान सके। अतः उस पर उसके जो विचार हैं, कुतूहलजनक अवश्य हैं पर विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं।

अधिकांश जन-संख्या खेतिहर किसानों की थी और वे उपज का चतुर्थांश भूमिकर के रूप में देते थे। युद्ध के समय भी खेतों की रक्षा की जाती थी। और यदि रक्षा करने पर भी फसल का नाश हो जाता था, तो किसानों को उसके लिए मुआवजा मिलता था। सिंचाई के लिए सम्राट् स्वयं विशेष ध्यान देते थे।

मेगास्थनीज ने पंजाब में प्रचलित कुछ विचित्र प्रथाओं का उल्लेख किया है, जैसे विवाह-योग्य लड़कियों का बेचना तथा विधवाओं का जला देना इत्यादि। भारतीय स्त्रियों की स्थिति के विषय में उसकी बहुत ही निम्न धारणा है। उसका कथन है कि ब्राह्मण उन्हें दार्शनिक वार्ताओं में सम्मिलित न होने देते थे। इससे यह ज्ञात होता है कि समाज में स्त्रियों की स्थिति वैदिक काल की अपेक्षा गिर गई थी।

स—कौटिल्य

अब हम एक दूसरे प्रकार के साहित्य की ओर आते हैं जिससे मौर्य-काल के शासन-प्रबन्ध तथा सामाजिक व्यवस्था का विवरण मालूम होता है। ऐसा कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त के मन्त्री कौटिल्य ने उसके पथ-प्रदर्शन के लिए अर्थशास्त्र नाम की एक पुस्तक लिखी जिसका विषय राजनीति था। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्र, जो कि १९०५ में खोज निकाला गया है, वास्तविक अर्थशास्त्र है अथवा नहीं, इस विषय में विद्वानों में मतभद है। इस समस्या को बार-बार सुलझाने का प्रयास किया गया है और यद्यपि अब यह विश्वास धीरे-धीरे बढ़ने लगा है कि आधुनिक अर्थशास्त्र चन्द्रगुप्त के मन्त्री का ही लिखा हुआ है, फिर भी अभी तक यह संदेहास्पद ही है। यदि हम इस पुस्तक को मूल पुस्तक मान भी लें तब भी हमें ऊपर धर्मसूत्र के विषय में कही हुई बात याद रखनी चाहिए कि यह केवल राजनीति की सैद्धान्तिक पुस्तक है जिसमें कुशल शासन के विषय में कौटिल्य के विचार दिये हुए हैं;

परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये सिद्धान्त रोज के शासन-प्रबन्ध में कार्य-रूप में लाये जाते थे अथवा नहीं।

शासन-प्रबन्ध—(अ) **केन्द्रीय**—कौटिल्य के अनुसार सार्वजनिक विषयों पर सम्राट् को मन्त्रणा देने के लिए तीन-चार अमात्य होने चाहिए। इसके अतिरिक्त एक मन्त्रि-परिषद् होनी चाहिए जिसके सदस्यों की संख्या परिस्थिति तथा आवश्यकता के अनुसार कम-ज्यादा हो सकती है। पर इस परिषद् के मन्त्रियों की संख्या अमात्यों से ज्यादा होगी। राज्य के दो बड़े पदाधिकारी थे: प्रथम तो सन्निधातृ (राजकुटुम्ब का प्रबन्धक तथा कोष एवं सिक्कों के प्रचलन का व्यवस्थापक) तथा दूसरा समाहर्तृ (कर एवं चुंगी इत्यादि को इकट्ठा करनेवाला सर्वोच्च पदाधिकारी)। उनके नीचे लगभग पच्चीस अध्यक्ष होते थे, जैसे नमक का अध्यक्ष (जो देशी तथा बाहर से आये हुए नमक का कर वसूल करता था)। सोना, जंगल, वाणिज्य, चुंगी, कपड़ा बिनना, कृषि, अश्व, हाथी, रथ, पदाति सेना तथा जलसेना इत्यादि प्रत्येक का एक अध्यक्ष होता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि कौटिल्य सेना के पदाधिकारियों तथा नागरिक पदाधिकारियों में कोई भेद नहीं मानता जब कि मेगास्थनीज मानता है।

(**ब**) **प्रान्तीय समाहर्तृ** देश को चार भागों में बाँटता था तथा प्रत्येक भाग का प्रान्तीय शासक स्थानिक के नाम से पुकारा जाता था। स्थानिक अपने प्रान्त को पाँच या दस ग्राम के समूहों में बाँट देता था जिनका शासक या संरक्षक गोप कहलाता था। कुछ कमिश्नर (प्रदेष्ट) नियुक्त किये जाते थे जो स्थानिकों तथा गोपों के कार्यों का निरीक्षण करते थे। इनमें प्रत्येक पदाधिकारी को, कार्य-सहायता के लिए, अनेक गुप्तचर मिलते थे।

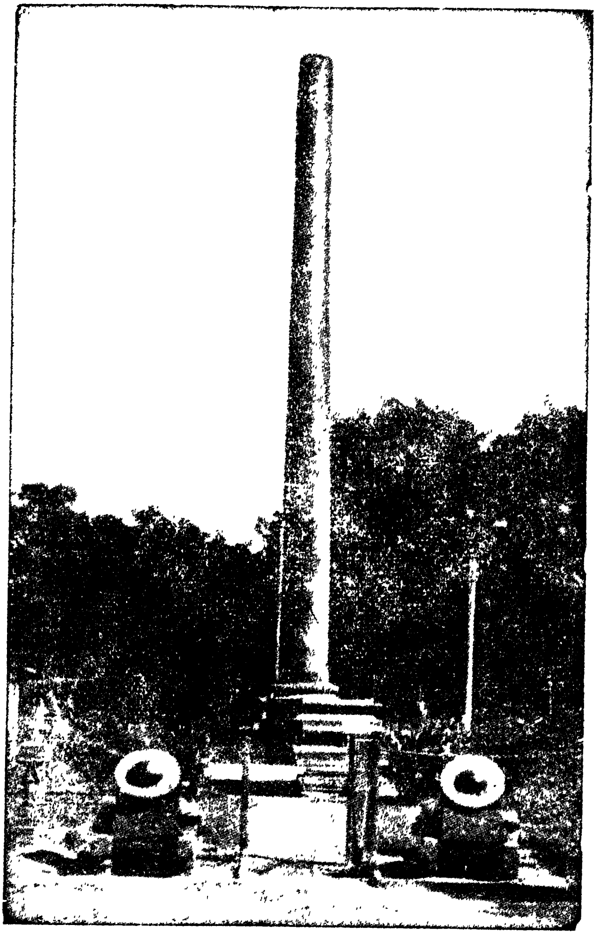
(**स**) **नगर**—नगर का पदाधिकारी नागरिक समाहर्तृ की भाँति, अपने नगर को चार भागों में बाँट देता था तथा प्रत्येक का शासक स्थानिक होता था। यह स्थानिक दस, बीस अथवा तीस कुटुम्बों पर एक संरक्षक गोप नियुक्त करता था। हमेशा जन-गणना का हिसाब रखना, विदेशियों तथा सार्वजनिक इमारतों का संरक्षण करना, अग्नि से बचाने का प्रबन्ध करना, तथा कैदियों को कारागार से मुक्त करना इत्यादि गोपों का काम था।

न्याय—दो प्रकार के न्यायालय थे; धर्मस्थेय तथा कण्टका-शोधन जो कि कुछ आधुनिक दीवानी तथा फौजदारी कचहरियों से मिलते हैं। प्रथम के संरक्षक तीन अमात्य या प्रदेष्ट या धर्मस्थ होते थे तथा दूसरे का नियन्त्रण तीन अमात्य या प्रदेष्ट करते थे। चरागाहों का निरीक्षक या चोरों को पकड़नेवाला चोर-रज्जक चोरी के न मिलने पर उसका जिम्मेदार होता था तथा उसे हर्जाना देना पड़ता था। दोनों ही दीवानी तथा फौजदारी के मुकदमों में न्यायाधीश गवाहों को बुलाता तथा उनकी गवाही सुनता था।

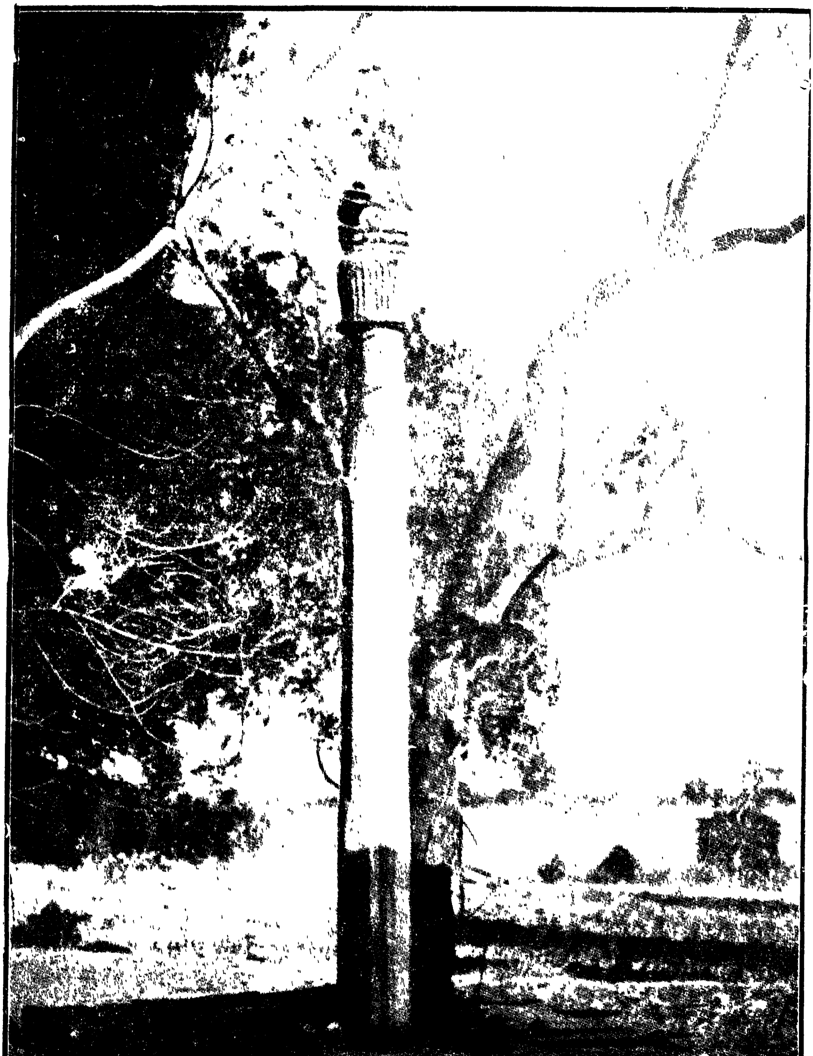
शासन का ढंग—इस प्रकार हम देखते हैं कि कौटिल्य के शासन-प्रणाली-विषयक सिद्धान्तों में केवल आम बातें दी हुई हैं। परन्तु जैसा कि यातायात के साधनों के अभाव में होता है, केन्द्रीय शासन तभी प्रान्तीय शासन में सफल हस्तक्षेप कर सकता है जब कि शासन योग्य तथा दूरदर्शी हो।

परन्तु शासन-व्यवस्था वास्तव में बहुत कड़ी थी। कौटिल्य ने छोटे अपराधों तक के लिए प्राणदण्ड की व्यवस्था की है। मेगास्थनीज भी कहता है कि हाथ-पैर के काटने की सजा प्राय: दी जाती थी तथा अपराधी को अपना अपराध स्वीकार करने के लिए हर प्रकार का कष्ट देना न्याय समझा जाता था। गुप्तचरों की संख्या बहुत थी और यदि चाणक्य की गुप्तचर तथा गुप्तचरों पर गुप्तचर नियुक्त करने की योजना काम में लाई गई होती, तो सम्भवत: किसी से भी घनिष्ठता रखना एक खतरे की चीज हो जाती।

राजकर्तव्य—कौटिल्य के विधान के अनुसार प्रत्येक नागरिक के जीवन के हर क्षेत्र में निदर्शन करना राज्य का कर्तव्य था। जनता के मनोरंजन तथा आतिथ्य की व्यवस्था और नियन्त्रण करना भी राज्य का कर्तव्य था। देश के अन्दर तथा बाहर आने-जानेवालों का निरीक्षण करना पड़ता था। गरीबों, असहायों, वृद्धों तथा बालकों को सहायता देना भी उसका कर्त्तव्य था। व्यापारियों, कारीगरों तथा उनकी संस्थाओं पर नियंत्रण भी रखना पड़ता था। इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता था कि दूकानदार खराब चीज बेचकर ग्राहकों को ठग न सकें। कृषि के लिए सिंचाई का प्रबन्ध करना उसका एक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य था। बाढ़, आग, संक्रामक रोग तथा टिड्डी आदि आकस्मिक विपत्तियों से प्रजा को बचाना राज्य का कर्तव्य था। हर प्रकार से अधिक से अधिक कर तथा चुंगी वसूल करने का



इलाहाबाद के किले में अशोक का स्तम्भ



लुम्बिनी बाग में अशोक का स्तम्भ

प्रयास किया जाता था। संक्षेप में राज्य एक ऐसा शक्तिशाली संगठन था, जो अपनी सीमा में होनेवाली प्रायः सभी बातों से सम्पर्क रखता था।

एक ही परिवार के विभिन्न सदस्यों के भी पारस्परिक व्यवहार की देख-भाल राज्य करता था। जब तक अपने आश्रितों का ठीक प्रबन्ध न कर ले, तब तक कोई भी परिवार छोड़ नहीं सकता था। सम्बन्ध-विच्छेद, विभाजन तथा द्वितीय विवाह इत्यादि के नियम बने हुए थे।

दूसरी रियासतों से सम्बन्ध—कौटिल्य की शासन-व्यवस्था उस छोटे से राज्य के लिए थी जो चारों ओर अन्य छोटे-छोटे राज्यों से घिरा हो। अपने पड़ोसी राज्यों को पदाक्रान्त कर अपने राज्य को बढ़ाने का राजाओं को उपदेश दिया गया है। दो राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध में नैतिक या सभ्यतापूर्ण नियमों का अभाव दिखाई पड़ता है। विश्वास-घात, विष-प्रयोग तथा हत्या इत्यादि पग-पग पर राज्यों द्वारा नियुक्त गुप्तचर किया करते थे। (3)

ह—अशोक

पूर्वाभास—जब बिन्दुसार के पश्चात् अशोक सिंहासन पर बैठा तो वह शासन-कार्य से बिलकुल अनभिज्ञ न था। अपने पिता के शासन-काल में ही वह मध्यभारत तथा तक्षशिला का शासक रह चुका था, जहाँ उसने एक विद्रोह का दमन भी किया था। बौद्ध-मत की एक किंवदन्ती के अनुसार उसका सिंहासनारोहण शान्तिपूर्वक नहीं हुआ था, क्योंकि स्वयं सिंहासन पर बैठने के लिए उसे अपने कई एक भाई मारने पड़े थे। इस कारण उसका वैधानिक राज्य-तिलक चार वर्ष तक रुका रहा। यदि इस कथानक को सत्य मान लिया जाय तो उसके राज्याभिषेक की तिथि ईसा से २६७ वर्ष पूर्व ठहरती है, भले ही उसने ईसा से २७१ वर्ष पूर्व सिंहासन पर अधिकार कर लिया हो। परन्तु इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि इन सभी तिथियों की सत्यता चन्द्रगुप्त-शासन के प्रारम्भ की तिथि पर निर्भर करती है।

उपाधि—शिलालेखों में अशोक ने प्रायः अपने नाम के साथ प्रियदर्शी (या संस्कृत में प्रियदर्शिन्) की उपाधि लगाई है। इसके अतिरिक्त उसने अपने लिए आदरसूचक 'देवानां प्रिय' (देवताओं का प्रिय) की उपाधि भी प्रयुक्त की है।

कलिंग—राज्याभिषेक के आठ वर्ष पश्चात् अर्थात् ईसा से २५९ वर्ष पूर्व अशोक ने कलिंग (उड़ीसा) पर आक्रमण किया। कलिंग जीता तो अवश्य गया; परन्तु युद्ध में बहुत आदमी काम आये। ऐसा उल्लेख मिलता है कि एक लाख पचास हजार आदमी बन्दी हुए, एक लाख तलवार के घाट उतारे गये तथा कई हजार घायल हुए। कलिंग प्रदेश को जीतने के लिए ही इतनी हत्याएँ हुईं और संख्या की इतनी क्षति हुई। यह सोचकर सम्राट् को अपने किये पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। इस घटना के कुछ दिनों पश्चात् अशोक पर एक बौद्ध भिक्षु का विशेष प्रभाव पड़ा तथा उसने बौद्ध-धर्म ग्रहण किया। परन्तु एक वर्ष तक उसने मत के प्रचार के लिए विशेष प्रयास नहीं किया। इसके पश्चात् उसने संघ का निरीक्षण किया तथा बड़े प्रेम से बौद्ध-मत को अपनाकर वह बड़े उत्साह से उसके फैलाने में लगा गया। परन्तु फिर भी अपने जीवन के अधिकांश भाग में वह अन्य धर्मों या मतों को उतनी ही श्रद्धा से देखता था जितना कि बौद्ध-मत को।

अन्य राजाओं की भाँति अशोक भी पहले मांस खाता था, परन्तु क्रमशः वह जीवों के प्रति दयालु हो गया; क्योंकि एक शिलालेख में अशोक ने आदेश दिया है कि केवल तीन पशु कढ़ी के लिए मारे जायँ' दो मोर और एक हरिण (राज-पाकशाला के लिए) और यह हरिण भी नित्य नहीं। कुछ समय के पश्चात् उसने पुनः आज्ञा दी कि ये तीन पशु भी अब आगे से न मारे जायँ।

धर्म-प्रचार—अशोक के शासन-काल का प्रायः सम्पूर्ण भाग केवल एक उद्देश्य की पूर्ति में लगा—जनता की भलाई तथा उसमें धर्म का प्रचार। राज्य के प्रायः सभी अंग इसी एक उद्देश्य की पूर्ति में जुटा दिये गये। उसने आखेट तथा प्रमोद की यात्राएँ करनी प्रारम्भ कर दीं। इन यात्राओं में वह बौद्ध-मत के तीर्थस्थानों का दर्शन करता था, जैसे बोधि-वृक्ष तथा लुम्बिनी का उद्यान जहाँ पर कि महात्मा बुद्ध उत्पन्न हुए थे। राजा की इस यात्रा में बौद्ध भिक्षुओं तथा ब्राह्मणों को दान दिया जाता था। वृद्धजनों को सोना बाँटा जाता था तथा ग्रामीण जनों को धर्म-शिक्षा दी जातीं थी। उसने अपने उच्च पदाधिकारियों को आज्ञा दे रक्खी थी कि वे नैतिक शिक्षा के लिए प्रति पाँचवें वर्ष दौरा किया करें। उसके पश्चात् अपने राज्याभिषेक के १३

वर्ष बाद उसने इस कार्य के लिए कुछ विशिष्ट पदाधिकारी नियुक्त किये जो कि धर्ममहामात्र कहलाते थे। उनको इस बात का आदेश था कि वे जनता के नैतिक चरित्र की देख-भाल करें तथा उन्हें धर्म-नीति सिखायें। उसने अपने साम्राज्य भर में चट्टानों, स्तम्भों तथा पाषाण-खण्डों पर अपने उपदेश खुदवाये जिनको कि लोग सरलतापूर्वक पढ़ सकें तथा उनका अनुसरण कर सकें।

नैतिक शिक्षा—अपने अनेक शिलालेखों में अशोक ने सच्चे धर्म की परिभाषा बतलाई है। उसकी नैतिक शिक्षा अपनी सरलता तथा स्पष्टता के लिए सराहनीय है। उदाहरण के लिए माता-पिता तथा बड़ों की आज्ञा मानना, गुरु की प्रतिष्ठा करना, ब्राह्मणों, भिक्षुओं, सम्बन्धियों, नौकरों तथा गरीबों के साथ उचित व्यवहार करना, जीवों के प्रति अहिंसा, भिन्न मतों के प्रति उदारता, दया, दान, सत्य-प्रियता, शुद्धता, नम्रता, अल्पार्थभाण्डता, मित-व्ययिता, कृतज्ञता तथा आत्म-निरीक्षण इत्यादि। ये ही अशोक के सच्चे धर्म के प्रधान अंग थे। जिन बुराइयों का उसने निषेध किया है, वे भी साधारण हैं जैसे कि अधैर्य, क्रूरता, क्रोध, अभिमान तथा घृणा। अतः उसके उपदेशों में कोई अनहोनी या दिखावटी चीज न थी। उनमें प्रायः सभी धर्मों में पाई जानेवाली सामान्य नैतिक शिक्षाएँ मात्र हैं। उसकी इस धर्म-प्रणाली में कर्म-काण्ड या दार्शनिक कट्टरता न थी।

सहनशीलता—अशोक की एक पूरी राजघोषणा धर्म-सहिष्णुता से सम्बन्ध रखती है। उसका कथन है कि दूसरे के सम्प्रदाय की निन्दा करके मनुष्य स्वयं ही अपने सम्प्रदाय की बुराई करता है। अतः इसमें प्रजा से इस बात का अनुरोध किया गया है कि वह सच्चे धर्म का अनुसरण करे और धार्मिक झगड़ों में न पड़े। स्वयं अपने आचरणों से उसने प्रजा के सामने इसका उदाहरण रक्खा। ब्राह्मणों की वह उतनी ही प्रतिष्ठा करता तथा दान देता था जितना कि बौद्ध भिक्षुओं को। उसने आजीवक सम्प्रदाय के कुछ साधुओं को गया के पास बराबर पहाड़ियों में कुछ गुफाएँ भेंट की थीं। इससे इस बात का पता चलता है कि अशोक इन भिन्न-भिन्न मतों को एक दृष्टि से देखता था।

बौद्धमत के अनुयायी के रूप में अशोक—परन्तु उसके इस धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त तथा अभ्यास से यह न समझना चाहिए कि बौद्ध-मत से उसका अनुराग कम था। उसने इसके प्रचार तथा सेवा में बड़ी तत्परता दिखाई तथा यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि वह अपने समय के बौद्ध संघारामों का प्रधान महास्थविर था। उसके बौद्ध-धर्म के सम्बन्ध के विषय में अनेक कथाएँ तथा दन्तकथाएँ चल पड़ी हैं जिनमें से कुछ अशोकावदान नामक पुस्तक में पाई जाती हैं जो कि स्वयं दूसरी या तीसरी शताब्दी में लिखी गई एक बड़ी पुस्तक दिव्यावदान का अंश मात्र है।

ऐसा कहा जाता है कि उसकी अध्यक्षता में पाटलिपुत्र में बौद्धों की तृतीय धर्म-सभा बुलाई गई। उसने अनेक प्रचारक भारत के बहिर्प्रदेशों तथा लंका एवं ब्रह्मा में धर्मप्रचार के लिए भेजे। लंका को जानेवाले धर्म-प्रचारक-वर्ग के अध्यक्ष महेन्द्र तथा संघमित्रा स्वयं अशोक के पुत्र तथा पुत्री (या एक किंवदन्ती के अनुसार भाई तथा बहिन) थे। लंका जाते समय मार्ग में उन्होंने गया के बोधि-वृक्ष की एक शाखा साथ में ले ली तथा उसे लंका के अनुराधापुर नामक नगर में लगाया।

अशोक के कुछ शिलालेखों से भी इस बात का पता चलता है कि वह बौद्ध-धर्म का वस्तुतः पूर्ण नियामक था। एक शिलालेख में उसने बौद्ध भिक्षुओं के निरन्तर ध्यान एवं भजन के लिए महात्मा बुद्ध के सात उपदेश बतलाये हैं। एक दूसरे लेख में, जो कि धर्म-मतभेद की राजघोषणा के नाम से प्रसिद्ध है, उसने कहा है कि यदि कोई भी भिक्षु बौद्धमत के संघ में मत-भेद पैदा करने का प्रयास करेगा तो उसे श्वेत वस्त्र पहनाकर (जो कि भिक्षुओं को न पहनना चाहिए) संघ से निकाल दिया जायगा।

ऐसी एक कथा प्रचलित है कि वृद्धावस्था में अशोक ने अपनी इस धार्मिक तथा दान प्रवृत्ति से राजकोष को प्रायः खाली कर डाला। अतः उसे बिलकुल धनहीन हो मठ में चला जाना पड़ा तथा राज्य की बागडोर अपने मन्त्रियों के हाथ में दे देनी पड़ी।

जनता का हित—जनता के आत्मिक उत्थान के अतिरिक्त उसने उसकी आर्थिक तथा सांसारिक भलाई करने का भी प्रयास किया। अपने

शासन के प्रारम्भ काल में ही उसने आदमियों तथा पशुओं दोनों के ही लिए अनेक चिकित्सालय खुलवाये, जिनमें अनेक दुर्लभ औषधियाँ बाहर के देशों से मँगाकर प्रयोग में लाई जाती थीं। उसने सड़कों के किनारे कुएँ खुदवाये तथा बराबर-बराबर दूरी पर पेड़ लगवाये।

अपने स्तम्भ-लेख की सातवीं घोषणा में वह कहता है :—

"सड़कों के किनारे मैंने वटवृक्ष लगवा दिये हैं, जो मनुष्यों तथा पशुओं को छाया-सुख देंगे। प्रत्येक आठ कोस के अन्तर पर मैंने कुएँ खुदवा दिये हैं तथा धर्मशालाएँ बनवा दी हैं। मनुष्यों तथा पशुओं दोनों के ही मनोरंजन के लिए मैंने जलाशय बनवा दिये हैं। परन्तु मनोरंजन के ये साधन बहुत अल्प महत्त्व के हैं, क्योंकि मुझसे पूर्व भी अनेक राजाओं ने जनता के लिए अनेक सुख-साधनों को जुटाया है। परन्तु मैंने यह सब इस विचार से किया है कि लोग धर्म्म-पथ का अनुसरण करें।"

इस सम्बन्ध में एक बौद्धमत की पुस्तक (संजुक्त निकाय) की निम्न-लिखित पंक्तियाँ बड़ी ही मनोरंजक हैं—

'बतलाओ, किन लोगों में गुण निरन्तर रात-दिन बढ़ा करता है? सत्य-शीलता तथा यशोमय बल-द्वारा कौन लोग पृथ्वी से स्वर्ग को जाते हैं?'

'फलवाले वृक्षों के बगीचे लगानेवाले तथा वे जो बाँध, पुल, कुआँ तथा जलाशय बनवाते हैं एवं गृह-विहीनों को आश्रय देते हैं।'

'ये ही वे लोग हैं जिनके पुण्य निरन्तर रात-दिन बढ़ा करते हैं, तथा जो अपनी सत्यनिष्ठा एवं पुण्य के बल से पृथ्वी से स्वर्ग पहुँच जाते हैं।'

राजपदाधिकारी प्रजा के साथ दुर्व्यवहार न करे, इस विचार से उसने उनसे कह रक्खा था कि वह प्रजा के साथ पैतृक शासन चाहता है। अतः उनके आचरणों का निरीक्षण करने के लिए उसने महामात्र नियुक्त किये। अपने सारे साम्राज्य में न्याय सम्बन्धी जाँच तथा दण्ड के विधान में एकता लाने के लिए उसने राजुक नामक अपने उच्च पदाधिकारियों को पर्याप्त स्वतंत्रता दे रक्खी थी।

राजुकों के विषय में सम्राट् का कथन है कि :—

'जिस प्रकार अपनी सन्तान को एक बुद्धिमान् धात्री के सिपुर्द कर देने के

पश्चात् मनुष्य अपने को यह समझकर निश्चित हो जाता है कि यह बुद्धिमती धात्री मेरे बच्चे का पालन करना चाहती है, इसी प्रकार मैंने भी प्रान्तीय हितों के लिए इन राजुकों को नियुक्त किया है ताकि वे अपने कर्त्तव्यों का पालन निर्भय होकर कर सकें तथा उन्हें कोई व्यग्रता न हो।'

प्राण-दण्ड पानेवाले अपराधियों को वह तीन दिन का समय देता था ताकि इस बीच में उसके सम्बन्धी राजुक से उसके प्राणदान के लिए अनुनय-विनय करें और यदि प्राण-दान सम्भव न हो, उसे निर्धनों को दान देने का तथा ध्यान एवं चिन्तन द्वारा परलोक सुधारने का अवसर मिल सके। जनता का हित करना ही उसकी हार्दिक इच्छा थी और इसकी पूर्त्ति के लिए बड़े से बड़ा प्रयास उसकी दृष्टि में बड़ा न था।

पशु—एक सच्चे बौद्धधर्मावलम्बी की भाँति अशोक पशुओं का बहुत ही ध्यान रखता था। मनुष्यों के साथ साथ चिकित्सालयों में उनकी भी उचित चिकित्सा होती थी तथा सड़क के किनारे बनाये गये कुओं और पेड़ों का उपयोग पशुओं के लिए उतना ही था जितना मनुष्यों के लिए। इसके अतिरिक्त उसने कुछ पशुओं की हत्या तो राजाज्ञा से बिलकुल बन्द करवा दी थी तथा दूसरों की भी हत्या काफी कम करवा दी थी।

अशोक एक पुण्यवान् तथा धार्मिक शासक था जो कि राज-कार्य के संचालन में बहुत ही कुशल था तथा सारे विश्व का हित-सम्पादन करने के लिए चिन्तित रहता था। वह अपनी एक राजघोषणा में कहता है कि :—

'मैं किसी भी कार्य के सम्पादन या उसके लिए किये गये प्रयास से सन्तुष्ट नहीं होता। समग्र विश्व का कल्याण मेरे लिए एक श्रद्धा के योग्य कर्तव्य है। उसके सम्पादन के लिए जो थोड़ा-बहुत प्रयास मैं कर पाता हूँ, वह इसलिए है कि मैं इन जीवों के ऋण से मुक्त हो जाऊँ तथा उन्हें इस लोक में आनन्द देकर परलोक में भी स्वर्ग के योग्य बना सकूँ। इसी लिए मैंने ये धर्म-शिक्षाएँ खुदवा रक्खी हैं ताकि बहुत दिनों तक वे प्रजा को सन्मार्ग में चलने की प्रेरणा देती रहें तथा मेरे पश्चात् आनेवाले मेरे पुत्र तथा प्रपौत्र भी इसी भाँति जनता की सेवा में अपने को लगाये रक्खें।'

वैयक्तिक जीवन—अपने शासन के प्रारम्भ काल में ही अशोक ने

राजप्रासाद में मांस का प्रयोग बहुत कम कर दिया था। ऐसा उल्लेख मिलता है कि पहले केवल कढ़ी के बनाने के लिए प्रतिदिन हजारों पशुओं की हत्या की जाती थी। परन्तु अब संख्या घटाकर दो मोर तथा एक हिरन तक सीमित कर दी गई थी तथा लोगों को विश्वास दिला दिया गया था कि क्रमशः समय आने पर यह नाम-मात्र की हत्या भी समाप्त हो जावेगी।

राजकार्यों का इतना असीम विस्तार सम्भवतः असम्भव हो जाता यदि सम्राट् स्वयं उसके लिए प्रयास न करते। सम्राट ने इसके लिए आवश्यकता के अनुसार स्तुत्य प्रयास किया। उसे यह जानकर दुःख हुआ कि बहुत दिनों तक उसका कार्य-व्यापार नियमित रूप से नहीं चल सका। अतः उसने इस बात की घोषणा की कि वह जनता का कार्य हर समय तथा हर स्थान पर करेगा। इतना होने पर भी वह अपने प्रयास से सन्तुष्ट न था तथा हमेशा जन-सेवा के लिए अधिक से अधिक परिश्रम करने को प्रस्तुत रहता था।

शासन-प्रबंध—उसे शासन-प्रबन्ध में सहायता देने के लिए एक परिषद् थी जो कि सम्राट् की आज्ञा महामात्रों तथा राज्यपदाधिकारियों तक पहुँचाती थी। महामात्र अनेक वर्गों में बँटे हुए थे—जैसे कि धर्म महामात्र, स्त्र्यध्यक्ष महामात्र (स्त्रियों के निरीक्षक), अन्त महामात्र (सीमान्त कराध्यक्ष) इत्यादि। राजुक भी राज्य के उच्च पदाधिकारी थे, जिनका कर्तव्य था न्याय करना तथा सम्भवतः भूमिकर भी वसूल करना। प्रान्तीय शासक प्रादेशिक और जिलाधीश युक्त कहलाते थे तथा नगर के न्यायाधीश नगर-व्यावहारिक कहलाते थे।

पूरा साम्राज्य चार प्रान्तों में बँटा हुआ था—तक्षशिला, उज्जैन, तोशाली (उड़ीसा प्रान्त में आधुनिक धौली) तथा सुवर्णगिरि (दक्षिण में जिसका अभी तक ठीक पता नहीं लग पाया है) जिनके कि शासक राजपरिवार के चार युवराज होते थे। इनमें से प्रत्येक की सहायता के लिए एक परिषद् होती थी। इन युवराजों को अपने-अपने प्रान्तों में पर्याप्त स्वतन्त्रता मिली हुई थी तथा इनकी सहायता के लिए अनेक राजपदाधिकारी होते थे।

अन्य क्षेत्रों में अशोक ने अपने पितामह चन्द्रगुप्त की शासन-व्यवस्था

का ही अनुसरण किया। केवल परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार उसने उसमें कुछ नये सुधार किये जो इस प्रकार हैं :—

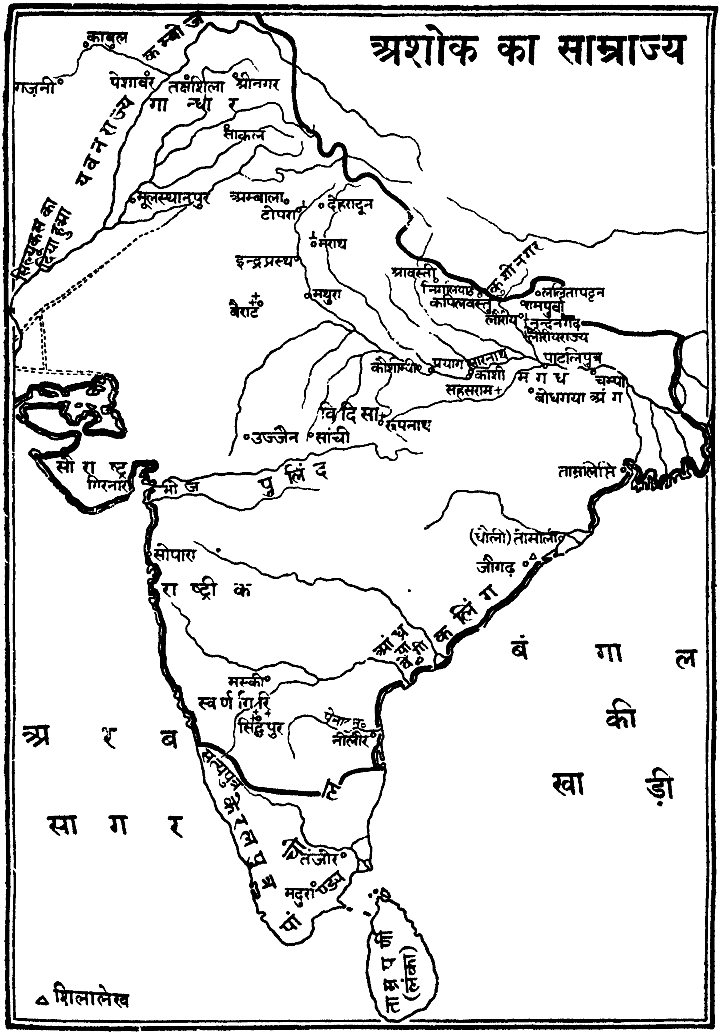
(१) सर्वप्रथम उसने धर्म-महामात्र नामक नवीन अधिकारियों की नियुक्ति की। अशोक के शासन का लक्ष्य प्रजा की भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति थी। अतः इन नवीन अधिकारियों के कार्य भी दोनों क्षेत्रों से सम्बद्ध थे। विभिन्न मतानुयायियों के हितों की रक्षा, दान-शालाओं का नियन्त्रण, अन्याय और अनुचित दण्डों का दूरीकरण तथा जन-साधारण के आचरण को उन्नतिशील करना इनके प्रमुख कर्त्तव्य थे। ये समय-समय पर विभिन्न प्रान्तों का दौरा करते थे तथा प्रजा के दुःख-सुख की बात सुनते थे।

(२) अशोक को प्रजा के हिताहित का सदैव ध्यान रहता था। अतः उसने सूचनावाहकों को आज्ञा दे रखी थी कि प्रजा तथा शासन-सम्बन्धी प्रत्येक सूचना उसके पास तत्काल पहुँचाई जाय चाहे वह भोजनगृह में हो अथवा अन्तःपुर में, शयन-गृह में हो अथवा घोड़े की पीठ पर। प्रतिवेदकों को सूचना-वहन में इतना सचेष्ट कदाचित् ही किसी अन्य राजा ने किया हो।

(३) अपने राज्य के २६वें वर्ष अशोक ने न्याय-विभाग में एक महत्त्वपूर्ण सुधार किया। अभी तक प्रान्त में न्याय-व्यवस्था का कार्य तीन अधिकारियों के हाथ में था—राजुक, नगर-व्यावहारिक तथा प्रादेशिक। एक ही स्थान पर तीन समानाधिकारियों के रहते हुए व्यवहार-समता और दण्ड-समता असम्भव थी। अतः अशोक ने इस दोष को दूर करने के लिए सम्पूर्ण न्याय-व्यवस्था राजुकों के अधीन कर दी तथा अन्य दो अधिकारियों को इस कार्य से मुक्त कर दिया। इससे शासन में पर्याप्त सुधार हो गया।

(४) उसी साल अशोक ने दण्ड-विधान में भी सुधार किया। राज्याभिषेक की तिथि पर प्रत्येक वर्ष उसने अमुक प्रकार के बन्दियों को मुक्त कर देने की आज्ञा दे दी। इसके अतिरिक्त प्राण-दण्ड पाये हुए बन्दियों को उनकी मृत्यु के पूर्व ३ दिन का अवकाश देने का नियम प्रचलित किया।

(५) एक दूसरे आदेश के द्वारा उसने राजधानी में यज्ञादि के लिए पशु-



अशोक का साम्राज्य
काबुल
कम्बोज
गज़नी
पेशावर
तक्षशिला
श्रीनगर
गा न्धा र
यवन राज्य
साकल
सिल्युकस का दिया हुआ
मूलस्थानपुर
अम्बाला
टोपरा
देहरादून
इन्द्रप्रस्थ
मथुरा
बैराट
श्रावस्ती
कपिलवस्तु
ललितापट्टन
रामपुर्वा
नन्दनगढ़
लौरियराज्य
पाटलिपुत्र
कौशाम्बी
प्रयाग
काशी
सहसराम
म ग ध
चम्पा
बोधगया
अं ग
वि दि सा
रूपनाथ
उज्जैन
सांची
सौ रा ष्ट्र
गिरनार
भो ज
पु लिं द
ताम्रलिप्ति
तोसली
जौगढ़
सोपारा
रा ष्ट्री क
क लिं ग
आं ध्र
बं गा ल की खा ड़ी
मस्की
स्वर्ण गिरि
सिद्धपुर
नैलोर
अ र ब सा ग र
सत्यपुत्र
केरलपुत्र
तंजोर
मदुरा
पां
लंका
शिलालेख

हत्या का निषेध कर दिया। यह आज्ञा नितान्त बौद्ध धर्मानुकूल थी, परन्तु निश्चय ही इससे कर्मकाण्डी ब्राह्मणों को विशेष असुविधा हुई होगी।

मनुष्यों एवं पशुओं दोनों के लिए चिकित्सालय बने हुए थे जिनमें चिकित्सा निःशुल्क होती थी। देश की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। उद्योग तथा कलाएँ पर्याप्त उन्नत थीं। देश में अनेक योग्य शिल्पकार तथा कारीगर थे जिसका प्रमाण उस युग के स्मारक तथा भवन देते हैं। शिल्पी, मूर्तिकार तथा पाषाण काटनेवाले कारीगरों ने अपनी कृतियों में आश्चर्यजनक कला तथा सौन्दर्य-वृत्ति का परिचय दिया है।

शिक्षा का प्रचार काफी था। अशोक ने देश के हर एक भाग में प्रस्तर स्मारक बनवाये। इससे पता चलता है कि अधिकांश लोग पढ़ एवं लिख लेते थे। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता विन्सेण्ट स्मिथ इस बात को मानता है कि अँगरेजी शासन की अपेक्षा अशोक के शासन-काल में भारत में साक्षरता अधिक थी। देश में अनेक राजकीय संस्थाओं के अतिरिक्त बौद्ध-संघ जैसी अराजकीय संस्थाएँ भी थीं जहाँ पर जनता को शिक्षा तथा ज्ञान का प्रकाश दिया जाता था। सम्राट् की शिक्षाओं का बड़ा ही प्रभाव पड़ा। क्या बड़े और क्या छोटे, सबने उनकी शिक्षाओं की ओर ध्यान दिया तथा उन्हें जीवन में लाने का प्रयास किया।

साम्राज्य का विस्तार—अशोक के शिलालेखों में उसकी राज्य-सीमा पर बसे हुए दो स्वतंत्र राज्यों का उल्लेख आता है। इससे मौर्यों के उत्क्रान्ति काल की राज्य-सीमा का अनुमान किया जा सकता है। यह स्पष्ट है कि पश्चिमी सीमा अब भी वही बनी थी जो कि चन्द्रगुप्त के समय में थी तथा उसमें कुछ यूनानी रियासतें भी आ जाती थीं। दक्षिण में पाँच स्वतन्त्र राज्य थे: त्रिचनापल्ली में चोल, मदुरा में पाण्ड्य, सत्यपुत्र (अनिश्चित), केरलपुत्र (पश्चिमी किनारे पर कोचीन के पास) तथा ताम्रपर्णी लंका। अतः यह मान लेना तर्कसंगत होगा कि मौर्य साम्राज्य में मैसूर का कुछ भाग मिला हुआ था। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतवर्ष में कोई भी राज्य इतना विस्तृत न था जितना कि मौर्य साम्राज्य।

इसके अतिरिक्त अशोक के विशाल साम्राज्य की सीमा पर अनेक गण-राज्य थे जो उसकी अधीनता मानते थे; पर उनके अपने शासन-प्रबन्ध में

पूर्ण स्वतन्त्रता मिली हुई थी। ये गण-राज्य निम्नलिखित थे : यवन-प्रान्त (उत्तरी पश्चिमी सीमान्त प्रदेश में यूनानी उपनिवेश), गान्धार (राजधानी तक्षशिला), कम्बोज (सम्भवतः दक्षिणी काश्मीर), नमक (सम्भवतः हिमालय के नीचे नैपाली तराई में), भोज तथा राष्ट्रिक (बरार तथा कोंकन), आन्ध्र (मद्रास का तैलगू जिला), विंध्यप्रदेश के पुलिन्द तथा मध्य भारत के आटविक या वन्य प्रदेशीय लोग।

अशोक के साम्राज्य के विस्तार में इसी धारणा को पुष्टि मिलती है जब हम उसके शिलालेखों का विवरण देखते हैं जो कि सारे भारत में उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए हैं। ये स्थान एक दूसरे से इतने दूर हैं जैसे उत्तर-पश्चिम में पेशावर जिला, पश्चिमी समुद्री किनारे पर सोपरा, उत्तरी मैसूर में चित्तलदुर्ग जिला, उड़ीसा में पुरी तथा बिहार में चम्पारन जिला। (परिशिष्ट देखिए।)

अतः यह कहा जा सकता है कि अशोक का साम्राज्य हिन्दूकुश से पूर्व में बंगाल तक तथा हिमालय से मैसूर के चित्तलदुर्ग जिले तक विस्तृत था। कलिंग, सौराष्ट्र तथा उनके बीच का प्रदेश राज्य में मिलाये जा चुके थे। साम्राज्य के महत्त्वपूर्ण नगर बोधगया, तक्षशिला, तोशाली, उज्जयिनी, सुवर्ण-गिरि, कौशाम्बी तथा पाटलिपुत्र थे।

वैदेशिक सम्बन्ध—परम्परागत कथानकों द्वारा ऐसा सुना जाता है कि अशोक का समकालीन लंका का राजा तिस्य था जिसने नवीन धर्म का स्वागत किया। अपने शिलालेख में अपने साम्राज्य से बाहर राज्य करनेवाले पाँच यूनानी राजाओं की चर्चा की है जिनके प्रदेश में अशोक ने औषधियाँ भिजवाईं तथा धर्म का प्रचार किया। इसी को उसने धर्म-विजय के नाम से

इनके नाम निम्नलिखित हैं :—

(१) ऐण्टियोकस द्वितीय सीरिया का थियोस, (२) टालेमी द्वितीय, मिस्र का फिलाडेल्फॉस, (३) ऐण्टीगोनस गोटानस (मेसीअेनिया का), (४) साइरीन (उत्तरी अफ्रीका) का मॉगस तथा (५) ऐपाइरस या कोरिन्थ (यूनान) का सिकन्दर।

पुकारा है जिसे उसने प्राप्त किया। इसके विपरीत कलिंग-युद्ध के पश्चात् केवल पशु-बल पर अवलम्बित भौतिक-विजय को वह घृणा की दृष्टि से देखने लगा था।

कलाएँ—अशोक भवन-निर्माण का प्रेमी था। सातवीं शताब्दी में भारत में आये हुए एक चीनी यात्री युवान् च्वांग के तथा काश्मीर के इतिहास-कार कल्हण के अनुसार वह काश्मीर की राजधानी श्रीनगर का संस्थापक था। एक प्रचलित परम्परागत अनुश्रुति के अनुसार ऐसा कहा जाता है कि जिन आठ स्तूपों में महात्मा बुद्ध के शरीर के विभिन्न अंग सुरक्षित थे, उन्हें अशोक ने तुड़वा डाला तथा चौरासी हजार स्तूप उनके स्थान पर बनवाये जो कि सब महात्मा बुद्ध के शरीर के एक न एक छोटे अंश को ढके हुए थे। पाँचवीं शताब्दी में पाटलिपुत्र के अशोक के राजप्रासाद ने चीनी यात्री फाह्यान को आश्चर्य में डाल दिया, जिसका विश्वास हो गया था कि अशोक ने प्रेतात्माओं को आज्ञा देकर इसे बनवाया था। अशोक के अब तक जो दस स्तम्भ पाये गये हैं उनकी अब तक न मिटनेवाली चमक मौर्य-काल की कला का श्रेष्ठतम उदाहरण है। उनके ऊपर कुछ पशुओं की मूर्तियाँ बनी हैं जिनसे राजसी गौरव प्रकट होता है। ऐसी बहुत से लोगों की धारणा है कि चूँकि इस काल की अन्य मूर्तियों तथा स्तम्भों में यह चमक तथा कलात्मक प्रदर्शन नहीं पाया जाता अतः अवश्य ही इन स्तम्भों को अशोक ने फारसी या यूनानी विदेशी कलाकारों से बनवाया होगा। उनका निर्माता चाहे जो हो, इन स्तम्भों के ऊपरी भाग उस समय की भारतीय कला के श्रेष्ठतम उदाहरण हैं। उदाहरणार्थ, सारनाथ में पाये गये स्तम्भों पर बने हुए सिंहों का सजीव चित्रण, उनके पैरों तथा पुट्ठों की मांसपेशियों का दिग्दर्शन, उनके बालों का बारीक अंकन, तथा सबसे अधिक शारीरिक गठन एवं मूर्ति की यथार्थता एक साधारण दर्शक से भी बिना प्रशंसा प्राप्त किये न रहेगी।

अशोक के स्तम्भ चालीस से लेकर पचास फुट तक ऊँचे हैं तथा चुनार की रेतीली पाषाण चट्टानों से काटकर बनवाये गये हैं। इन विशाल प्रस्तर-खण्डों को सैकड़ों मील दूर अन्यान्य स्थानों तक ले जाना उस युग का एक वैज्ञानिक चमत्कार है।

अशोक के महान् कार्य—अशोक मौर्य वंश का अन्तिम प्रमुख सम्राट् था जिसके लिए बिना सन्देह यह कहा जा सकता है कि जहाँ तक भारतवर्ष का सम्बन्ध है, वह यहाँ का सबसे बड़ा सम्राट् हुआ है। इसके अतिरिक्त उसके अद्वितीय एवं अनोखे व्यक्तित्व से उसमें एक नैतिक सौन्दर्य आ गया था जिसका सौभाग्य भारत के किसी राजवंश को प्राप्त न हो सका। कोई भी ऐसा सम्राट् अब तक नहीं हुआ जिसने प्रजा के हित को तथा धर्म-प्रचार को अपने जीवन का उद्देश्य बनाया हो तथा जो अपने जीवन की यही सफलता मानता हो कि उसकी प्रजा शरीर से सुखी तथा ऊँची आत्मावाली हो जाय। यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि उसका यह पितृतुल्य प्रेम अपनी ही प्रजा तक सीमित न था, वरन् सुदूर प्रदेश के लोगों के लिए भी था। उसकी कार्य-योजना में समस्त प्राणी-जगत् यहाँ तक कि पशु-जगत् तक को स्थान था।

अपने एक शिलालेख में अशोक का कथन है कि उसने पहले की अपेक्षा लोगों का नैतिक-चरित्र अधिक ऊँचा कर दिया है। हमें इस बात का प्रमाण नहीं मिलता कि यह सफलता कहाँ तक स्थायी थी, परन्तु अन्य दिशाओं में उसने अनेक मनुष्यों को बौद्ध-मतावलम्बी बनाया। अपनी उत्तरी-पश्चिमी सीमा के बाहर प्रचारक भेजकर उसने मध्य-एशिया में बौद्ध-मत फैलाने में सहायता की। लंका के बौद्ध-धर्म से, जहाँ से कि वह ब्रह्मा तथा अन्य प्रदेशों में फैला, इस बात का प्रमाण मिलता है कि इस बौद्ध-मतानुयायी सम्राट् ने इस मत के प्रचार के लिए कितना प्रयास किया।

भारत की सीमा के अन्दर अशोक के शासन-काल में इस विशाल देश की सांस्कृतिक एकता स्थापित हुई। अशोक के शिलालेख या राजघोषणाएँ शुद्ध प्राकृत में हैं जिनमें कि स्थान के अनुसार थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर दिया गया है तथा उत्तर-पश्चिम के एक-दो लेखों को छोड़कर शेष सभी ब्राह्मी लिपि में हैं। इनकी सहायता से उत्तराखंड की बोली तथा लिपि सारे भारत में फैल गई, जिसके फलस्वरूप आनेवाली शताब्दियों में दक्षिण में जो शिला-लेख हम पाते हैं उनकी प्रायः सभी की भाषा तथा लिपि वस्तुतः उत्तरी भारत की है। यह मौर्य-शासन का ही फल था।

फ—अशोक के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी

ईसा से २३० वर्ष पूर्व अशोक की मृत्यु हो गई। यहाँ फिर ऐतिहासिक तिथिभ्रम पड़ता है। अशोक के उत्तराधिकारियों की सूची बौद्ध-ग्रंथों की अपेक्षा भिन्न है। थोड़े दिनों के पश्चात् ही नर्मदा नदी के दक्षिण का प्रदेश स्वतन्त्र हो गया तथा ईसा से पूर्व २१० तक पंजाब का प्रदेश भी दूसरे के हाथों में चला गया। अतः अशोक के उत्तराधिकारी एक बहुत ही छोटे राज्य के शासक रह गये।

दशरथ—सम्भवतः अशोक के पौत्र दशरथ ने गया के पास की बाराबर गुफाएँ आजीवक नाम भिक्षुओं को दे दीं।

सम्पति—दूसरा उत्तराधिकारी सम्पति जैन-मत का कट्टर अनुयायी था। जैन-मत की पुस्तकें उसकी उतनी ही प्रशंसा करती हैं जितनी कि बौद्ध-मत के ग्रन्थ अशोक की करते हैं।

बृहद्रथ—इस वंश का अन्तिम राजा बृहद्रथ था, जिसको उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने मार डाला तथा स्वयं सिंहासन पर बैठकर ईसा से १८४ वर्ष पूर्व शुंग-वंश की स्थापना की।

साम्राज्य का पतन—भारतीय साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने के प्रधान कारण प्रान्तीय शासकों के विद्रोह, आन्तरिक कलह तथा राजदण्ड धारण करनेवाले सबल शासक की कमी ही प्रायः होते हैं। यद्यपि मौर्य साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने में भी यही कारण उपस्थित थे पर कुछ अंश तक अशोक को भी इस दोष का भागी कहा जा सकता है। अशोक ने इस बात की ओर कभी ध्यान ही नहीं दिया कि राज्य में भौतिक शक्ति जगाने की भी आवश्यकता है। अपने शासन-काल के प्रारम्भ में भी वह युद्ध से विरक्त हो गया अतः सेना की संख्या में भी काफी कमी हो गई होगी। उसने यह घोषित कर रक्खा था कि नैतिक विजय ही सच्ची विजय है, परन्तु यह धर्म-विजय इतने विशाल साम्राज्य के विभिन्न अंगों को बहुत दिनों तक एकता के सूत्र में नहीं रख सकती थी। अतः फल यह हुआ कि अशोक की मृत्यु होते ही उसका साम्राज्य जर्जर दीवार की तरह ढह गया।

परिशिष्ट

अशोक के शिलालेख

अशोक के शासन-काल के विषय में हमारे ज्ञान के आधार या तो बौद्ध ग्रंथ तथा उसकी प्रचलित किंवदन्तियाँ हैं या अशोक के शिलालेख। चूँकि इसमें से शिलालेखों का महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक है अतः यहाँ पर उनका थोड़ा सा वर्णन कर देना उचित होगा।

वर्गीकरण—ये लेख छः वर्गों में बाँटे जा सकते हैं :—

(१) १४ शिलालेख जो कि सात भिन्न स्थानों में पाये गये हैं, जैसे शाहबाज गढ़ो (सोमाप्रान्त में पेशावर जिलें में) मसहरा (हजारा जिला, सोमाप्रान्त), कालसी (जिला देहरादून), गिरिनार (काठियावाड़), सोपरा (बम्बई के उत्तर में), धौली (उड़ीसा प्रान्त में पुरी जिला), जौगड (गंजाम, जिला मद्रास)।

(२) दो भिन्न कलिंग-घोषणाएँ धौली एवं जौगड में बारहवीं तथा तेरहवीं घोषणा के स्थान में पाई गई हैं। इनमें से दूसरी में कलिंग-विजय का उल्लेख आता है।

(३) दो छोटे शिलालेख जो या तो अलग या साथ साथ सहसराम (जिला शाहाबाद, बिहार), रूपनाथ (जिला जबलपुर, मध्यप्रान्त), वैराट (राजपूताना), मस्की (हैदराबाद दक्षिण), पालकी मुण्डु तथा गविनाथ (हैदराबाद, दक्षिण), यर्रागुड्डी (कर्नूल जिला, मद्रास), जटिंग रामेश्वर, सिद्धपुर तथा ब्रह्मगिरि (जिला चित्तलदुर्ग, मैसूर) में पाये गये हैं।

(४) सात स्तम्भ-लेख, जो स्तम्भों पर लिखे हुए हैं तथा जो शिवालक पहाड़ियाँ, मेरठ (ये दोनों ही स्तम्भ फीरोजशाह दिल्ली ले आया था), इलाहाबाद, लौरिया अरराज, लौरिया नन्दनगढ़, रामपुरवा (ये सभी बिहार के चम्पारन जिले में हैं) इत्यादि में पाये गये हैं।

(५) छोटे स्तम्भ-लेख, जो पाँच स्तम्भों पर पाये गये हैं। इनमें से इलाहाबाद, साँची (मध्यभारत में भूपाल के पास) तथा सारनाथ (बनारस के पास) के लेखों में धर्म-मतभेद विषयक घोषणाएँ हैं। शेष दो में रुम्मिन-

देई (बस्ती जिला) के स्तम्भलेख में अशोक के महात्मा बुद्ध की जन्मभूमि के दर्शन का वर्णन दिया हुआ है तथा नीगलीवा (बस्ती जिले के उत्तर में) वाले दूसरे स्तम्भ-लेख में स्तूप-निर्माण का वर्णन दिया हुआ है। रुम्मिन-देई के शिलालेख की एक प्रतिलिपि उड़ीसा में भुवनेश्वर के पास कपिलेश्वर में पाई गई है।

(६) गुफा-लेख बाराबर पहाड़ियों की (गया के पास) तीन गुफाओं में पाये गये हैं। इनसे पता चलता है कि इन गुफाओं को अशोक ने आजीवक भिक्षुओं को भेंट कर दिया था।

लिपि––शाहबाजगढ़ी तथा मंसहरा के लेखों को छोड़कर सभी लेख ब्राह्मी लिपि में हैं। मंसहरा एवं शाहबाजगढ़ी के लेख उत्तरी-पश्चिमी प्रदेशों की प्राचीन लिपि खरोष्ठी में हैं।

भाषा––इन लेखों की भाषा प्राकृत है जो उस समय की जनता की बोली थी। इसकी शैली बहुत ही चुस्त है परन्तु अधिक मार्जित नहीं है। ऐसा ज्ञात होता है कि ये लेख स्वयं अशोक की रचना हैं, क्योंकि उनमें हृदय की सत्यता तथा तत्परता झलकती है।

नवम अध्याय

मौर्य-काल के पश्चात्

अ—ब्राह्मणसाम्राज्य

पुष्यमित्र शुंग—मौर्य वंश का अन्तिम राजा बृहद्रथ था। वह बड़ा ही निर्बल तथा बुद्धिहीन शासक था। १८४ ई० पू० में उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने उसे मार डाला और स्वयं राज्य पर अधिकार कर लिया। पाणिनि, आश्वलायन, श्रौतसूत्र तथा तारानाथ के अनुसार शुंग राजा ब्राह्मण थे।

पुष्यमित्र के शासन-काल की प्रथम घटना उसका विदर्भ से युद्ध था। विदर्भ का राजा यज्ञसेन मौर्य-सम्राट् के मन्त्री का सम्बन्धी था। ऐसा प्रतीत होता है कि बृहद्रथ के शासन-काल में मौर्य-दरबार में दो दल हो गये थे। एक दल का नेतृत्व राजमन्त्री करता था, दूसरे का राजसेनापति पुष्यमित्र। जब पुष्यमित्र ने मौर्य-सम्राट् को मारकर राज्य पर अधिकार कर लिया और राजमन्त्री तथा अन्य विरोधियों को बन्दी बना लिया तो यज्ञसेन ने अवसर पाकर विदर्भ में अपने स्वतन्त्र राज्य की घोषणा कर दी। इस पर महत्त्वाकांक्षी पुष्यमित्र ने अपने पुत्र अग्निमित्र को विदर्भ पर आक्रमण करने के लिए भेजा। ऐसा विदित होता है कि कुछ दिनों के युद्ध के पश्चात् सन्धि हो गई और विदर्भ का कुछ भाग शुंग-साम्राज्य में मिल गया।

यवन-आक्रमण—पुष्यमित्र के समय की दूसरी प्रमुख घटना यवनों का भारतवर्ष पर आक्रमण है। पतञ्जलि के महाभाष्य से ज्ञात होता है कि इन विदेशियों ने माध्यमिका और साकेत पर आक्रमण किये थे। पुनः गार्गी संहिता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यवन मथुरा, पाञ्चाल देश तथा साकेत से होते हुए कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) तक पहुँच गये थे। इन आक्रमणकारियों का नेता डेमेट्रिअस था। परन्तु उसे अधिक दिनों तक सफलता न मिल सकी।

पुष्यमित्र ने अपने पौत्र वसुमित्र को उनका सामना करने के लिए भेजा। सिंधु-नदी के तट पर घोर युद्ध हुआ जिसमें यवनों की पराजय हुई और वे पीछे हटने के लिए विवश हुए।

राज्य-विस्तार—तारानाथ और दिव्यावदान के अनुसार पुष्यमित्र का राज्य पंजाब में जालन्धर और साकल (स्यालकोट) तक फैला हुआ था। पूर्व में इसकी सीमा पाटलिपुत्र थी जो इस समय शुंग-साम्राज्य की राजधानी थी। प्राप्त शिला-लेखों के आधार पर विदित होता है कि अयोध्या पर भी पुष्यमित्र का अधिकार था। यदि कालिदास-कृत मालविकाग्निमित्र पर विश्वास करें तो दक्षिण में नर्मदा तक का प्रदेश उसके साम्राज्य के अन्तर्गत था।

अश्वमेध यज्ञ—पुष्यमित्र ब्राह्मण था। उसके शासन-काल में ब्राह्मणधर्म की पर्याप्त उन्नति हुई। अपने राज्य का संगठन करने के पश्चात् उसने दो अश्व-मेध यज्ञ किये। यह घटना पतञ्जलि के महाभाष्य, मालविकाग्निमित्र और अयोध्या के शिला-लेख से भली भाँति प्रकट होती है। सम्भवतः एक यज्ञ में तो पतञ्जलि ने ही पुरोहित का आसन ग्रहण किया था।

दिव्यावदान और तारानाथ के अनुसार पुष्यमित्र असहिष्णु ब्राह्मण था। उसने अनेक बौद्ध भिक्षुओं को मरवा डाला तथा उनके मठों और उनके विहारों को नष्ट करवा दिया। कहते हैं कि उसने साकल में यह घोषणा की थी कि जो व्यक्ति बौद्ध-भिक्षु का कटा हुआ शीश मेरे समक्ष लायेगा, उसे मैं १०० दीनार पारितोषिक के रूप में दूँगा। अधिकांश विद्वान् इन कथनों को पूर्णतया सत्य नहीं मानते; परन्तु पुष्यमित्र ब्राह्मण-धर्मानुयायी था, इसमें सन्देह नहीं। उसका असहिष्णु होना सन्देहपूर्ण है।

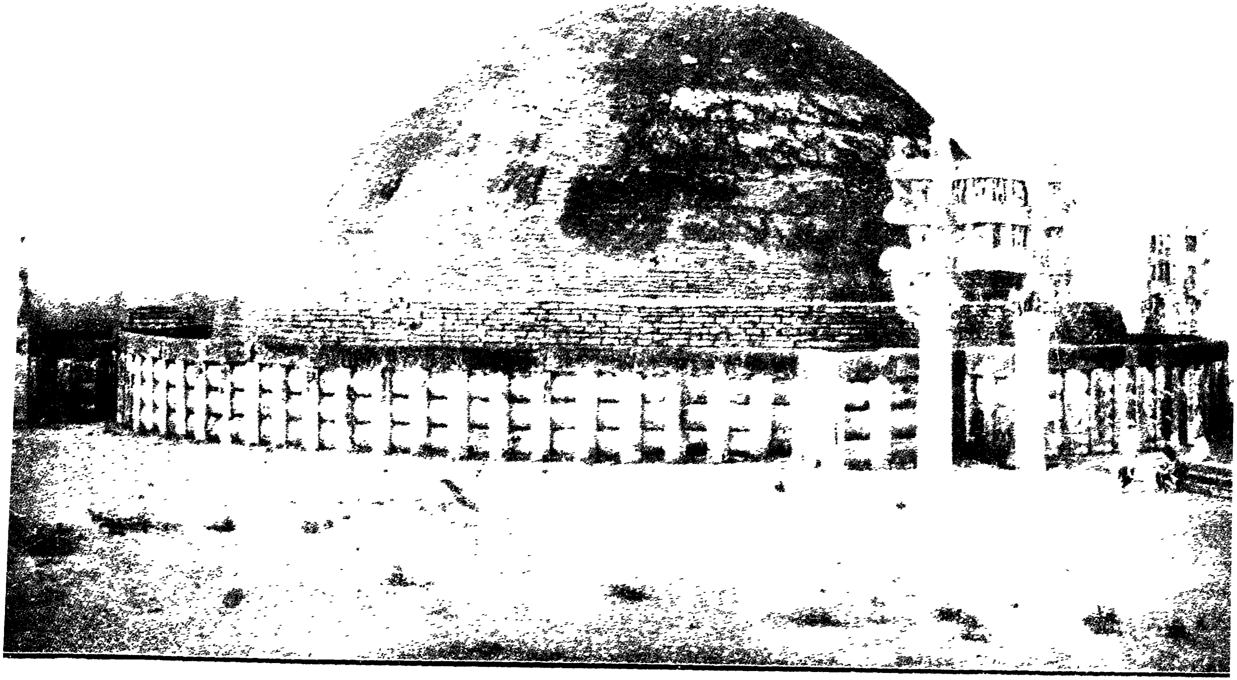
शुंग साम्राज्य का पतन—पुराणों के अनुसार शुंग वंश में १० राजा हुए जिन्होंने १२० वर्ष तक राज्य किया। इस वंश के पंचम अथवा नवम सम्राट् भागभद्र के शासन-काल में उत्तरी-पश्चिमी प्रदेश के यूनानी शासक के राजदूत हेलियोडोरस ने बेसनगर में एक स्तम्भ खड़ा करवाया, जिसके लेख से ज्ञात होता है कि हेलियोडोरस ने अपना यूनानी धर्म छोड़कर भागवत-धर्म अंगीकार कर लिया था।

कण्व-वंश—शुंग वंश का अन्तिम राजा देवभूति या देवभूमि हुआ। इसे मारकर एक दूसरे **ब्राह्मण** वासुदेव ने कण्व-वंश की नींव डाली। इस वंश में चार राजा हुए जिन्होंने, पुराणों के अनुसार, ४५ वर्ष तक राज्य किया। अन्तिम राजा सुशर्मन् आन्ध्रजातीय सिन्धुक या सिमुक के द्वारा मारा गया।

शातवाहन-वंश—जैसा कि ऊपर कहा गया है, सिमुक नामक एक अन्य व्यक्ति ने कण्व-वंश के अन्तिम राजा सुशर्मन् को मारकर २९ ई० पू० के लगभग स्वयं राज्य हस्तगत कर लिया। पुराणों में सिमुक या सिन्धुक को आन्ध्र-जातीय कहा गया है। इस वंश का आदिस्थान कहाँ था, इस पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। वास्तव में आन्ध्र-जाति बड़ी पुरानी जाति है। इनका आदि-स्थान गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच में था। ऐतरेय ब्राह्मण, मेगास्थनीज के लेखों और अशोक के शिला-लेखों में इस वंश का वर्णन आता है। अपने शिलालेखों तथा दान-पत्रों में इस वंश के राजा अपने को शातवाहन या शातकर्णि लिखते हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इस शातवाहन वंश का आदि निवास-स्थान दक्षिण भारतवर्ष ही था। कुछ समय के पश्चात् इन्होंने आन्ध्रदेश पर भी अपना अधिकार कर लिया। तदनन्तर जब दक्षिण भारत पर शकों और आभीरों के आक्रमण हुए तो अधिकांश दक्षिण भारत इन शात-वाहनों के हाथ से निकल गया और इनका राज्य केवल गोदावरी और कृष्णा के बीच आन्ध्रदेश में ही सीमित रह गया। उस समय से ये आन्ध्र नाम से प्रसिद्ध हुए।

शुंग और कण्व वंशों की भाँति यह वंश भी ब्राह्मण था। यह बात इस वंश के राज्यों के शिलालेखों से भली भाँति प्रकट हो जाती है। नासिक शिलालेख में इस वंश का राजा गौतमीपुत्र अपने को 'एक बम्हन' कहता है। पुनः उसके लिए 'खतिपमान मदनस' (क्षत्रियों के गर्व को नष्ट करनेवाला) का भी प्रयोग हुआ है।

शासक—इस वंश के राज्य-संस्थापक सिमुक के विषय में अधिक ज्ञात नहीं। उसके पश्चात् उसका भाई कृष्ण राजा हुआ। एक शिलालेख के आधार पर यह विदित होता है कि नासिक के आस-पास का प्रदेश उसके



साँची-स्तूप तथा द्वार

अधीन था। कृष्ण की मृत्यु के पश्चात् सिमुक का पुत्र शातकर्णि राजसिंहासन पर बैठा। यह वीर और चतुर शासक था। नानाघाट शिलालेख से ज्ञात होता है कि इसने नये प्रदेशों को जीतकर अपना राज्य-विस्तार किया और तत्पचात् दो अश्वमेध यज्ञ किये। कदाचित् इसी राजा को कलिंग के राजा खारवेल ने युद्ध में पराजित किया।

शातकर्णि की मृत्यु के समय उसके दोनों पुत्र शक्ति-श्री और वेद-श्री अल्पवयस्क थे। अतः उसके पश्चात् उसकी रानी नायानिका ने ही पुत्रों का संरक्षण करते हूए राज्य-भार सँभाला। तत्पश्चात् शकों के आक्रमणों के कारण कुछ काल के लिए शातवाहनों की शक्ति का ह्रास हो गया। परन्तु यह हीन अवस्था अधिक दिनों तक न रही। शातवाहनों के पराक्रमी राजा गौतमी-पुत्र शातकर्णि ने पुनः दक्षिण भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। नासिक शिलालेख में इसके वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन है। उसने क्षत्रियों के वंश को नष्ट किया तथा शक, यवन, पह्लव, क्षहरात राजाओं को युद्ध में पराजित किया। अनुमानतः उसके राज्य में गुजरात, सुराष्ट्र, मालवा, बरार, उत्तरी कोंकन, पूना और नासिक प्रदेश सम्मिलित थे। एक अन्य शिलालेख से ज्ञात होता है कि कम से कम उसने २४ वर्ष तक राज्य किया।

गौतमीपुत्र के पश्चात् उसका पुत्र वाशिष्ठपुत्र श्री पुलमावि राजा हुआ। टालमी ने बैथान (प्रतिष्ठान) के अधिपति के नाम से इसका उल्लेख किया है। कदाचित् यह महाक्षत्रप रुद्रदामन का सम्बन्धी था। जूनागढ़ शिलालेख के अनुसार रुद्रदामन ने इसे दो युद्धों में पराजित भी किया था। निश्चित है कि इन पराजयों के परिणाम-स्वरूप शातवाहनों के राज्य का बहुत बड़ा भाग महाक्षत्रप के अधिकार में हो गया होगा।

तत्पश्चात् शातवाहन-वंश का अन्तिम उल्लेखनीय शासक यज्ञ-श्री शातकर्णि हुआ। इसने सम्भवतः १६५ ई० से १९५ ई० तक राज्य किया। इसने पुनः शकों को हराकर दक्षिण भारतवर्ष में अपना प्रभुत्व स्थापित किया। इसकी मृत्यु के पश्चात् इस वंश की अवनति हो गई और इसका राज्य आभीर, इक्ष्वाकु तथा पल्लव शासकों ने जीत लिया।

व्यापारिक संघ—अनेक लेखों से इस बात का पता चलता है कि देश

में अनेक व्यापारिक संस्थाएँ स्थापित हो चुकी थीं जिनके पास जनता ब्याज पर रुपया जमा करती थी। ये संस्थाएँ रुपया उधार भी देती थीं। अतः इनको एक प्रकार से आधुनिक बैंक कहा जा सकता है। प्राचीन स्मृतियों में इन संस्थाओं के ठीक-ठीक संचालन के लिए नियम दिये हुए हैं तथा राजा से उनकी रक्षा तथा सहायता करने के लिए कहा गया है।

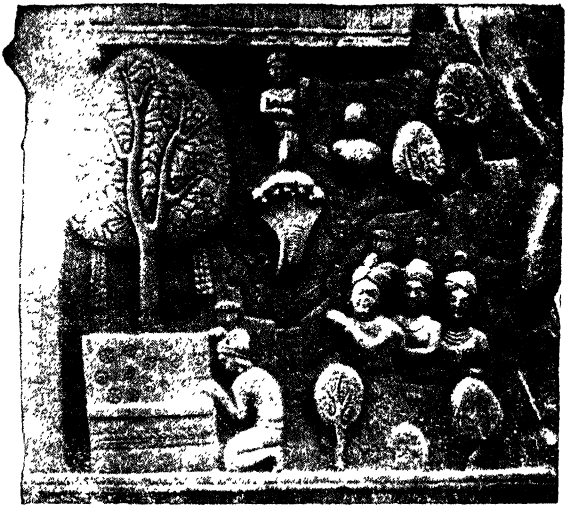
कला-कौशल—शुंगों के शासन-काल में साँची तथा भरहुत (मध्य भारत) में दो स्तूप बने। साँची में पहले से ही अशोक का ईटों का स्तूप बना हुआ था; परन्तु शुंग शासन-काल में इसका विस्तार हुआ तथा इसके चारों ओर पत्थर लगाये गये। इसके चारों ओर पत्थर की गोलाकार अर्गला बनी हुई है तथा चारों दिशाओं में चार बड़े-बड़े अलंकृत फाटक बने हुए हैं जो ईसा से पूर्व पहली शताब्दी में बनाये गये थे। स्तम्भों तथा शहतीरों पर बौद्धधर्म के अनेक सुन्दर चित्र खुदे हुए हैं। भरहुत का स्तूप जो कि शुंग-काल में बना था, अब बिलकुल छिन्न-भिन्न हो चुका है। उसके केवल कुछ स्मारक चिह्न कलकत्ता के अजायबघर में रक्खे हैं। इसी से कुछ काल पश्चात् के बने हुए स्तूप गया तथा अमरावती गुण्टूर (जिला मद्रास) में हैं।

इसी काल का बना हुआ भोज का मठ तथा कार्ली बौद्ध मन्दिर या चैत्य है। भिक्षुओं के रहने के लिए नासिक की गुफाएँ, उड़ीसा में खण्डगिरि तथा उदयगिरि की गुफाएँ पत्थर, चूना या ईंट से नहीं बनाई गई हैं वरन् चट्टानों से काटकर बनाई गई हैं।

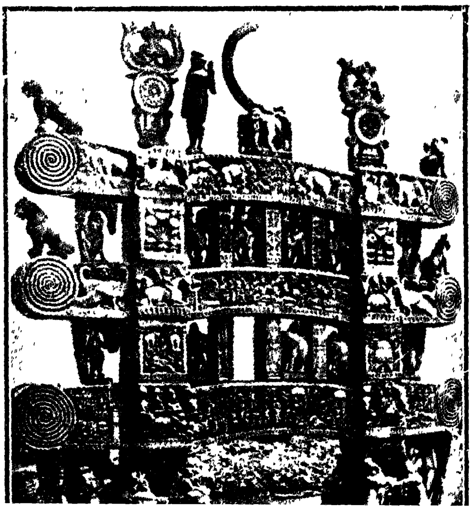
साहित्य—ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दी में पुष्यमित्र के समकालीन पतंजलि ने पाणिनि के व्याकरण पर भाष्य लिखा। यह भी संभव है कि इसी समय रामायण तथा महाभारत का भी अन्तिम सम्पादन हुआ हो। विभिन्न दार्शनिक मतों के साहित्य का भी सृजन सम्भवतः इसी युग में हुआ। इन दर्शनों का वर्णन पाँचवें अध्याय में किया जा चुका है। इस काल के प्रायः सभी शिलालेख प्राकृत में हैं।

मनुस्मृति—इसी समय मनु ने एक स्मृति बनाई जिसे धर्म-शास्त्र कहते हैं। दूसरी पुस्तकों से यह इस बात में भिन्न है कि यह पद्य में है; पर वस्तुतः

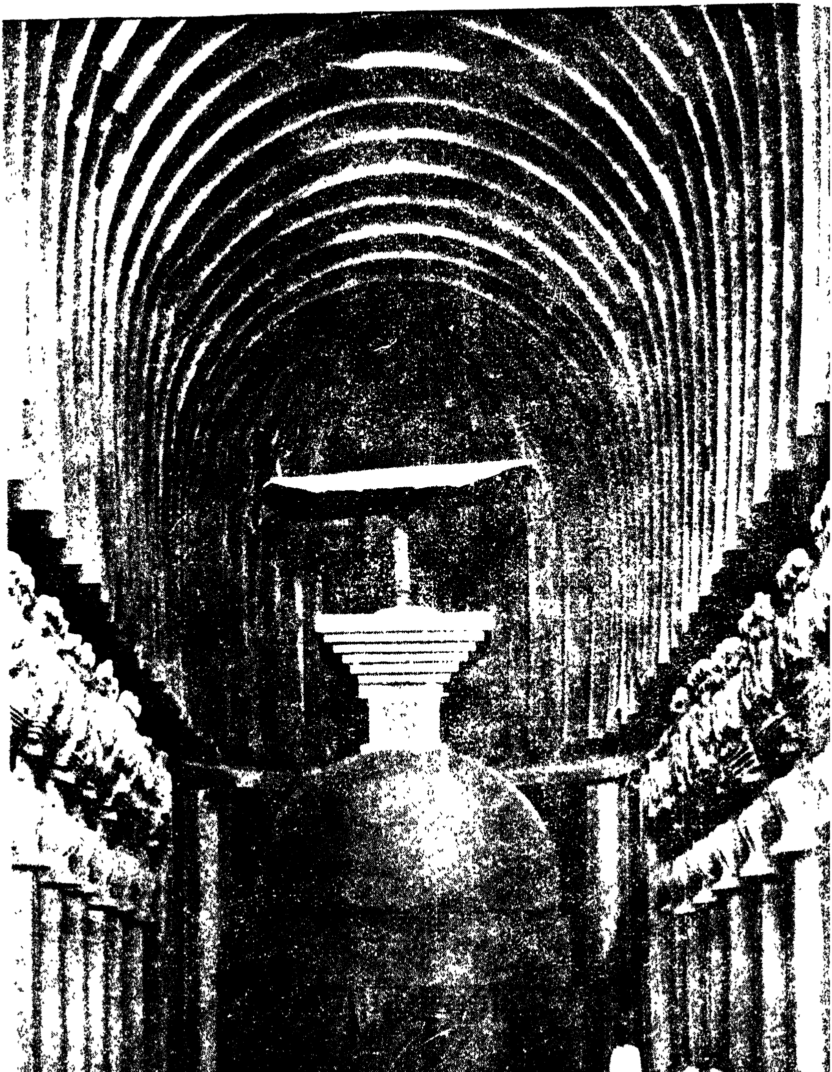
भरहुत का भास्कर शिल्प



साँची का प्रवेश द्वार



कार्ली का बौद्ध-मन्दिर अथवा चैत्य



जीवन का दृष्टिकोण इन सबका एक ही है। इसकी खास विशेषता यह है कि इसने ब्राह्मणों का स्थान सबसे ऊँचा माना है। इसमें घोषणा की गई है कि ब्राह्मण समस्त जगत् का स्वामी है। आकाश के नीचे जो कुछ है, वह वस्तुतः उसका है। दूसरे लोगों के पास सम्पत्ति केवल इसलिए है कि वह उनको ऐसा करने की आज्ञा देता है। इस प्रकार की धारणा पहले की भी स्मृतियों में पाई जाती है; पर इस धारणा का यह अतिरंजित रूप धर्मशास्त्र के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिलता। बहुत सम्भव है कि इनमें मनु ने अपने समय की वास्तविक स्थिति का वर्णन किया हो, क्योंकि इस काल में दूसरी शताब्दी तक भारत में शुंग, कण्व तथा शातवाहन तीन ब्राह्मण राजवंशों ने राज्य किया। इससे पता चलता है कि पिछले युगों की अकट्टरता के विपक्ष में इस काल के ब्राह्मणों का सामूहिक संगठन उठ खड़ा हुआ हो।

भूगोल—यद्यपि इस समय तक समस्त भारत का भौगोलिक ज्ञान लोगों को हो चुका था, फिर भी केवल हिमालय से लेकर विन्ध्य के बीच का समुद्र से समुद्र तक का भाग आर्यावर्त कहलाता था तथा कट्टर लोग बहुत थोड़े से भाग को पवित्र समझते थे। अब पश्चिमी पंजाब श्रद्धा की दृष्टि से न देखा जाता था। पूर्वी पंजाब का सरस्वती के पास का प्रदेश सबसे पुनीत माना जाता था तथा इसे सच्चे, आदर्श एवं तपस्वी ब्राह्मणों का निवासस्थान माना जाता था। सरस्वती से प्रयाग तक का प्रदेश मध्यप्रदेश कहलाता था।

स—दक्षिण भारत

खारवेल—इसी समय एक जैन राजा खारवेल के संरक्षण में कलिंग एक प्रमुख प्रदेश बन गया। उसने दूर-दूर तक मथुरा एवं राजगृह पर चढ़ाई की तथा अपने राज्य के पश्चिम की ओर के शासक शातवाहन की प्रभुता को अस्वीकार किया। खारवेल के शासन-काल की तिथि विवाद-ग्रस्त है। सम्भवतः ईसा से पूर्व पहली या दूसरी शताब्दी में वह शासन कर रहा था। हाथीगुम्फा (उदयगिरि पर्वत, उड़ीसा) के एक लेख में उसके कार्यों का उल्लेख है।

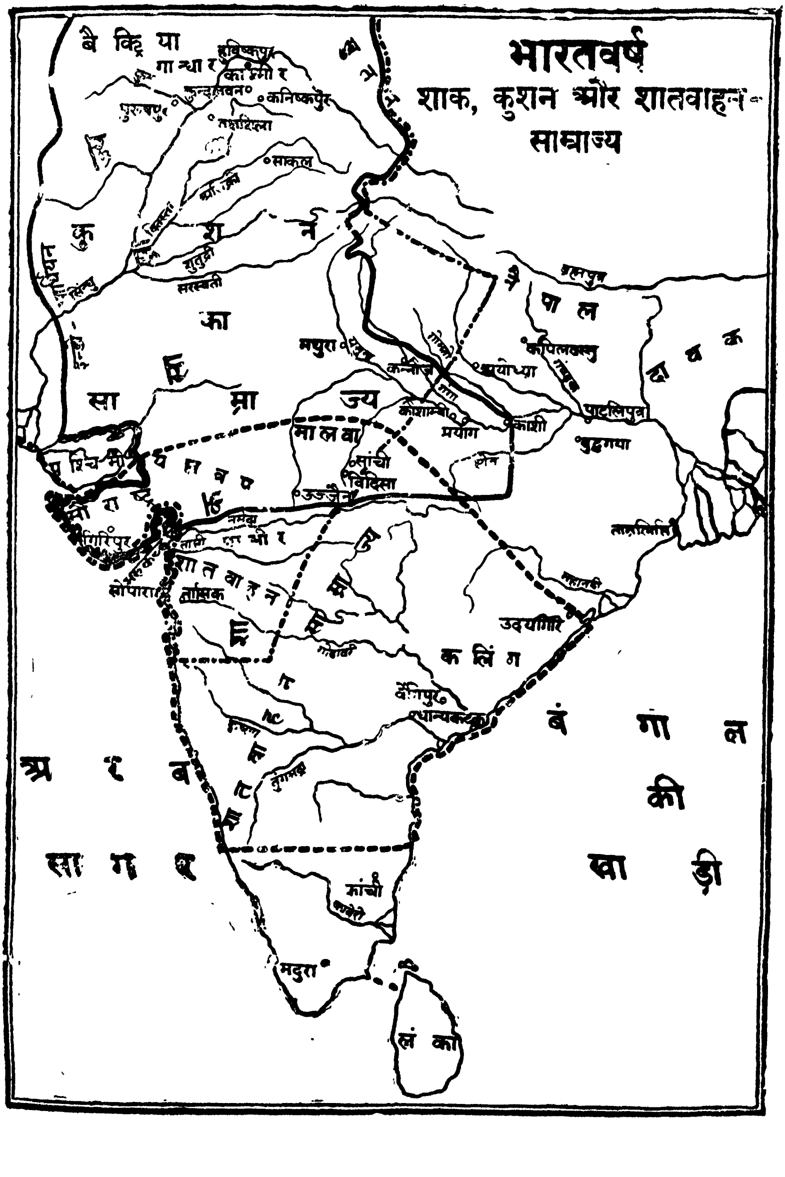
दशम अध्याय

भारत में विदेशी राज्य

अ—इण्डो-ग्रीक (भारतीय यूनानी)

सेल्यूकस के साम्राज्य का पतन—ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दी के मध्य में सेल्यूकस निकेटर द्वारा स्थापित सीरिया साम्राज्य के दो महत्त्वपूर्ण प्रान्तों—बैक्ट्रिया और पार्थिया ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। बैक्ट्रिया के विद्रोह का नेता यहाँ का शासक डिओडोटस प्रथम था तथा पार्थिया में स्वतन्त्र राज्य स्थापित करनेवाला था अरसेकीज।

बैक्ट्रिया के यूनानी शासक—बैक्ट्रिया में डिओडोटस प्रथम का उत्तराधिकारी डिओडोटस द्वितीय हुआ जिसे यूथीडेमस नामक एक विद्रोही ने मार डाला और स्वयं राज्य पर अधिकार कर लिया। यह एक कुशल योद्धा था और शीघ्र ही इसने अफगानिस्तान का भी कुछ भाग जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। इसकी मृत्यु लगभग १९० ई० पू० में हुई। उसका पुत्र तथा उत्तराधिकारी डेमेट्रियस अपने पिता से भी अधिक योग्य और चतुर योद्धा सिद्ध हुआ। उसके समय में बैक्ट्रिया राज्य पर्याप्त शक्तिशाली हो गया। १८३ ई० पू० के लगभग उसने भारत की सीमा को पार किया और पंजाब का अधिकांश भाग अपने अधिकार में कर लिया। अधिकतर विद्वानों का मत है कि पुष्यमित्र शुंग के समय में जिस यवन नेता ने पंजाब, साकल, माध्यमिका, साकेत और कुसुमपुर पर आक्रमण किया था वह डेमिट्रियस ही था। जिस समय डेमिट्रियस भारतीय युद्ध में संलग्न था, उसी समय एक दूसरे विद्रोही यूक्रेटाइड्ज ने उसके बैक्ट्रिया राज्य पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार डेमिट्रियस का राज्य अब केवल पूर्व में पंजाब और सिंध तक ही सीमित रहा। जनश्रुति के अनुसार भी वह Rsx Indorum अथवा 'भारतीयों का राजा' के नाम से प्रख्यात है। डेमिट्रियस ने यूथिडेमिआ और दत्तामित्री



भारतवर्ष
शाक, कुशन और शातवाहन साम्राज्य
बै क्ट्रि या
गा न्धा र
काश्मीर
कनिष्कपुर
तक्षशिला
साकल
कु श न
सा म्रा ज्य
सरस्वती
मथुरा
कन्नौज
अयोध्या
कपिलवस्तु
ने पा ल
कौशाम्बी
प्रयाग
काशी
पाटलिपुत्र
बुद्धगया
मा ल वा
सांची
विदिसा
उज्जैन
गिरिपुर
सोपारा
नासिक
शा त वा ह न
ताम्रलिप्ति
महानदी
उदयगिरि
क लिं ग
वेंगिपुर
धान्यकटक
अ र ब
सा ग र
बं गा ल
की
खा ड़ी
कांची
कावेरी
मदुरा
लं का

नामक दो नगरों की स्थापना की। उसके अनेक सिक्के उपलब्ध हुए हैं जिन पर यूनानी तथा खरोष्ठी दोनों लिपियों में लेख है। उधर डेमिट्रियस के विरोधी यूक्रेटाइड्ज ने भी भारतवर्ष में अनेक नगरों को जीता। इस प्रकार पश्चिमी भारत में दो यूनानी वंशों के समकालीन राज्य स्थापित हुए। यूथीडेमास के वंशजों का आधिपत्य पूर्वी पंजाब और सिंध पर रहा। इस प्रदेश की राजधानी स्यालकोट थी। उधर यूक्रेटाइड्ज के वंशधरों के राज्य में बैक्ट्रिया, काबुल की घाटी, गन्धार और पश्चिमी पंजाब सम्मिलित थे। इन दोनों वंशों में अनेक छोटे-बड़े राजा हुए, जिनके नाम के सिक्के पश्चिमी भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों में पाये गये हैं। परन्तु उनके विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इनमें सबसे प्रसिद्ध राजा मीनैण्डर हुआ। यह बड़ा वीर योद्धा था। इसने अनेक प्रदेशों को जीतकर अपने राज्य का विस्तार बढ़ाया। इसके नाम के सिक्के काबुल से लेकर मथुरा तक पाये गये हैं। यह बौद्ध-धर्म का अनुयायी था और भारतीय इतिहास में मिलिन्द के नाम से प्रसिद्ध है। मिलिन्द-पन्हो नामक बौद्ध-ग्रन्थ में मीनैण्डर और बौद्ध विद्वान् नागसेन के धर्म-सम्बन्धी प्रश्नोत्तरों का उल्लेख है। इस शासक के कुछ ऐसे भी सिक्के मिले हैं जिन पर 'धर्म-चक्र' बना हुआ है तथा 'ध्रमिकस्' (धार्मिकस्य) का लेख है। 'मिलिन्द-पन्हो' के अनुसार इसकी राजधानी साकल अति भव्य और वैभव-सम्पन्न थी। उसमें अनेक रम्य उद्यान, स्वच्छ जलाशय तथा सुन्दर भवन थे। उसकी दूकानें क्रय-विक्रय की नाना प्रकार की वस्तुओं से परिपूर्ण रहती थीं। टर्नर के अनुसार उसकी मृत्यु १५०-४५ ई० पू० में हुई। उसके उत्तराधिकारियों के विषय में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

यूनानी प्रभाव—भारतीय यूनानियों की छोटी-छोटी कुछ रियासतें पहली शताब्दी तक बनी रहीं। परन्तु भारत में यूनानी प्रभाव बहुत ही सीमित रहा। हाँ, कुछ क्षेत्रों में विचारों, सभ्यता और संस्कृति का आदान-प्रदान अवश्य हुआ। अभी तक भारतीय सिक्कों की बनावट बड़ी भद्दी होती थी। परन्तु यूनानियों के प्रभाव से यहाँ नियमित रूप से सुडौल और सुन्दर सिक्के ढलने लगे। अभी तक यूनानी भाषा में लिखा हुआ कोई भी शिला-लेख उपलब्ध

नहीं हुआ है। सिक्कों पर भी खरोष्ठी लिपि का प्रयोग किया गया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि यूनानी भाषा भारतीयों में प्रचलित न थी। परन्तु ज्योतिष-शास्त्र में अवश्य ही भारतीयों ने यूनानियों से बहुत कुछ सीखा। गार्गी-संहिता का कथन है कि 'यवन असभ्य हैं, परन्तु फिर भी ज्योतिष-शास्त्र की उत्पत्ति उन्होंने की। अतः इसके लिए वे देवताओं की भाँति आदरणीय हैं।' हिन्दुओं के रोमक और पौसिल सिद्धान्त यूनानी प्रभाव के प्रमाण हैं। यह कहना कठिन है कि भारतीय शिल्प-कला पर यूनानियों का कहाँ तक प्रभाव पड़ा। अभी तक इस समय का कोई भी पूर्ण भवन प्राप्त नहीं हुआ है। स्थापत्य-कला की भी कोई विशेष वस्तु उपलब्ध नहीं हुई है। फिर भी यह निर्विवाद सिद्ध है कि कालान्तर की गान्धार-कला पर अवश्य यूनानियों का प्रभाव पड़ा है। यूनानी-भारतीय संपर्क का प्रभाव व्यापारिक क्षेत्र में अति अनुकूल रहा। इससे दोनों देशों में अधिकाधिक व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित होता रहा। पारस्परिक आवागमन से दोनों देशों के सांस्कृतिक विचारों में भी आदान-प्रदान हुआ; परन्तु राजनीतिक दृष्टि से यूनानी भारतीयों को प्रभावित न कर सके। कालान्तर में वे स्वयं ही विस्तृत हिन्दू-समाज में लुप्त हो गये। यूनानियों का भारतीयकरण हमारे इतिहास की एक विशेष घटना है। शिला-लेखों से ज्ञात होता है कि बहुतों ने तो भारतीय धर्मों को अंगीकार कर अपने नामकरण भी भारतीय प्रणाली पर कर डाले थे। इस दिशा में हेलीओडोरस और मिलिन्द के नाम उल्लेखनीय हैं।

ब—शक, पह्लव तथा कुशान

शक—लगभग १६५-१६० ई० पू० मध्य एशिया में एक महत्त्वपूर्ण घटना हुई जिसका प्रभाव भारतीय इतिहास पर भी पड़ा। चीन के उत्तर-पश्चिम में ह्यंग-नू नामक एक खानाबदोश जाति ने यूची नामक एक अन्य जाति को परास्त किया तथा उसके प्रदेश पर स्वयं अधिकार कर लिया। अब यूची जाति को विवश होकर नये स्थान की खोज में दक्षिण की ओर बढ़ना पड़ा। मार्ग में उसने शक जाति के निवास-स्थान (सर नदी का उत्तरी प्रदेश) पर अधिकार कर लिया। अब शकों को भी नये प्रदेश की खोज में दक्षिण

की ओर जाना पड़ा। इन्होंने लगभग १४०-१२० ई० पू० वैक्ट्रिया और पार्थिया के राज्यों पर आक्रमण किया। तत्पश्चात् उन्होंने उस प्रदेश पर आधिपत्य जमा लिया जो बाद को सीस्तान या शकस्तान के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वहाँ से ये अफगानिस्तान और बिलोचिस्तान होते हुए भारतवर्ष में आये। दक्षिणी सिन्ध के ऊपर शकों का आधिपत्य हो गया और अब यह शक-द्वीप के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यहाँ से समय-समय पर इन्होंने भारतवर्ष के अनेक भागों में अपनी बस्तियाँ बसाईं।

पश्चिमी पंजाब का प्रथम शक राजा मवेज था जिसके सिक्कों तथा शिलालेखों से पता चलता है कि वह ईसा से पूर्व पहली शताब्दी में शासन करता था। उसका राज्य सम्भवतः काबुल की घाटी और पूर्वी पंजाब के मध्य भाग में स्थित था। उसके बाद उसका उत्तराधिकारी एजेज प्रथम हुआ जिसके समय में शकों ने अपना राज्य पूर्वी पंजाब तक बढ़ा लिया। उसकी मृत्यु पर एजिलिजेज और एजेज द्वितीय क्रमशः गद्दी पर बैठे। तत्पश्चात् शक-राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और उस पर पह्लवों ने अपना अधिकार जमा लिया।

क्षत्रप—फारस की प्रथा के अनुसार शक अपने साम्राज्य के प्रान्तों को वंश-परम्परागत शासकों (गवर्नरों) को सौंपकर शासन चलाते थे। इन शासकों को क्षत्रप के नाम से पुकारते हैं। उत्तरी-पश्चिमी भारत में लिआक कुसुलक और पतिक, मथुरा में रंजुबुल और सोडास, महाराष्ट्र में भूमक और नहपान तथा उज्जैन के चष्टन और रुद्रदामन ऐसे ही क्षत्रपों में थे।

पार्थियन—उत्तरी-पश्चिमी भारत की विजय में पार्थियन भी शकों से पीछे न रहे। जिस समय यूथीडेमस तथा डेमिट्रियस भारत की विजय में संलग्न थे, फारस का बादशाह मिथेडेटीज पंजाब के कुछ भाग जीत चुका था। पहली शताब्दी के प्रारम्भ में पार्थियनों ने शकों का सिक्का उखाड़ना प्रारम्भ कर दिया था। भारत का एक पार्थियन राजा गाण्डोफेरीज था जिसका नाम इसलिए विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसका ईसाई महात्मा सेण्ट टामस से सम्बन्ध था। ऐसा कहा जाता है कि सेण्ट टामस ने इससे अपना महल बनवाने के लिए कुछ रुपया लिया, पर उसे दान दे डाला। अतः वह कारागार में डाल दिये गये, परन्तु जब राजा को यह मालूम हुआ कि इसके लिए

स्वर्ग में महल बन चुका है तो उसने इन्हें छोड़ दिया। बाद को यह महात्मा दक्षिण की ओर पर्यटन के लिए गये; पर वहाँ के एक राजा के हाथ से शहीद हुए। मद्रास के मैलापुर में एक छोटे टीले को इनकी कब्र कहा जाता है, पर हो सकता है कि इस कथानक के सभी अंश सत्य न हों।

कुशन—यह पहले कहा जा चुका है कि ह्यूंगनू नामक शक्तिशाली जाति से पदाक्रांत होकर यूची जाति दक्षिण की ओर चली तथा ऑक्सस (आमू दरिया) नदी के तट पर बस गई। यूची जाति के पाँच वर्गों में कुशन वर्ग कैडफिसेज प्रथम की अध्यक्षता में विशेष बलवान् हो गया। उसकी निश्चित तिथि बताना कठिन है; परन्तु उसके आक्रमण की तिथि सन् ४० ई० कही जाती है। उसने मध्य एशिया से लेकर सिंधु नदी के तट तक अपना विशाल साम्राज्य स्थापित किया तथा उस प्रदेश के प्राचीन पार्थियन शासकों का नामोनिशान मिटा दिया। वह अस्सी वर्ष की उम्र में मरा।

कैडफिसेज द्वितीय—उसके पश्चात् उसका पुत्र वीमा कैडफिसेज या कैडफिसेज द्वितीय गद्दी पर बैठा। इसने भारत के अन्दर गंगा-जमुना के मैदान में धावा मारा। कुछ लोगों के अनुसार यह सन् ७८ ई० में गद्दी पर बैठा; परन्तु कुछ के मत से यह इस तिथि के अनेक वर्षों पश्चात् गद्दी पर बैठा।

चीनी ऐतिहासिक वृत्तान्तों में एक उल्लेख आया है कि सन् ९० ई० में भारत के सम्राट् ने चीनी सम्राट् होती से विवाह के लिए उसकी लड़की माँगी। परन्तु उसने ऐसा करने से इनकार किया, अतः भारतीय सम्राट् ने उस पर आक्रमण करने के लिए पामीर के प्लेटो के रास्ते एक सेना भेजी; किन्तु चीनी जनरल पान चाओ ने इस सेना को परास्त किया और भारतीय सम्राट् को विवश होकर होती को भेंट देनी पड़ी।

संवत्—भारत में इन शक, पार्थियन तथा कुशन शासकों की तिथि निश्चित न मालूम हो सकने का बहुत कुछ कारण यह है कि इस युग के जो शिलालेख अनेक संवतों में दिये हैं, उनमें इनका उल्लेख नहीं किया गया। इनमें से सबसे प्राचीन शक संवत् सम्भवतः ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दी के दूसरे भाग में चलाया गया था, परन्तु यह भारत के अन्दर विशेष प्रचलित नहीं हो सका। दूसरा संवत् विक्रमीय संवत् है जो ईसा से ५७ वर्ष पूर्व

चलाया गया जिसका संस्थापक, भारतीय लोकमत के अनुसार, मालवा का शक्तिशाली राजा विक्रमादित्य था।

दूसरा शक संवत् सन् ७८ ई० में चलाया गया, जो बंगाल तथा दक्षिण में अब भी प्रचलित है। परन्तु यह निश्चित नहीं कि इसका चलाने-वाला कौन था। कुछ विद्वानों का कथन है कि चूँकि कैडफिसेज द्वितीय का शासन-काल सन् ७८ ई० के लगभग प्रारम्भ हुआ होगा, अतः उसे ही इस संवत् का संचालक मान लेना तर्कसंगत होगा। परन्तु कुछ अन्य लोगों का कथन है कि कैडफिसेज द्वितीय का उत्तराधिकारी कनिष्क प्रथम इसका संचा-लक था। एक और सम्भावना यह है कि सम्भवतः इसका संचालक मध्य भारत का कोई क्षत्रप वंश रहा हो, जिसका हम नीचे उल्लेख करते हैं।

कैडफिसेज द्वितीय के पश्चात् अनेक वर्षों के अनन्तर कनिष्क प्रथम पुरुसपुर (पेशावर) में राजसिंहासन पर बैठा। सन् ७८ ई० से लेकर १५० ई० तक तथा उसके भी आगे की तिथियाँ उसके शासन-काल की बनाई गई हैं, परन्तु वे सब काल्पनिक हैं। उसका साम्राज्य पूर्व में कम से कम बनारस तक फैला हुआ था। उसने पामीर के उस पार खुतन तथा काशगर को जीता तथा चीनी युवराजों को, शरीर बन्धक की स्थिति में, अपने राजदरबार में रक्खा। उसने पश्चिम में भी पार्थिया के राजा को परास्त किया। इस प्रकार वह एक बहुत विस्तृत साम्राज्य का स्वामी हो गया। उसका काश्मीर से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था। वहाँ उसने कनिष्कपुर नामक नगर बसाया तथा अनेक स्तूप बनवाये। उसने गान्धार में भी अनेक कलापूर्ण भवन बनवाये। उसके सिक्कों पर यूनानी, भारतीय तथा फारसी देवताओं एवं महात्मा बुद्ध की मूर्ति पाई गई है।

बौद्ध-सभा—कनिष्क की कीर्ति उसके बौद्ध-मत के संरक्षण पर निर्भर है, जिसके इतिहास में उसका नाम केवल अशोक के बाद आता है। उसने काश्मीर में एक बौद्ध-सभा बुलाई जिसने धार्मिक ग्रंथों पर भाष्य तैयार किये। इस सभा की कार्यवाही कुछ ताँबे के तवों पर खुदी हुई मिली है, जो इसी हेतु बने हुए एक स्तूप के नीचे सुरक्षित थे। ऐसा ज्ञात होता है कि यह सभा केवल एक बौद्ध हीनयान वर्ग सर्वास्तिवादिन की थी।

महायान—इसी समय बौद्ध-धर्म में एक बड़ा परिवर्तन हो रहा था जिसका कारण कनिष्क न था। पहले से ही बौद्ध-मत में अनेक सम्प्रदाय हो चुके थे, परन्तु इस समय एक महत्त्वपूर्ण धर्म-भेद हुआ जिसके कारण महायान शाखा चली। महायान मत की विशेषताएँ बौद्ध-धर्म के साथ बतलाई जा चुकी हैं, अतः उनकी पुनरावृत्ति उचित न होगी।

राज-दरबार—बहुत थोड़े ऐसे सम्राट् हुए हैं जिनका राजदरबार कनिष्क जैसा रहा हो। इस समय का सबसे प्रतिष्ठित बौद्ध अश्वघोष था जो दार्शनिक होने के अतिरिक्त एक उच्चकोटि का कवि तथा अनेक बौद्ध काव्यों और नाटकों का लेखक था, जो कि मध्य एशिया में पाये गये हैं। प्राचीन भारत के सबसे बड़े चिकित्सा के विद्वान् चरक के अतिरिक्त इस काल में और भी वसुमित्र, पार्श्व तथा संरक्षक आदि बड़े बड़े बौद्ध थे।

उत्तराधिकारी—कनिष्क तेईस वर्ष शासन करने के पश्चात् मर गया और उसके पश्चात् उसका उत्तराधिकारी वसिष्क गद्दी पर बैठा जिसने केवल पाँच वर्ष राज्य किया। उसके पश्चात् हुविष्क शासक हुआ जिसके अपने समकालीन शासक कनिष्क द्वितीय के साथ सम्बन्ध का रहस्य अभी तक खुल नहीं पाया है। इसका अन्तिम राजा वसुदेव था जिसने कनिष्क संवत् ७० से १०० तक शासन किया, चाहे जब यह संवत् प्रारम्भ हुआ हो। ऐसा ज्ञात होता है कि उसके समय में कुशन-साम्राज्य केवल मथुरा तक ही सीमित रह गया था।

स—पश्चिमी भारत के क्षत्रप

ईसा से पूर्व ६१—परम्परागत अनुश्रुति के अनुसार शक प्रथम बार मध्य भारत में ईसा से ६१ वर्ष पूर्व आये; परन्तु ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य ने उन्हें मार भगाया।

क्षहरात—मध्य तथा पश्चिमी भारत पर शकों का अधिकार सम्भवतः कुछ दिनों पश्चात् नहपान की अध्यक्षता में हुआ जो कि क्षहरात वंश का था तथा पंजाब का क्षत्रप था। उसकी तिथि अनिश्चित है, पर कुछ लोगों का कहना है कि शक संवत् को सम्भवतः उसी ने या उसके पूर्वज ने स्थापित किया था। कुछ लोग इनकी तिथि कुछ पहले भी बताते हैं।

पश्चिमी क्षत्रप—दूसरी शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में नहपान शात-वाहन-वंश के गौतमी-पुत्र शातकर्णी द्वारा पादाक्रान्त हुआ (नवाँ अध्याय देखिए) परन्तु बाद में उसे एक दूसरे क्षत्रप-वंश के सामने हारना पड़ा जिसका राज्य गुजरात से लेकर मध्य तथा पश्चिमी भारत तक विस्तृत था।

रुद्रदामन—इस वंश का प्रथम राजा उज्जैन का चष्टन था जिसकी तिथि १३० ई० है। उसका पौत्र रुद्रदामन एक बड़ा विजेता था जिसने अपने साम्राज्य को मालवा, गुजरात, सिन्ध तथा कोंकन तक फैलाया। जूनागढ़ (काठियावाड़) में पाये गये उसके शिलालेख से ज्ञात होता है कि वह एक विद्वान् शासक था जिसकी साहित्य में रुचि तथा संस्कृत के साहित्य शास्त्र पर अधिकार था। उसने गिरनार की एक झील की मरम्मत कराई जिसको चंद्रगुप्त मौर्य ने बनवाया था तथा अशोक ने जिसकी मरम्मत कराई थी।

द—विदेशी शासन का प्रभाव

कला : गान्धार-प्रणाली—इस काल की सांस्कृतिक अवस्था का पिछले अध्याय में वर्णन किया जा चुका है। अतः इस अध्याय में हम विदेशी शासन के प्रभाव के कुछ विशिष्ट अंगों तक ही अपने को सीमित रक्खेंगे। भारत में विदेशी शासन की सबसे महत्त्वपूर्ण देन बौद्ध कला है जो कि इस काल में उत्तरी-पश्चिमी भारत में पहली शताब्दी में पली। इस कला को गान्धार-प्रणाली के एक विशिष्ट नाम से पुकारते हैं, जो साँची, भरहुत की प्राचीन भारतीय कला-प्रणाली से भिन्न है। इस कला का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग था महात्मा बुद्ध की मूर्ति का निर्माण, जो पहले मध्यभारत में कभी भारतीय कलाकारों द्वारा प्रस्तर की नहीं बनाई गई थी। अतः इस प्रदेश में अनेक कलाकार उठ खड़े हुए जिन पर इस विदेशी कला का प्रभाव पड़ा, क्योंकि उनकी कृतियों में यूनान-रोमन प्रणाली ही स्पष्ट मालूम होती है। यद्यपि इन कृतियों का रूप अवश्य विदेशी है; परन्तु उसका विषय हमेशा भारतीय रहा है तथा बौद्ध कथानकों एवं पुराणों से लिया गया है। यह विदेशी प्रभाव पंजाब में यूनानी शासन का सीधा प्रभाव नहीं मालूम होता; क्योंकि ये प्रायः सभी मूर्तियाँ पार्थियन तथा कुशन शासन-काल की हैं, भारतीय यूनानियों के समय की नहीं।

मथुरा-प्रणाली—गान्धार-प्रणाली के प्रकर्ष के साथ ही मथुरा जैनों तथा बौद्धों का केन्द्र हो गया और उन्होंने यहाँ अनेक मूर्तियाँ, इमारतें तथा स्तूप बनवाये। मथुरा-प्रणाली गान्धार-प्रणाली के समक्ष कोई विशेष आकर्षक नहीं मालूम होती; परन्तु दोनों का ही भारतीय कला के इतिहास में एक विशिष्ट स्थान है। मथुरा-प्रणाली में कुछ भारतीयता विशेष है, क्योंकि उसमें साँची तथा भरहुत की परम्परा को कुछ कुछ अपनाया गया है; परन्तु इसके साथ ही उसमें गान्धार-प्रणाली का भी समावेश है। मथुरा की मूर्तियों में आकार की वह मंजुलता तथा सौष्ठव नहीं जो कि गान्धार-प्रणाली में है।

विदेशियों का मिश्रण—विदेशियों ने कुछ ही दिनों में अपनी संस्कृति तथा परम्पराओं को भुला दिया और उनके स्थान में भारतीय पद्धतियों को ग्रहण कर लिया। जिस शीघ्रता के साथ वे भारतीयों में मिल गये, उसे देखकर आश्चर्य होता है। यूनानी हेलियोडोरस तथा मीनाण्डर का तो कहना ही क्या, थैठपगइसिज द्वितीय शैव हो गया तथा कनिष्क बौद्ध एवं कनिष्क के उत्तराधिकारी पुनः बौद्ध हो गये।

विदेशी सम्बन्ध—भारत में विदेशी राज्य के कारण यहाँ के निवासियों का अपने उत्तरी-पश्चिमी पड़ोसियों से विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध बढ़ गया। स्थल-मार्ग द्वारा भी व्यापार बढ़ रहा था। कुशन शासनकाल में बौद्ध-धर्म चीन तथा मध्य एशिया में फैल चुका था, क्योंकि वहाँ दूसरी शताब्दी के बौद्ध ग्रंथ पाये गये हैं।

साहित्य—कनिष्क के राज्य-परिवार में संस्कृत का बड़ा मान था। दार्शनिक कवि अश्वघोष ने बौद्ध विषयों पर अनेक काव्य तथा नाटक लिखे जो कि शुद्ध तथा सुन्दर संस्कृत में थे। इसी समय 'दिव्यावदान' की रचना हुई जिसमें बौद्ध गल्प तथा कथानक दिये हुए हैं। इसी समय 'ललित विस्तार' की भी रचना हुई जिसमें महात्मा बुद्ध के जीवनचरित्र पर प्रकाश डाला गया है।

पश्चिमी क्षत्रपों ने भी संस्कृत-साहित्य को बहुत उत्साहित किया। जब समकालीन ब्राह्मणों का शातवाहन-वंश अपने शिलालेखों में प्राकृत का प्रयोग करता था, उसी समय पश्चिमी क्षत्रप अपने पाषाण-लेखों में संस्कृत को प्रयोग

में लाते थे। अपने एक शिलालेख में रुद्रदामन आत्मश्लाघा करता है कि वह गद्य तथा पद्य दोनों ही अलंकृत संस्कृत में लिख सकता है। उसके शिलालेख का स्वयं ही संस्कृत-साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है; क्योंकि यही अलंकृत संस्कृत गद्य का प्रथम उदाहरण है जो कि अब तक प्राप्त हो सका है। अतः यह समझना भ्रमपूर्ण होगा कि विदेशी शासन के कारण भारतीय प्रतिभा के विकास में किसी प्रकार का अवरोध हुआ। उत्तरी-पश्चिमी तथा मध्यभारत में इन विदेशियों ने सांस्कृतिक विकास में अवरोध करने के स्थान पर उलटे उसमें सहायता ही की।

ग्यारहवाँ अध्याय

अ—गुप्त साम्राज्य

नाग—ईसा की प्रथम शताब्दी से ही उत्तरी तथा मध्यभारत में नाग-वंश के विभिन्न राजवंश राज्य कर रहे थे जिन्होंने पर्याप्त शक्ति तथा यश प्राप्त किया। यही नाग-वंश इतिहास में भारशिव नाम से भी प्रसिद्ध है। इस वंश ने अनेक अश्वमेध यज्ञ किये। इधर कुछ दिनों से नागवंश के पूरे इतिहास का तथा विशेषतः भारशिववंश के इतिहास का पता लगाने का प्रयास किया जा रहा है, परन्तु इस दिशा में इतिहासवेत्ता किसी सफल परिणाम तक नहीं पहुँचे।

चन्द्रगुप्त प्रथम—कनिष्क के बाद उत्तरी भारत में प्रथम विस्तृत तथा स्थायी साम्राज्य चन्द्रगुप्त प्रथम ने स्थापित किया जो कि स्थानीय सामन्त घटोत्कच का पुत्र तथा श्रीगुप्त का पौत्र था। उसका शासन प्रारम्भ में मगध में था; परन्तु उसने बाद में इलाहाबाद तथा अवध तक का प्रान्त पश्चिम की ओर जीत लिया। उसने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की तथा लिच्छवि वंश की राजकुमारी कुमारदेवी से विवाह करके अपनी राजस्थिति को अधिक स्थायी बना लिया। संभवतः अपने राज्याभिषेक के उपलक्ष में सन् ३१९-२० ई० के लगभग इसने एक संवत् चलाया जो इतिहास में गुप्त संवत् के नाम से प्रख्यात हुआ है।

समुद्र गुप्त—उसका पुत्र समुद्र गुप्त (३३५ ई० से ३७५ ई० तक) ही वस्तुतः गुप्त साम्राज्य का संस्थापक था। हमें उसके इलाहाबाद के स्तम्भ-लेख से उसके महान् कार्यों का पता चलता है। इसमें उसने अपनी विजय तथा विदेशी सम्बन्ध को चार भागों में बाँटा है।

(१) उसने आर्यावर्त या उत्तरी भारत के राजाओं को, जिनमें निश्चय ही कुछ नाग वंश के थे, जीता तथा उनका राज्य अपने साम्राज्य में मिलाया।[१]

१—उनके नाम निम्न हैं :—

रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मन्, गणपतिनाग, नागसेन, अच्युत, नन्दी, बलवर्मन्।



यूनानी सिक्के



हिन्दू-यूनानी सिक्के



कनिष्क के सिक्के



समुद्रगुप्त के सिक्के


गुप्त साम्राज्य
काबुल
पेशावर
तक्षशिला
काश्मीर
श्रीनगर
लाहौर
जालन्धर
इन्द्रप्रस्थ
मथुरा
कान्यकुब्ज
श्रावस्ती
कुशीनगर
कपिलवस्तु
कोशल
अयोध्या
ग्वालियर
पद्मावती
प्रयाग
काशी
वैशाली
पाटलिपुत्र
गया
बोधगया
चम्पा
नाग प्रदेश
मन्दसौर
मालवा
विदिशा
उज्जैन
सांची
धार
गुजरात
सौराष्ट्र
द्वारका
वल्लभी
जूनागढ़
सोमनाथ
सूरत
नासिक
देवगिरि
पैठन
महाकोशल
सोनपुर
पुरी
महेन्द्रगिरि
ताम्रलिप्ति
कामरूप
समतट
तिब्बत
हिमालय पर्वत
बंगाल की खाड़ी
अरब सागर
पिष्टपुर
कांची
मदरास
नेल्लौर
उरैयूर
तंजोर
मदुरा
पांड्य
सिंहल या ताम्रपर्णी
समुद्र गुप्त की दिग्विजय

(२) दक्षिणी-पूर्वी समुद्र-तट के पास काञ्ची (काञ्जीवरम्, मद्रास के पास) तक के राजाओं को हराया; परन्तु उनको अपने सिंहासन पर रहने दिया[२]।

(३) समतट (पूर्व मध्य बंगाल), दवाक (अनिश्चित), कामरूप (आसाम), नेपाल, कतृपुत्र (उत्तर प्रदेश का पर्वतीय प्रदेश) इत्यादि सीमा प्रान्तों के शासक, पंजाब तथा राजपूताना की जातीय रियासतों के शासक जैसे मालव, यौधेय, मद्रक तथा आभीर इत्यादि और बघेलखण्ड एवं छोटा नागपुर के वन्य प्रदेशों के शासक उसके अधीन थे।

(४) उत्तर-पश्चिम के स्वाधीन शकवंशीय शासक, तथा लंका आदि अन्य द्वीपसमूहों के भी राजागण उसको सम्मान की दृष्टि से देखते थे।

इससे यह मालूम होता है कि गुप्त साम्राज्य उत्तरी भारत में जमुना तक फैला हुआ था तथा इसमें मध्यभारत का भी कुछ भाग तथा पश्चिमी बंगाल मिला हुआ था। दक्षिण में उसने बहुत दूर तक विजय की थी परन्तु उसने विजित प्रदेशों को अपने राज्य में न मिलाया था।

अपनी विजय के उपरान्त समुद्रगुप्त ने अनेक अश्वमेध यज्ञ बड़ी धूमधाम के साथ किये।

लंका के एक ऐतिहासिक वृत्तान्त में इस बात का उल्लेख आता है कि वहाँ के राजा मेघवर्ण ने अनेक बहुमूल्य उपहारों के साथ भारतीय सम्राट्

२—ये निम्नलिखित हैं:—

दक्षिणी कोशल के महेन्द्र, महाकान्तार के व्याघ्रराज, केरल के मण्टराज, पिष्टपुर के महेन्द्रगिरि, कोट्टूर के स्वामिदत्त, एरण्डपल्ली के दमन, काञ्जी के विष्णुगोप, अवमुक्त के नीलराज, वेंगि के हस्तिवर्मन्, पालक्क के अग्रसेन, देवराष्ट्र के कुवेर, कुस्थलपुर के धनंजय। ये प्रायः सभी स्थान उड़ीसा तथा मद्रास के समुद्रतट पर पाये गये हैं। पहले जो यह धारणा थी कि समुद्रगुप्त विजय करके महाराष्ट्र तथा खानदेश से लौटा, अब मिथ्या सिद्ध हो चुकी है।

के पास बोध-गया में मठ बनाने की अनुमति माँगने के लिए राजदूत भेजा। भारतीय सम्राट् ने तुरन्त ही मठ बनाने की अनुमति दे दी।

समुद्रगुप्त के लेखों से पता चलता है कि वह उच्च कोटि का कवि, संगीतज्ञ तथा बहुत ही उदार हृदय का था। उसने अनेक प्रकार के सोने के सिक्के चलाये जिनमें से एक में वीणा लिये ए उसकी मूर्ति अंकित की गई है।

रामगुप्त—समुद्रगुप्त के पश्चात् उसका निर्बल पुत्र रामगुप्त गद्दी पर बैठा जिसकी स्त्री को एक शक राजा ने माँगा। परन्तु उसके छोटे भाई चन्द्रगुप्त ने स्त्री के वेष में जाकर उस शक सम्राट् को मार डाला फिर रामगुप्त की भी हत्या करके उसकी विधवा ध्रुवदेवी से विवाह करके वह सिंहासन पर बैठा। परन्तु कुछ इतिहासवेत्ता इस वृत्तान्त को असत्य मानते हैं और चन्द्र-गुप्त द्वितीय को ही सीधे समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी मानते हैं जो कि ३७५ ई० में गद्दी पर बैठा।

चन्द्रगुप्त द्वितीय—चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल की महत्त्वपूर्ण घटना चष्टन तथा रुद्रदामन के वंशज, उज्जैन के पश्चिमी क्षत्रपों पर उसकी विजय थी। इस आक्रमण (३९० ई०) का परिणाम यह हुआ कि मालवा तथा गुजरात के प्रदेश गुप्त-साम्राज्य में मिला लिये गये तथा गुप्त सम्राट् मध्य दक्षिण के वाकाटक राजाओं के सम्पर्क में आये। वाकाटक वंश के युवराज रुद्रसेन द्वितीय के साथ चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्त का विवाह हो गया। इस सम्बन्ध से दोनों ही पक्षों को लाभ रहा। गुप्त सम्राट् को दक्षिण में एक विश्वासपात्र शक्तिशाली मित्र मिल गया इसलिए वह उस ओर से निर्भय हो गया और वाकाटक वंशीय राजे उत्तरी भारत के प्रतिद्वन्द्वी की ओर से आक्रमण से निश्चिन्त हो गये।

चन्द्रगुप्त द्वितीय का दूसरा नाम देवगुप्त अथवा देवराज भी था तथा उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। उसके शासनकाल में भारत के पर्यटन के लिए एक चीनी यात्री फाह्यान आया। ३९९ ई० में उसने अपनी यात्रा प्रारम्भ की तथा पामीर को पारकर ४०१ ई० में वह भारत पहुँचा। वह ४१० ई० तक सारे भारत में पर्यटन करता रहा तथा उसके उपरान्त पूर्वी बन्दरगाह ताम्रलिप्ति के एक जहाज पर बैठकर उसने पूर्वी द्वीपसमूह की ओर

प्रस्थान किया। भारत के विषय में उसने जो वर्णन किया है, उसका नीचे उल्लेख किया जायगा।

कुमारगुप्त प्रथम—चन्द्रगुप्त द्वितीय ४१३ ई० में मर गया तथा उसके उपरान्त उसका पुत्र कुमारगुप्त प्रथम गद्दी पर बैठा जिसने महेन्द्रादित्य की उपाधि धारण की। यद्यपि उसने एक अश्वमेध यज्ञ भी किया परन्तु अपने शासनकाल के अन्तिम दिनों में वह पुष्यमित्रों तथा हूणों के आक्रमणों से चिन्तित रहा।

हूण—चौथी शताब्दी के द्वितीय भाग में एशिया के स्टेप्स की एक जाति हूण ने इधर-उधर घूमना प्रारम्भ किया। उनकी एक शाखा योरुप में पहुँची जहाँ कि वह बाद में दबा दी गई। परन्तु उनकी दूसरी शाखा पाँचवीं शताब्दी के मध्य में भारत के अन्दर विशाल संख्या में घुस आई जिसके कारण गुप्त साम्राज्य की जड़ ही हिल गई।

स्कन्दगुप्त—कुमारगुप्त का पुत्र स्कन्दगुप्त ४५५ ई० में विपत्तियों से घिरे हुए राजसिंहासन पर बैठा। वैयक्तिक रूप से वह बहुत ही वीर शासक था। उसके भितरी (गाजीपुर जिला) के स्तम्भ लेख से ज्ञात होता है कि उसने पुष्यमित्रों को हराया तथा उनके नेता का मान चूर कर दिया। इसके पश्चात् वह हूणों के साथ भयंकर युद्ध में संलग्न हुआ तथा अपनी वीरता से पृथ्वी को कँपा दिया और अपने वंश के बिगड़े हुए भाग्य को सुधारा। परन्तु इन युद्धों से उसका कोष खाली हो चुका था, अतः उसे खराब सिक्के चलाने पड़े।

पुरगुप्त—४६७ ई० में उसका भाई पुरगुप्त विक्रमादित्य राजसिंहासन पर बैठा। इसने बहुत थोड़े दिन शासन किया। इसके बाद अनेक उत्तराधिकारी गद्दी पर शीघ्र शीघ्र बैठे, जैसे नरसिंह गुप्त बालादित्य तथा कुमारगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य जो कि केवल ४७७ ई० तक शासन कर सका। इसी वर्ष शासन की बागडोर बुद्धगुप्त के हाथ में चली गई (४७७-४९६) ई० जिसके कि पिछले शासक के सम्बन्ध के विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। स्कन्दगुप्त के पश्चात् शीघ्र-शीघ्र अनेक शासकों के बदलने पर भी अभी तक साम्राज्य पूर्वी मालवा से बंगाल तक फैला हुआ था।

परन्तु गुजरात तथा पश्चिमी मालवा गुप्त साम्राज्य से निकल चुके थे, यद्यपि बीच में उन्होंने इस खोये हुए प्रान्त को पुनः पा लेने का कई बार प्रयास किया।

उत्तराधिकारी—गुप्तवंश के अनेक राजाओं के नाम उनके सिक्कों, शिलालेखों से हमें मिलते हैं जैसे भानुगुप्त, वैन्य गुप्त, परन्तु उनका वंश क्रमावली में निश्चित स्थान नहीं मालूम होता।

ब—समकालीन शासक

वाकाटक वंश की स्थापना मध्यप्रान्त में २५० ई० में विन्ध्यशक्ति ने की जिसके पूर्वजों के विषय में कुछ भी नहीं मालूम है। उसके पौत्र गौतमीपुत्र ने शक्तिशाली भारशिव राजवंश के राजा भवनाग की लड़की से विवाह किया। जब गौतमीपुत्र के पौत्र रुद्रसेन ने चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावती गुप्त से विवाह किया तो इस राजवंश का गुप्तवंश से भी सम्बन्ध हो गया।

अपने उत्कर्षकाल में वाकाटक साम्राज्य उड़ीसा के कुछ भागों में, मध्य प्रान्त, हैदराबाद तथा पश्चिमी समुद्रतट तक के विशाल प्रान्त में फैला हुआ था। यह वंश स्वतन्त्र रूप से ५५० ई० तक चलता रहा।

गुप्त शासन काल में बघेलखण्ड तथा जबलपुर के पास का प्रान्त दो वंशों के सामन्तों के अधिकार में था। प्रथम तो परिव्राजक महाराज तथा द्वितीय उच्चकल्प महाराज। इनमें से प्रथम तो निश्चित ही तथा द्वितीय सम्भवतः गुप्त शासकों के सामन्त गण थे।

वल्लभी—४७० ई० में सेनापति भटर्कि ने वल्लभी (काठियावाड़ में वलाह) मित्रक वंश की स्थापना की। इस वंश के तृतीय शासक ने महाराजा की उपाधि धारण की तथा आगे आनेवाले शासकों ने महाराजाधिराज की। यह वंश ७७० ई० तक शासन करता रहा तथा अपने अनेक भूमिदान पत्रों के कारण प्रसिद्ध है।

हूण—स्कन्दगुप्त हूणों का बढ़ना केवल थोड़े दिनों के लिए ही रोक पाया। अपने सेनानी तोरमाण की अध्यक्षता में वे पुनः भारत के अन्दर घुस आये तथा ४९० ई० तक मध्यभारत के प्लेटो के अधिकांश भाग पर अधिकार

कर लिया। तोरमाण के पश्चात् उसका पुत्र मिहिरकुल गद्दी पर बैठा जिसके लिए कहा जाता है कि उसे गुप्त सम्राट् बालादित्य ने परास्त किया। परन्तु हूणों के अनेक स्थानीय शासक अपनी-अपनी रियासतों में बहुत दिनों तक शासन करते रहे।

यशोधर्मन्—मिहिरकुल को पूर्णतया परास्त करने का पूरा श्रेय मध्य-भारत के एक शासक यशोधर्मन् को मिलना चाहिए जिसके एक शिला-लेख की तिथि ५३२ ई० मिली है। उसके पूर्वजों तथा उत्तराधिकारियों के विषय में कुछ भी पता नहीं चलता और सम्भवतः वह स्वयं भी अज्ञात ही रहता, यदि उसके मन्दसौर (मध्यभारत) में तीन शिलालेख न पाये जाते। इनमें उसे एक शक्तिशाली राजा कहा गया है, जिसने कि ब्रह्मपुत्र, पूर्वीघाट, हिमालय तथा अरब सागर तक पूरे भारतवर्ष को जीता तथा मिहिरकुल को पदाक्रान्त किया। यदि इनको राजकवियों की अतिशयोक्ति मान लिया जाय तब भी यह न मानना असम्भव है कि वह एक शक्तिशाली राजा था जिसने कि दूर-दूर तक विजय करके अपने लिए एक विशाल साम्राज्य स्थापित करने की चेष्टा की।

बंगाल—५४० ई० तक बंगाल में गुप्त साम्राज्य होने के प्रमाण मिलते हैं; परन्तु मालूम होता है, बंगाल ने शीघ्र ही, अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। इस काल के कुछ राजाओं के नामों का उल्लेख मिलता है; परन्तु यह ज्ञात नहीं कि उनकी उत्पत्ति कहाँ से हुई तथा उनका राज्य कहाँ तक था।

मौखरी—५०० ई० में मौखरियों ने कन्नौज में सम्भवतः एक सामन्त वंश स्थापित किया एवं इस वंश के चतुर्थ राजा ईशानवर्मन् ने महा-राजाधिराज की उपाधि धारण की तथा बंगाल एवं दक्षिण विजय के लिए प्रस्थान किया। उसका एक शिलालेख ५५४ ई० का है, अतः वह छठी शताब्दी का था। अन्तिम शासक ग्रहवर्मन् था जिसके पश्चात् ६०६ में यह वंश समाप्त हो गया। गया में इस वंश की एक सामन्त-शाखा थी।

उत्तरकालीन गुप्त—गुप्त शासकों की एक और शाखा राज्य कर रही थी जो कि उत्तरकालीन गुप्त के नाम से प्रसिद्ध है तथा चन्द्रगुप्त प्रथम के वंशज गुप्त सम्राटों से भिन्न है। इस वंश के राजा बिहार में शासन करते

रहे परन्तु सम्भव है कि उनका आदिम स्थान मालवा रहा हो, जहाँ से वे हर्षवर्धन के शासन-काल में मगध चले आये।

इस वंश का चौथा राजा कुमारगुप्त था जिसका मौखरी वंश के राजा ईशानवर्मन् से बैर हो गया। इसके विषय में कहा जाता है कि इसने दूर तक बंगाल तथा दक्षिण में विजय की। उसके पौत्र महासेनगुप्त ने आसाम के शासक को हराया तथा अपनी बहन का थानेश्वर के राजा आदित्यवर्धन के साथ विवाह किया।

कुछ काल के लिए इन उत्तरकालीन गुप्तों का सितारा कमजोर रहा जब कि हर्षवर्धन कन्नौज में शासन करता था। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद इन्होंने पुनः अपनी स्वाधीनता प्राप्त कर ली। ७२० ई० में इस वंश का अन्त हो गया।

स—गुप्तकाल

गुप्तकाल प्राचीन भारत के इतिहास का मध्ययुग है। पहले का सारा इतिहास इसमें समाप्त होता है तथा भविष्य का सारा इतिहास इससे निकलता है। यह वह काल है जब कि देश की प्रतिभा ने प्रत्येक दिशा में विकास पाया।

शासन व्यवस्था—गुप्त साम्राज्य अनेक स्थानीय प्रान्तों में बँटा हुआ था जिन्हें अलग-अलग एक विशिष्ट सीमा तक स्वतन्त्रता मिली हुई थी। इन सब पर राजा था जो महाराजाधिराज (कुशन के महाराज राजातिराज का प्रतिरूप) परम भट्टारक, चक्रवर्ती इत्यादि उपाधियों को धारण करता था। राजधानी के आस-पास के जिलों का शासन सम्राट् स्वयं करते थे। राजा के शासन की परिधि के बाहर अनेक प्रान्त (भुक्ति) थे जिनका शासक भोगिक, भोगपति, गोप्त इत्यादि भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता था। इन प्रान्तों के भी छोटे-छोटे भाग होते थे जो विषय कहलाते थे। इनके शासक विषय-पति को या तो प्रान्तीय शासक या सम्राट् नियुक्त करते थे। गाँव का शासक मुखिया या ग्रामपति होता था। नगर शासक द्रांगिक कहलाता था। इनके

अतिरिक्त राज्य के अन्य उच्च पदाधिकारी दण्डनायक (न्याय विधान करनेवाले), महासेनापति, वलाध्यक्ष (फौजी अफसर) तथा दण्डपाशिक (पुलिस) इत्यादि थे। प्रत्येक विभाग का एक अलग कार्यालय था जिसमें अनेक पदाधिकारी नियुक्त रहते थे। प्रायः एक ही आदमी एक से अधिक चीजों की देख-रेख करता था। सामान्यतः ये पदाधिकारी वंश-परम्परागत होते रहते थे।

राज्य कार्य—ताँबे पर खुदे हुए गुप्तकाल के अनेक लेखों से पता चलता है कि राज्य की ओर से ब्राह्मणों को भूमि मिला करती थी। इनमें उनके अधिकारों तथा भूमि के विस्तार का पूरा उल्लेख रहता था। सिंचाई, बगीचे लगाना, मन्दिर बनवाना तथा नगरों का बसाना इत्यादि जो सार्वजनिक कार्य थे, उनका संरक्षण भी राज्य पर ही था। नालन्दा का महान् विश्वविद्यालय, जिसका अगले अध्याय में वर्णन किया जायगा, इसी युग में स्थापित हुआ था तथा उसे राज्य की ओर से आर्थिक सहायता प्राप्त थी।

शासन-प्रबन्ध—फाह्यान के वर्णनों से पता चलता है कि मौर्य-काल की भाँति शासन अब उतना कड़ा न रह गया था तथा देश की प्रत्येक गति स्वतन्त्रता का आभास करने लगी थी। मध्यदेश * के विषय में, जिसमें कि गुप्त साम्राज्य का अधिकांश भाग आ जाता था, वह कहता है :—

'इस देश की जलवायु शीतोष्ण तथा सुखद है। बर्फ तथा पाला यहाँ नहीं पड़ता। लोग खाते-पीते मजे में हैं तथा सामान्य-करों एवं पदाधिकारियों के नियंत्रणों से बचे हुए हैं। केवल वे, जो राजभूमि जोतते हैं, अपने लाभ का एक अंश राज-कर के रूप में देते हैं। वे जब जाना चाहते हैं, चले जाते हैं। जब रुकना चाहते हैं तब रुक जाते हैं। राजा बिना शारीरिक दण्ड दिये ही शासन करता है। अपनी स्थिति के अनुसार अपराधियों पर कम या

---

*मध्यदेश की परिभाषा जो ब्राह्मणों ने की थी, उसे नवें अध्याय में देखिए। बौद्ध बिहार को तथा बंगाल के अधिकांश भाग को इसी के अन्तर्गत मानते थे। फाह्यान का भी मध्यप्रदेश से वही तात्पर्य है जो कि बौद्धों का।

अधिक केवल जुर्माना होता है । अनेक बार राजविद्रोह करने पर भी केवल दाहिना हाथ काट लिया जाता है ।'

सारा समाज जातियों में विभक्त था। अपने-अपने वंश के वैदिक अध्ययन के अनुसार ब्राह्मण भी अनेक शाखाओं में बँटे हुए थे । समाज के निम्न तथा दलित वर्गों की दशा वस्तुतः शोचनीय थी । फाह्यान चाण्डालों के विश्य में लिखता है :—

'चाण्डालों को दुष्ट समझा जाता है, अतः वे अन्य लोगों से अलग रहते हैं। यदि वे किसी नगर या बाजार में जाते हैं तो अपने से दूसरों को बचाने के लिए लकड़ी बजाते हुए चलते हैं । अतः दूसरे आदमी यह जानकर कि यह कौन है, अपने को उनके सम्पर्क से बचाने की कोशिश करते रहते हैं । चाण्डाल केवल शिकार करते तथा मांस बेचते हैं ।'

फाह्यान यह भी कहता है कि 'देश भर में कोई आदमी किसी जीव को नहीं मारता तथा चाण्डालों के अतिरिक्त न कोई मदिरा पीता और न प्याज ओर लहसुन खाता है ।'

धर्म—गुप्त सम्राट् ब्राह्मण-धर्म के कट्टर अनुयायी थे तथा विष्णु उनके इष्ट देवता थे । वे अपना शासन-काल अश्वमेध करके प्रारम्भ करते थे जिसको अन्य भावी राजाओं ने भी करना प्रारम्भ कर दिया। विष्णु भगवान् के बाराह अवतार की विशेष पूजा होती थी। कुछ ऐसे भी प्रमाण मिले हैं जिनसे इस बात का पता चलता है कि शिव तथा आदित्य की भी पूजा उस समय प्रचलित थी।

फाह्यान के विवरणों से इस बात का पता नहीं चलता कि बौद्ध धर्म अवनति पर था। जहाँ भी वह पर्यटन करते हुए पहुँचा, वहाँ उसने हीनयान तथा महायान दोनों ही सम्प्रदायों को प्रचलित पाया। पूर्व में बौद्ध-मत के लिए राज-संरक्षण का अभाव तथा उत्तर पश्चिम में उन पर हूणों का अत्याचार उसके शीघ्र पतन के कारण माने जा सकते हैं ।

काल—कुशन काल में पाषाण-कला के गान्धार तथा मथुरा दो केन्द्र थे । गुप्तकाल में कला के केन्द्र पूर्व की ओर हटकर सारनाथ तथा नालन्दा में आ गये। इस काल की मूर्तियों की विशेषता उनके मुख की शान्त मुद्रा है जो कि उनके ध्यानमग्न शान्त मन का आत्मिक अभिव्यक्तीकरण है । उनके

विषय में यह धारणा नितान्त सत्य है कि विश्व के कला के क्षेत्र में भारत की जो देन है, उनमें ये ही सर्वोत्कृष्ट हैं। उपर्युक्त दोनों स्थानों में कला प्रायः पूर्णतः बौद्धमत की अनुगामिनी हो गई थी। मूर्तियों के आसन की विशेषता तथा तेज के चित्रण एवं प्रकार-बहुलता में पर्याप्त प्रगति हो चुकी थी। इस कला की ब्राह्मण-धर्म की मूर्तियाँ भी कम सुन्दर नहीं हैं। गुप्त सम्राटों या संभवतः वाकाटक सम्राटों के संरक्षण में मध्यभारत में बनी हुई कुछ शिव की मूर्तियाँ इस काल की कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं।

इस काल के कुछ मन्दिर भी पाये गये हैं जिनमें से भूमरा (नागौड़) देवगढ़ (झाँसी जिला) तथा भीतरगाँव (कानपुर जिला) के मंदिरों का उल्लेख किया जा सकता है। इस काल के मन्दिरों में उसकी चोटी पर हम शिखर पाते हैं, जो तब से उत्तरी भारत के मन्दिरों की एक विशेषता हो गई है।

इस काल की कला का उल्लेख करते हुए हमें अजन्ता (निजाम राज्य) की गुफाओं की चित्रकला को न भूल जाना चाहिए, यद्यपि अजन्ता की गुफाएँ गुप्त साम्राज्य में न थीं। ये गुफाएँ भिन्न-भिन्न समय पर खोदी गई तथा इन चित्रों में बहुत कम इस काल के हैं, फिर भी ये चित्र इतने सुन्दर हैं कि इनकी जितनी ही प्रशंसा की जाय थोड़ी है। यद्यपि ये बौद्धों की कृतियाँ हैं, पर उनमें धार्मिक कट्टरता का समावेश नहीं। ये चित्र मानवीय भावनाओं से ओत-प्रोत हैं, परन्तु फिर भी उनमें एक ऐसी आध्यात्मिक विचित्रता है जिससे वे विकारोत्पादक या अश्लील नहीं होने पाते।

विज्ञान—मेहरौली (देहली) में ढले हुए लोहे का स्तम्भ सम्राट् चन्द्र का बनवाया हुआ है। इस सम्राट् का समीकरण अधिकतर विद्वान् सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के उत्कृष्ट धातुशोधन-विज्ञान का प्रमाण है। इसके अतिरिक्त गुप्त काल में ही भारत के दो प्रसिद्ध ज्योतिष शास्त्र के ज्ञाता आर्यभट्ट (जन्म सन् ४७६ ई०) तथा वराहमिहिर (५०५-५८७) ई० हुए। कुछ काल के पश्चात् ही एक और ज्योतिष-विज्ञान का ज्ञाता ब्रह्मगुप्त (जन्म ५९८ ई०) हुआ।

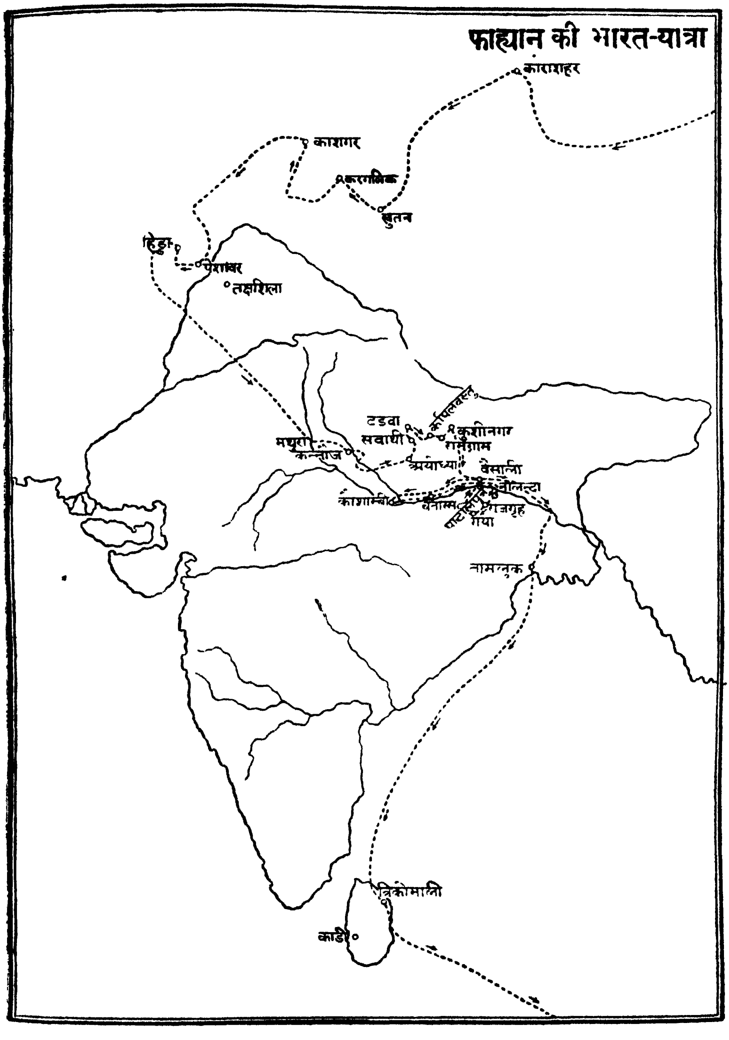
साहित्य—यही क्रियात्मक स्फूर्ति हमें साहित्य-क्षेत्र में भी मिलती है। इसी काल में कुछ पुराणों का अन्तिम सम्पादन हुआ। सम्भवतः याज्ञवल्क्य,

नारद तथा विष्णु की प्रसिद्ध स्मृतियाँ भी इसी समय रची गईं। ऐसा भी कहा जाता है कि संस्कृति का सर्वोत्कृष्ट कवि कालिदास भी इसी युग में हुआ जो कि प्रचलित परम्परा के अनुसार विक्रमादित्य (? चन्द्रगुप्त द्वितीय) तथा प्रवरसेन का समकालीन था। बहुत सम्भव है, प्रवरसेन किसी वाकाटक वंश के राजा का नाम रहा हो, परन्तु कालिदास के विषय में प्रचलित दन्तकथाएँ इतनी भ्रान्तिमय हैं कि जिन्हें उनकी तिथि निश्चित करने में असन्दिग्ध प्रमाण के रूप में नहीं लिया जा सकता। वह रघुवंश तथा कुमारसम्भव नामक दो काव्यों तथा शकुन्तला, मालविकाग्नि मित्र एवं विक्रमोर्वशीय तीन नाटकों का तथा मेघदूत एवं ऋतुसंहार इन दो गीत-काव्यों का प्रणेता है। ऊँचे कवित्वमय भावों से अनुप्राणित शैली की सरलता एवं शब्द-चयन के माधुर्य के कारण कालिदास संस्कृत-साहित्य में अद्वितीय हैं।

गल्प की सबसे प्रसिद्ध संस्कृत पुस्तक पंचतंत्र सम्भवतः इसी काल में या कुछ पहले रची गई। इसके गल्प फारस, अरब तथा योरुप तक पहुँच गये।

फाह्यान के विवरण का सन्देश—फाह्यान एक चीनी यात्री था, जो विनय-पिटक की हस्तलिपि की खोज में भारत आया। वह भारत में खोटान, गान्धार, तक्षशिला के मार्ग से प्रविष्ट हुआ तथा पुरुशपूर (पेशावर) में उसने सिन्धु को पार किया तथा मथुरा की ओर बढ़ा। वहाँ से वह कान्यकुब्ज, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, वैशाली, पटना, राजगृह, गया, बनारस इत्यादि घूमता हुआ पटना लौट आया। वहाँ से वह ताम्रलिपि (जिला मिदनापुर) गया तथा जहाज द्वारा लंका को प्रस्थान किया। लंका से वह जावा इत्यादि होता हुआ अन्त में फिर चीन पहुँच गया। वह ८८ वर्ष की उम्र में मरा।

इस बौद्ध भिक्षु ने मध्यप्रदेश के भारतीयों की रहन-सहन तथा चरित्र के विषय में अनेक अमूल्य विवरण दिये हैं। वह लिखता है:—"मनुष्यों की संख्या काफी है तथा वे प्रसन्न हैं। केवल वे जो राजभूमि जोतते हैं, अपने लाभ का कुछ अंश राज्य को कर-स्वरूप देते हैं। सम्राट् बिना शारीरिक दण्ड दिये ही राज्य करते हैं। प्रत्येक दशा में अपराधियों पर उनकी स्थिति के अनुसार कम या अधिक जुर्माना होता है। अनेक बार विद्रोह करने के पश्चात् केवल उनका दाहिना हाथ काट लिया जाता है। देश भर में कोई किसी जीव



फाह्यान की भारत-यात्रा
काराशहर
काशगर
करगलिक
खुतन
हिड्डा
पेशावर
तक्षशिला
टडवा
सवाथी
कुशीनगर
रामग्राम
मथुरा
कन्नौज
अयोध्या
वैसाली
राजगृह
गया
त्रिकोमाली

को नहीं मारता तथा न मदिरा पीता और न लहसुन या प्याज खाता है। ये काम केवल चाण्डाल करते हैं। यह नाम दुष्टों के लिए प्रयुक्त होता है। इन्हें दूसरों से अलग रहना पड़ता है। जब वे किसी नगर के सिंहद्वार अथवा बाजार में प्रविष्ट होते हैं, तो वे अपने आने की सूचना देने के लिए लकड़ी बजाते हुए चलते हैं ताकि लोग उन्हें आता हुआ जानकर उनके सम्पर्क से बचने के लिए मार्ग से हट जायँ। इस देश में सुअर तथा चिड़िया नहीं पाली जातीं और न जीवित पशु बेचा जाता है। बाजार में मदिरा तथा मांस की दूकानें नहीं रखी जा सकतीं। सामान बेचने या खरीदने में कौड़ियों का प्रयोग होता है। केवल चाण्डाल ही शिकार करते तथा मछली मारते हैं एवं गोश्त तथा मछली बेचते हैं।"

उसने एक बहुत ही विद्वान्, महायानमत के पण्डित राधास्वामी नाम के एक ब्राह्मण का उल्लेख किया है जो कि शुद्धता का जीवन बिताते थे। सम्राट् उनको बड़ा गुरु मानते तथा उनका आदर करते थे। आगे फाह्यान लिखता है :—

"इस देश के सबसे बड़े तथा महत्त्वपूर्ण नगर मध्यप्रदेश में हैं। यहाँ के नागरिक धनी तथा सम्पन्न हैं तथा सद्व्यवहार एवं दानशीलता में एक दूसरे से बढ़ने का प्रयास करते हैं। प्रतिवर्ष दूसरे महीने के आठवें दिन वे मूर्ति-समारोह मनाते हैं। वे चार पहियों का एक रथ बनाते हैं तथा उस पर पाँच मंजिल का एक ढाँचा बबूल की लकड़ी को बाँधकर तैयार करते हैं और उस पर सोने, चाँदी तथा नीलम की देवताओं की मूर्तियाँ सजाते हैं। चारों ओर चार आलों में महात्मा बुद्ध की तथा प्रत्येक के साथ में सेवार्थ खड़ी हुई एक बोधिसत्व की मूर्ति रहती है। बीस-बीस तक भव्य रथ रहते हैं; परन्तु सब एक दूसरे से बनावट में भिन्न।"

लोगों की दानशीलता का विवरण देते हुए चीनी यात्री लिखता है :—

"वैश्य वंशों के मुख्य पुरुष नगर में दान तथा औषधि वितरण करने के लिए स्थान बनवाते हैं। देश के सभी दीन तथा दरिद्र, अनाथ बच्चे, विधवाएँ तथा निस्सन्तान मनुष्य, लँगड़े-लूले एवं रोगी इन स्थानों पर जाते हैं, जहाँ उन्हें हर तरह की सहायता दी जाती है तथा वैद्य उनके रोगों की परिचर्या करते हैं। उन्हें अपनी अवस्था के अनुसार जिस प्रकार के

भोजन तथा औषधि की आवश्यकता होती है, वह दी जाती है तथा इस बात का प्रयास किया जाता है कि उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे। जब वे अच्छे हो जाते हैं तब स्वयं ही चले जाते हैं।"

पाटलिपुत्र एक भव्य नगर था जिसमें अनेक सुन्दर प्रासाद बने हुए थे। फाह्यान ने इसे स्वयं अपनी आँखों से देखा था।

"राजप्रासाद तथा नगर के बीच में बने हुए सभा-गृह जो कि पहले की भाँति अब भी बने हुए हैं वे सब प्रेतात्माओं द्वारा बनाये हुए हैं, जिन्होंने कि पत्थर ला-लाकर दीवालें एवं सिंहद्वार बनाये हैं, जिनमें अनेक सुन्दर चित्र एवं शिल्प-कौशल इस भाँति दिखाये गये हैं कि इस संसार के मनुष्यों द्वारा उनका बनाया जाना असम्भव है।"

देश के अनेक भागों का फाह्यान ने पर्यटन किया तथा बौद्धों के मठ के जीवन को देखा। भिक्षु सर्वसाधारण में धर्म-नियमों का उपदेश करते तथा उनसे दान ग्रहण करते थे। वह लिखता है :—

"भिक्षुओं का प्रतिदिन का कार्य अच्छे काम करना तथा ध्यानमग्न होकर अपने सूत्रों को दुहराना था। जब अपरिचित भिक्षु आते हैं तो वहाँ के प्राचीन भिक्षु आकर उनका स्वागत करते हैं तथा उनके लिए अपने वस्त्र तथा भिक्षा-पात्र ले आते हैं, पैर धोने के लिए जल देते, मालिश के लिए तेल देते तथा निश्चित समयोपरान्त हलका आहार देते हैं। कुछ समय के विश्राम के उपरान्त वे उससे पूछते हैं कि उसे भिक्षु हुए कितने दिन हो गये। इसके पश्चात् उसे उसके स्थायी नियमों के अनुकूल उचित उपकरणों से युक्त शयनागार मिलता है। इस प्रकार नियमों के अनुसार उसकी हर प्रकार की उचित सेवा की जाती है।"

'संस्कृति का पुनर्जन्म' वाला मत—१९वीं शताब्दी के लोगों की धारणा थी कि भारत में कुशन तथा शक राज्यकाल में संस्कृत भाषा का ह्रास होने लगा था जिसकी छठी शताब्दी के मध्य में जाकर पुनः जागृति हुई। परन्तु जैसा कि पहले हम कह आये हैं, संस्कृत भाषा का ह्रास कभी नहीं हुआ, विदेशी शासकों तक ने इसका संरक्षण किया। गुप्त काल के साहित्य के इतिहास के प्रारम्भकाल में ही सम्राट् समुद्रगुप्त का इलाहाबाद का स्तम्भ-लेख

मिलता है, जिसकी भाषा के मार्जित एवं अलंकृत रूप को देखकर यह मानना ही पड़ता है कि इसकी पृष्ठ-भूमि में वर्षों का साहित्य-विकास निहित है।

अ—गुप्त सम्राट्

गुप्त
|
घटोत्कच
|
चन्द्रगुप्त प्रथम (३१९-३३५) = लिच्छिवि वंश की कुमारदेवी
|
समुद्रगुप्त (३३५-३७५ ई०)
|
रामगुप्त (३७५ ई०) — चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५-४१३ ई०)

चन्द्रगुप्त द्वितीय
|
कुमारगुप्त प्रथम (४१३-४५५ ई०) — प्रभावती गुप्त रुद्रसेन द्वितीय वाकाटक

कुमारगुप्त प्रथम
|
स्कन्दगुप्त (४५५-६७ ई०) — पुरगुप्त (४६७-७० ई०)

पुरगुप्त (४६७-७० ई०)
|
नरसिंहगुप्त (४७०-७३ ई०)
|
कुमारगुप्त द्वितीय (४७३-७७ ई०)
|
बुद्धगुप्त (४७७-९६ ई०)
|
भानुगुप्त
|
वैन्यगुप्त

ब—वाकाटक वंश

विन्ध्यशक्ति
|
प्रवरसेन प्रथम
|
गौतमीपुत्र = भारशिववंश के भवनाग की पुत्री
|
रुद्रसेन प्रथम
|
पृथ्वीसेन प्रथम
|
रुद्रसेन द्वितीय = प्रभावतीगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री
|
दिवाकरसेन — दामोदरसेन — प्रवरसेन द्वितीय
|
नरेन्द्रसेन
|
पृथ्वीसेन — देवसेन
|
हरिशेण

स—मौखरी वंश

हरिवर्मन्
|
आदित्यवर्मन् = हर्षगुप्त, उत्तरकालीन गुप्तवंश के कृष्ण गुप्त की पुत्री
|
ईश्वरवर्मन्
|
ईशानवर्मन् (५५४ ई०)
|
सूर्यवर्मन्. — सर्ववर्मन्
|
अवन्तिवर्मन्
|
ग्रहवर्मन् = राज्यश्री, थानेश्वर के प्रभाकरवर्धन की पुत्री

द—उत्तरकालीन गुप्तवंश

कृष्णगुप्त

हर्षगुप्त | हर्षागुप्त = आदित्यवर्मन् (मौखरी)

जीवितगुप्त प्रथम

कुमारगुप्त तृतीय

दामोदरगुप्त

महासेन गुप्त | महासेन गुप्त—थाने-श्वर के आदित्यवर्धन

देवगुप्त द्वितीय१ | कुमारगुप्त२ | माधवगुप्त३

आदित्य सेन

देवगुप्त तृतीय

विष्णुगुप्त

जीवितगुप्त द्वितीय

१—चूंकि चन्द्रगुप्त द्वितीय का दूसरा नाम देवगुप्त था, अतः इस राजकुमार का नाम देवगुप्त द्वितीय रक्खा गया है ।

२—इस युवराज ने कभी शासन नहीं किया।

३—माधवगुप्त हर्ष का मित्र था, जिसने सम्भवतः उसे मगध का शासक बनाया। हर्ष की मृत्यु के पश्चात् माधवगुप्त के उत्तराधिकारियों ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया तथा कुछ पीढ़ियों तक मगध पर राज्य करते रहे।

वल्लभी के मैत्रक

- भटार्क (४७०-८० ई०)
  - धरासेन प्रथम (४८०-५०० ई०)
  - द्रोणसेन (५००-५२० ई०)
  - ध्रुवसेन प्रथम (५२०-५० ई०)
  - द्वारपट्ट
    - गुहासेन (५५०-७० ई०)
      - धरासेन द्वितीय (५७०-९५ ई०)
        - शीलादित्य (५९५-६१०)
          - देवभट्ट
            - ध्रुवसेन तृतीय (६५१-५५)
            - खरग्रह द्वितीय (६५५-६०)
            - शीलादित्य द्वितीय (६६०-६५)
              - शीलादित्य तृतीय (६६९-९०)
                - शीलादित्य चतुर्थ (६९०-७१०)
                  - शीलादित्य पंचम (७१०-३५)
                    - शीलादित्य षष्ठ (७३५-६५)
                      - शीलादित्य सप्तम (७६५-८०)
        - खरग्रह प्रथम (६१०-१५)
          - धरासेन तृतीय (६१५-२५)
          - ध्रुवसेन द्वितीय (६२५-४०)
            - धरासेन चतुर्थ (६४०-५१)

बारहवाँ अध्याय

वर्धन साम्राज्य

थानेश्वर का राजवंश--जिस समय उत्तरकालीन गुप्त तथा मौखरी वंश के राजा आपस में लड़ रहे थे, उस समय स्थानेश्वर (पूर्वी पंजाब में थानेश्वर) के राजा आदित्यवर्धन ने मालवा नरेश महासेनगुप्त की बहिन से विवाह करके एक बड़े राजवंश की स्थापना की। उसके पुत्र प्रभाकर वर्धन ने हूणों को परास्त किया तथा सिन्धु, उत्तरी गुजरात एवं कुछ अन्य प्रान्तों पर विजय प्राप्त की। उसने मालव-नरेश महासेनगुप्त को भी हराया तथा कुमारगुप्त एवं माधवगुप्त दो छोटे राजकुमारों को अपने पुत्र राज्यवर्धन तथा हर्षवर्धन के साहचर्य के लिए ले आया।

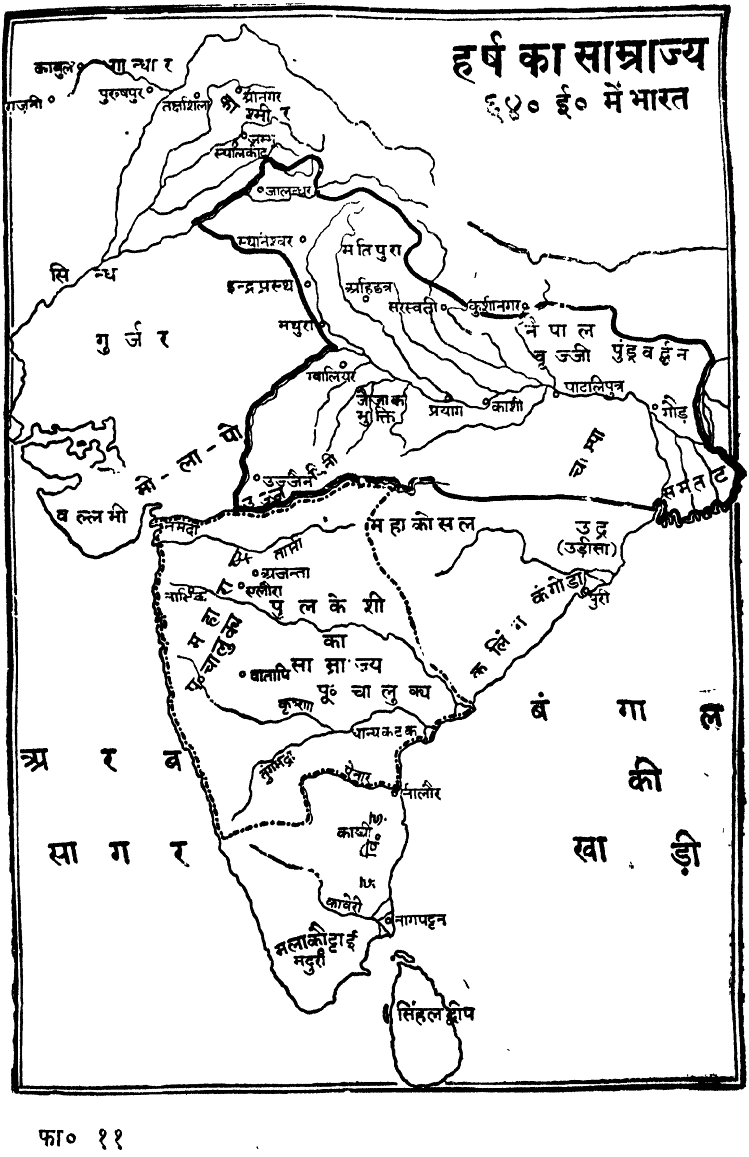
राज्यवर्धन--प्रभाकर वर्धन के दो पुत्र तथा एक पुत्री थी। सबसे बड़ा पुत्र राज्यवर्धन ५८६ ई० में, हर्षवर्धन ५९० ई० में तथा राज्यश्री ५९२ ई० में उत्पन्न हुए। ६०५ ई० में राज्यश्री का कन्नौज के मौखरी नरेश ग्रहवर्मा के साथ विवाह हो गया। उसी वर्ष राजवर्धन ने हूणों को परास्त करने के लिए उन पर आक्रमण किया; परन्तु पिता की अचानक मृत्यु के कारण रिक्त सिंहासन पर अधिकार करने के लिए उन्हें शीघ्र ही वापस लौटना पड़ा। परन्तु राज्याभिषेक होने के प्रथम ही यह खबर मिली कि उसके बहनोई ग्रहवर्मा को मालवा के राजा देवगुप्त ने मार डाला जो कि सम्भवतः महासेनगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र था तथा साथ ही यह भी ज्ञात हुआ कि देवगुप्त के मित्र बंगाल नरेश शशांक ने राज्यश्री को कन्नौज में कैद कर रक्खा है। राज्यवर्धन ने तुरन्त मालवा पर आक्रमण किया तथा देवगुप्त को हराया; परन्तु स्वयं शशांक द्वारा मारा गया। इस भाँति मालवा के गुप्तवंशीय राजा तथा बंगाल के स्वतंत्र राजा ने मिलकर वर्धन-साम्राज्य के लिए संकटकाल उपस्थित कर दिया।

हर्षवर्धन--जिस समय हर्षवर्धन गद्दी पर बैठा, वह केवल सोलह वर्ष का था। वह पहले राज्यश्री को छुड़ाने के लिए कन्नौज गया, पर वहाँ पता चला कि वह पहले से ही कारागार से निकल चुकी है। अनेक वन्य प्रदेशीय

मनुष्यों की सहायता से वह उसे वन में मिली और आत्म-हत्या करने के लिए आग में कूदने ही जा रही थी कि उसको हर्ष ने आग में कूदने से बचाया तथा कन्नौज लिवा लाया जहाँ ग्रहवर्मा के मन्त्रियों ने कन्नौज का राज्य उसके सुपुर्द किया। अब हर्ष के राज्य में थानेश्वर तथा कन्नौज दोनों ही शामिल थे। ६०६ ई० वाला हर्ष का संवत् उसके सिंहासन पर बैठने की तिथि है।

हर्ष के सिंहासन पर बैठते ही थानेश्वर तथा कन्नौज के राजवंश एक हो गये। कन्नौज पहले से ही मौखरी शासकों की अध्यक्षता में भारत का राजनैतिक केन्द्र बन चुका था तथा हर्ष के समय में वह उत्तरी भारत का सबसे प्रमुख नगर बन गया। आगे आनेवाली अनेक शताब्दियों तक कन्नौज साम्राज्य-केन्द्र बना रहा तथा उसकी वही प्रतिष्ठा रही जो कि प्राचीन काल में पाटलिपुत्र की थी।

राजनैतिक दशा—हर्ष के शासन-काल का प्रथम भाग तो साम्राज्य-विस्तार में लगा। उसने बंगाल के राजा शशांक को मारने का प्रण किया था; परन्तु सम्भवतः उसके विरुद्ध वह सफल नहीं हो पाया, क्योंकि शशांक के ६१९ ई० तक शासन करने के प्रमाण मिलते हैं। शशांक इस तिथि के कितने दिनों बाद तक जीता रहा, यह निश्चयपूर्वक नहीं मालूम हो पाया है। सन् ६२५ ई० में आसाम नरेश, हर्ष के मित्र 'भास्करवर्मन्' ने बंगाल पर अधिकार कर लिया था। दक्षिण में चालुक्य-वंशीय महाराष्ट्र के राजा पुलकेशिन् ने हर्ष की सेना को हरा दिया। गुजरात भी वल्लभी नरेशों के शासन-काल में स्वतन्त्र बना रहा, यद्यपि उस वंश का राजा ध्रुवसेन उसका मित्र एवं विवाह के कारण सम्बन्धी था। उज्जैन का राजा एक ब्राह्मण था जो सम्भवतः हर्ष के अधीन न था। अतः हर्ष का साम्राज्य विशेष विस्तृत न था तथा उसकी गुप्त साम्राज्य से भी तुलना नहीं की जा सकती। पूर्वी पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा बिहार के एक भाग ही निश्चित रूप से उसके साम्राज्य के अन्तर्गत कहे जा सकते हैं। नैपाल भी सम्भवतः उसके साम्राज्य में रहा हो, पर यह भी निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। अपने शासनकाल के अन्तिम दिनों में (६४३ ई०) हर्ष ने दक्षिण में गञ्जम (मद्रास प्रान्त के उत्तर में) पर आक्रमण किया, पर मालूम नहीं उसका परिणाम क्या हुआ।


हर्ष का साम्राज्य
६४० ई० में भारत
काबुल
गान्धार
पुरुषपुर
तक्षशिला
श्रीनगर
काश्मीर
स्यालकोट
जालन्धर
स्थानेश्वर
मतिपुर
इन्द्रप्रस्थ
अहिछत्र
सरस्वती
कुशीनगर
मथुरा
नेपाल
वृज्जी
पुंड्रवर्द्धन
सिन्ध
गुर्जर
ग्वालियर
पाटलिपुत्र
प्रयाग
काशी
गौड़
चम्पा
उज्जैन
वल्लभी
नर्मदा
महाकोसल
समतट
उद्र
(उड़ीसा)
ताप्ती
अजन्ता
एलोरा
नासिक
पुलकेशी
का
साम्राज्य
वातापि
पुं० चालुक्य
कृष्णा
पुरी
धान्यकटक
बंगाल
की
खाड़ी
अरब
सागर
पेनार
नालौर
कांची
कावेरी
नागपट्टन
मदुरा
सिंहल द्वीप

फा० ११

वाण—संस्कृत गद्य का सर्वोत्कृष्ट लेखक वाण हर्ष का समकालीन था। वह उसकी राजसभा में रहता था। उसने हर्षचरित तथा कादम्बरी नाम की दो पुस्तकें लिखी हैं जो कि साहित्य की दृष्टि से अनुपम हैं। यदि हर्षचरित की अतिशयोक्ति निकाल दी जाये तो हमें उसमें अनेक ऐतिहासिक सत्य तथा हर्ष के प्रारम्भिक जीवन का सच्चा विवरण मिल जायेगा।

ह्वेनसांग—चीनी यात्री ह्वेनसांग चीनी बौद्धों में सबसे प्रसिद्ध है जिसने हर्ष के समय में भारत की यात्रा की। गोबी तथा खोतान के रेगिस्तान से होता? आ वह अफगानिस्तान पहुँचा तथा खबर के दर्रे से ६२९ ई० में भारत में प्रविष्ट ुआ। यहाँ १५ वर्ष ठहरने तथा सभी महत्त्वपूर्ण स्थानों को देखने के पश्चात् वह भारत से ६४४ ई० में चला गया। फाह्यान की तरह केवल बौद्ध-धर्म ही में नहीं, वरन् अन्य बातों में भी वह भाग लेता था तथा वह अनेक राजसभाओं म भी गया। 'सी-यू की' नामक पुस्तक में जिसमें कि भारत के विवरण दिये हुए हैं, अनेक बौद्ध कथानक भी हैं जिन्हें उसने भारत में सुना या पढ़ा था। अनेक, स्थानों एवं खण्डहरों का वर्णन, भारतीयों की सामाजिक तथा राजनैतिक अवस्था का उसमें सविस्तर उल्लेख है। अनेक उपहारों तथा उपाधियों से विभूषित होकर वह ६४५ ई० में स्वदेश पहुँचा। ६६४ में वह मर गया; परन्तु तब से अपनी विद्वत्ता तथा धार्मिक अवस्था के लिए वह प्रसिद्ध है।

सभाएँ—हर्ष का निमन्त्रण पाकर यह यात्री उससे ६४२ ई० में मिला। उसके आदर के लिए हर्ष ने धार्मिक वाद-विवाद के लिए कन्नौज में एक सभा बुलवाई जिसमें बाईस राजा भी सम्मिलित हुए। इसके पश्चात् यह सभा ६४३ ई० में पंचवर्षीय सम्मेलन के लिए प्रयाग चली आई। यहाँ पर पाँच वर्ष में एकत्री-भूत समस्त धन को हर्ष दान कर देता था, ब्राह्मण-विद्वान् साधु, अन्य कर संन्यासी तथा बौद्ध-भिक्षु ही प्रायः इस दान को पाते थे। इसके पश्चात् यात्री को स्वदेश लौटने की आज्ञा मिल गई।

हर्ष की मृत्यु—हर्ष ६४६ या ६४७ में मर गया। वह एक महान् राजा था जिसे वाण तथा ह्वेनसांग ने और भी महान् बना दिया है। यद्यपि वह शिव तथा आदित्य का पुजारी था, परन्तु अपने जीवन के अन्तिम काल में

बौद्धमत की ओर झुकने लगा था तथा देश भर में पशु-हत्या बंद करवा दी थी। संस्कृत के तीन प्रसिद्ध नाटक रत्नावली, प्रियदर्शिका तथा नागानन्द उसके बनाये हुए कहे जाते हैं, परन्तु बहुत संभव है कि उनका रचयिता राजसभा का कोई राजकवि रहा हो।

ह्वेनसांग का हर्ष के विषय में विवरण—"शासक वैश्य जाति का है। उसका नाम हर्षवर्द्धन है। अनेक राजपदाधिकारी मिलकर देश का शासन चलाते हैं। छः वर्ष के युद्ध के पश्चात् उसने भारत-विजय की। अपने साम्राज्य का विस्तार कर उसने अपनी सेना भी बढ़ाई। उसके पास ६०,००० युद्ध के हाथी तथा एक लाख घुड़सवार हैं। तीस वर्ष के पश्चात् उसके हाथ ने विश्राम ग्रहण किया तथा हर स्थान पर उसका शासन शान्तिमय हो गया। उसके पश्चात् उसने मृदु व्यवहार करने का भरसक प्रयास किया तथा देश भर में धार्मिक वृत्ति को अंकुरित करने में इतना व्यस्त हो गया कि उसे खाने तथा सोने तक की सुध न रहती। उसने देश भर में पशु-हत्या तथा मांस-भोजन बन्द करवा दिया तथा इस अपराध को अक्षम्य घोषित किया जिसकी सजा प्राण-दण्ड थी। उसने गंगा नदी के किनारे सहस्रों स्तूप बनवाये जो कि १०० फुट ऊँचे थे तथा नगर-ग्राम के सभी राजमार्गों पर सारे भारत में उसने चिकित्सालय खुलवाये जिनमें अशनपानादिक मिलता था तथा वहाँ पर वैद्य सभी यात्रियों तथा गरीबों को औषधि बाँटते थे।

यदि कोई राजकार्य होता तो वह अपने सभासदों को उसके सम्पादन के लिए भेजता। यदि किसी नगर के निवासियों के आचरण में कुछ परिवर्तन दीख पड़ता तो वह भी उसके साथ जाता था। उसका प्रत्येक दिन तीन भागों में बँटा हुआ था—प्रथम भाग में वह राज्य-कार्य देखता दूसरे भाग में वह धार्मिक कार्यों में संलग्न रहता तथा इस भाग में कोई बाधा न दे सकता था। इस तरह उसका दिन कभी लम्बा न जान पड़ता।" इन बातों से ज्ञात होता है कि हर्ष बहुत ही विचारपूर्ण शासक था जिसकी भावनाएँ बहुत ही महान् थीं।

ह्वेनसांग भारतीयों तथा उनके चरित्र के विषय में अच्छी धारणा लेकर गया। भारत के लोगों के विषय में वह कहता है :—

"यद्यपि वे विशेष गम्भीर नहीं, फिर भी वे सच्चे और ईमानदार हैं। धन के मामलों में किसी से छल-प्रपंच नहीं करते तथा व्यवहार में भी वे निश्छल तथा निष्कपट हैं। उनके शासन के नियमों में भी बड़ी सच्चाई है तथा उनका व्यवहार अत्यन्त मधुर एवं मृदुल है।"

न्याय-व्यवस्था—'जब नियम तोड़े जाते है तो उसका अर्थ होता है शासक की शक्ति को न मानना। अतः इन नियमों की ठीक-ठीक खोज करने के पश्चात् अपराधियों को कारावास का दण्ड दिया जाता है। कोई शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता। अपराधियों को केवल मरने के लिए छोड़ दिया जाता है तथा उनकी मनुष्यों में गणना नहीं होती। जब कोई सम्पत्ति अथवा न्याय के नियमों को भंग करता है या जब कोई विश्वासघात करता या पिता के प्रति कर्त्तव्य से च्युत होता है, तो उसकी नाक या कान काट लिये जाते हैं या उसके हाथ और पैर काटकर उसको देश से निकालकर वन्य प्रदेशों तथा रेगिस्तान में डाल दिया जाता है। इन अपराधों के अतिरिक्त अन्य छोटे अपराधों पर केवल थोड़ा सा जुर्माना दे देने से आदमी दण्ड से बच जाता है।' इसके आगे ह्वेनसांग उल्लेख करता है कि "अपराधी द्वारा अपराध स्वीकार कराने के लिए जल, अग्नि, मार तथा विष की चार परीक्षाएँ होती हैं।

शासन—चूँकि शासन-व्यवस्था उच्च आदर्शों द्वारा अनुप्राणित है अतः उसके सम्पादन में कठिनाई नहीं पड़ती। रजिस्टर में कुटुम्बों के नाम नहीं दर्ज किये जाते और न लोगों से बेगार ही ली जाती है। लोगों पर कर भी हल्के हैं तथा उनसे जो वैयक्तिक कार्य लिया जाता है, वह भी साधारण-सा है।"

आर्थिक दशा—'जो राजभूमि जोतते हैं उन्हें अपनी उपज का छठा भाग भूमि-कर के रूप में देना पड़ता है। जो लोग वाणिज्य तथा व्यापार करते हैं वह उसके लिए इधर-उधर आया-जाया करते हैं। नदी के पुलों तथा सड़क के फाटकों पर थोड़ी सी चुंगी देनी पड़ती है। सोने या चाँदी के सिक्कों के न होने के कारण आपस में केवल वस्तुओं के आदान-प्रदान पर व्यापार चलता है।'

जातियाँ—'वंश के भागों के अनुसार कुल चार वर्ग हैं। प्रथम में तो पवित्र आचारवाले ब्राह्मण आते हैं। अपने को वे धर्म से रक्षित रखते तथा पवित्र जीवन व्यतीत करते हैं। उसके सिद्धान्त भ्रम-रहित होते हैं।

'दूसरी राजवंशों की क्षत्रिय जाति है। युगों से ये शासक-वर्ग में रहे हैं। वे पुण्य तथा दयालुता का अपने जीवन में अनुसरण करते हैं। तीसरा व्यापारियों का वर्ग वैश्य जाति के नाम से पुकारा जाता है। ये वाणिज्य व्यापार करते तथा लाभ के लिए देश-विदेश घूमते हैं। चौथा है कृषक-वर्ग जो कि शूद्र कहलाता है। ये खेत जोतते तथा बोते हैं। एक बार विवाह होने के पश्चात् स्त्री का द्वितीय विवाह नहीं हो सकता।

'प्याज तथा लहसुन बहुत कम पैदा किया जाता है तथा बहुत कम आदमी इन्हें खाते हैं। यदि कोई आदमी इन्हें खाता है तो नगर की सीमा के बाहर निकाल दिया जाता है। दूध, मक्खन, मलाई, मुलायम शक्कर तथा मिश्री, सरसों का तेल तथा हर प्रकार के अन्न की रोटियाँ ही साधारणतया सर्व-साधारण का भोजन है। मछली, बकरा, हिरन तथा छोटे मृगों इत्यादि का मांस ताजा ही खाया जाता है तथा कभी उनमें नमक भी डाल लिया जाता है।'

'वह सिले हुए या फैशनदार कपड़े नहीं पहनते। वे प्रायः स्वच्छ श्वेत कपड़े पहनते हैं तथा मिले हुए रंग के या कामदार कपड़ों को भी पसन्द करते हैं। कुछ लोग मूँछें मुड़वाते हैं तथा अन्य विचित्र रीतियों का अनुसरण करते हैं।'

सफाई—'अपनी वैयक्तिक सफाई की ओर लोग बहुत ही ध्यान देते हैं तथा तनिक भी असावधानी नहीं होने देते। भोजन के प्रथम लोग स्नान करते हैं तथा कभी उच्छिष्ट भोजन नहीं खाते। वे अपनी थालियों को नहीं लाँघते। भोजन करने के पश्चात् वे सींक से दाँत साफ करते हैं तथा हाथ एवं मुँह धोते हैं।'

नगर एवं घर—'नगर एवं ग्रामों के अन्दर फाटक होते हैं तथा दीवालें

---

*एक अनुवादक लिखता है कि कपड़े सिले नहीं जाते।

चौड़ी एवं ऊँची होती हैं। गलियाँ तथा सड़कें संकीर्ण एवं टेढ़ी-मेढ़ी हैं। राजमार्ग गन्दे तथा उनके दोनों ओर उचित चिन्हों से युक्त दूकानें हैं। कसाई, मछुए, नर्तक, जल्लाद, सफाई करनेवाले मेहतर इत्यादि शहर के बाहर रहते हैं। आने-जाने में इनको अपने बायें चलने की आज्ञा है जब तक कि वे अपने घर न पहुँच जायँ। घरों की दीवालें कच्ची मिट्टी या चूने से ढंकी रहती हैं तथा स्वच्छता के लिए गोबर से लिपी रहती हैं।'

भाषा—'मध्यदेश में भाषा का वही प्राचीन तथा आदिम रूप अभी तक बना हुआ है। यहाँ पर देववाणी की भाँति लोगों का उच्चारण कोमल तथा मधुर है। शब्दों का उच्चारण स्पष्ट तथा शुद्ध है और सब लोगों के लिए आदर्श है।'

यद्यपि देश भर में अनेक शिक्षा-संस्थाएँ थीं; परन्तु इस युग का सबसे महत्त्वपूर्ण केन्द्र नालन्दा (राजगिर के पास बड़ा गाँव) का मठ था। अनेक परम्परागत सम्राटों के संरक्षण में यह संस्था बन पाई थी। ह्वेनसांग यहाँ रहा तथा बहुत दिनों तक अध्ययन करता रहा। वह नालन्दा के जीवन का निम्नलिखित शब्दों में वर्णन करता है :—

'अत्यन्त उच्च कोटि की प्रतिभा तथा योग्यतावाले यहाँ कई सहस्र भिक्षु हैं। इस समय उनकी योग्यता चरम सीमा पर पहुँच चुकी है तथा अनेक ऐसे हैं जिनका यश सुदूर देशों में फैल चुका है। उनका चरित्र पवित्र तथा अदूषित है। वे नैतिक नियमों का बहुत ही तत्परता से अनुसरण करते हैं। मठ के नियम बहुत ही कड़े हैं तथा सभी भिक्षुओं को उनका अनुसरण करना पड़ता है। भारत के विभिन्न प्रान्त उनकी प्रतिष्ठा करते तथा उनका अनुसरण करते हैं। प्रश्न पूछने तथा उनका उत्तर देने के लिए दिन पर्याप्त नहीं होता। सुबह से रात्रि तक वे वाद-विवाद में व्यस्त रहते हैं तथा छोटे-बड़े एक दूसरे की सहायता करते हैं। जो त्रिपिटक की समस्याओं पर वाद-विवाद नहीं कर सकते, उनकी प्रतिष्ठा कम होती है तथा वे लज्जा से अपना मुंह छिपाते फिरते हैं, अतः विभिन्न देशों के विद्वान् जो कि शीघ्र ही वाद-विवाद में योग्यता प्राप्त करना चाहते हैं, अपनी शंकाओं का समाधान करने के लिए आते हैं और उसके पश्चात् अपनी विद्या को चतुर्दिक फैलाते हैं।

अत: बहुत से लोग अपने को नालन्दा के विद्यार्थी कहकर लोगों में प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। यदि विभिन्न स्थानों के लोग वाद-विवाद के लिए यहाँ प्रवेश करना चाहते हैं तो सिंहद्वार के प्रहरी उनसे कुछ प्रश्न करते हैं जिनका उत्तर न दे सकने पर वे अन्दर नहीं जा सकते। अन्दर प्रवेश पाने के लिए मनुष्य को पहले प्राचीन तथा नवीन सभी ग्रन्थ पढ़ जाना चाहिए । वे विद्यार्थी जो बाहर के तथा अपरिचित होते हैं, उन्हें कठिन वाद-विवाद द्वारा पहले अपनी योग्यता दिखानी पड़ती है। उत्तीर्ण होनेवालों की अपेक्षा अनुत्तीर्ण होनेवाले दस में सात या आठ रहते हैं।' इसके पोषण के लिए सौ ग्राम लगे हुए थे। इस काल के सबसे प्रसिद्ध बौद्ध पण्डित गुणमति, स्थिरमति, जिनमित्र तथा शीलभद्र इत्यादि थे जो कि इस विश्वविद्यालय के अध्यापक थे। इस मठ में लगभग सौ व्याख्यान-स्थान थे तथा विद्यार्थी व्याख्यान में अवश्य उपस्थित रहते थे। भिक्षु इतने संयत तथा गौरवयुक्त थे कि इस संस्था के स्थापित होने के ७०० वर्ष बाद तक कोई नियम का उल्लंघन अथवा अनुशासन-भंग नहीं हुआ। राज-सहायता के अतिरिक्त गृहस्थ भी कई सहस्र पिकुल चावल (१ पिकुल = १३३।। पौण्ड) तथा कई सौ कट्टी (१ कट्टी = १६० पौण्ड) दूध तथा मक्खन देते थे। विद्यार्थी सुख तथा शान्ति से रहते थे। यात्री इनके विषय में लिखता है—

'उनके अध्ययन की पूर्णता का यही कारण है जिस तक कि वे पहुँच गये हैं। यद्यपि यह पहले बौद्ध संस्था थी परन्तु बाद में यह साम्प्रदायिक न रह गई, क्योंकि इसमें अन्य दर्शनों की भी पढ़ाई होती थी । आज की तरह तब डिग्री या उपाधि का वितरण न होता था, परन्तु प्रसिद्ध विद्वानों का नाम ऊँचे श्वेत सिंहद्वारों पर लिखा रहता था।' यूनिवर्सिटी का उद्देश्य था :—

'क्रोध को क्षमा से जीतो, दुष्ट आदमी को अच्छे कार्यों से जीतो, कृपण को अधिक दान देकर जीतो तथा असत्य बोलनेवाले को सत्य से जीतो ।'

बौद्ध-धर्म—फाह्यान के समय से भी अधिक ह्वेनसांग के समय बौद्ध धर्म की अवनति हो चुकी थी। उत्तर-पश्चिम में हूणों के आक्रमण से मठ छिन्न-भिन्न हो चुके थे और दक्षिण में जैन-धर्म जोरों पर था। पूर्व में बौद्ध-

धर्म अवश्य प्रचलित था; परन्तु ह्वेनसांग लिखता है कि वहाँ भी अनेक ब्राह्मण मन्दिर थे।

ह्वेनसांग को भारत में करीब २० लाख भिक्षु मिले। बौद्ध-धर्म की अवनति के समय इतने भिक्षुओं का होना इस बात का द्योतक है कि भारतीय नर-नारी पर बौद्ध-धर्म का भार काफी अधिक था।

ह्वेनसांग ने इस संस्था के सदस्यों से बहुत ही अनुराग रक्खा अतः उसके जाने के बाद भी वह उनकी स्मृति में बना रहा। चीन लौट जाने के अनेक वर्ष बाद नालन्दा के भिक्षु ने उसके लिए वस्त्र भेजे तथा लिखा—'नित्य उपासक वेदी पर जाकर तुम्हारे लिए निर्वाण की कामना करते हैं। अब हम सब तुम्हारे लिए श्वेत वस्त्र भेज रहे हैं ताकि तुम्हें स्मरण रहे कि हम सब तुम्हें भूले नहीं हैं। चीन का मार्ग लम्बा है अतः उपहार की तुच्छता पर ध्यान न देना। आशा है, इसे स्वीकार करोगे।'

तेरहवाँ अध्याय

कन्नौज का उत्थान

हर्ष के पश्चात् एक बार फिर उत्तरी भारत में अराजकता फैल गई तथा अब तक जो सूचनाएँ इस युग के इतिहास के विषय में मिल सकी हैं उनसे पूरा इतिहास लिखना संभव नहीं है। कुछ बिखरे हुए उल्लेखनीय कथानक ही इस काल के इतिहास के प्राणस्वरूप रह गये हैं।

अर्जुन––हर्ष के मन्त्री अर्जुन ने उसके मरते ही सिंहासन पर अधिकार कर लिया तथा कुछ अज्ञात कारणों से चीनी राजदूत वांग ह्वेन सी पर आक्रमण किया। इससे तिब्बत का राजा स्रांग-स्तम्-स्गम-पो (चीनी सम्राट् का मित्र) बहुत नाराज हुआ तथा भारत पर आक्रमण कर दिया तथा तिरहुत जीतकर अर्जुन को बन्दी बना लिया। सातवीं तथा आठवीं शताब्दी में तिब्बत के राजा नेपाल के अधिपति बने रहे।

उत्तरकालीन गुप्त––उत्तरकालीन गुप्त वंश का शासक माधवगुप्त हर्ष की मृत्यु के कुछ ही दिनों पश्चात् स्वयं भी मर गया तथा उसका उत्तराधिकारी आदित्यसेन गद्दी पर बैठा और एक शक्तिशाली सम्राट् हुआ। उसने सम्राट् की उपाधि धारण की। उसके साम्राज्य में बंगाल तथा बिहार सम्मिलित थे (६७५ ई०)। परन्तु उसके उत्तराधिकारी देवगुप्त, तृतीय विष्णुगुप्त तथा जीवितगुप्त द्वितीय निर्बल शासक सिद्ध हुए, जिनके समय में उसका बड़ा साम्राज्य अवनति को प्राप्त हुआ।

यशोवर्मन्––इस वंश का एक राजा संभवतः जीवितगुप्त द्वितीय यशोवर्मन् के द्वारा परास्त हुआ जो कि आठवीं शताब्दी के प्रथम भाग में कन्नौज का शासक बन बैठा था। यशोवर्मन् ने बंगाल तथा बिहार पर आक्रमण किया। यद्यपि वहाँ के लोगों तथा सामन्तों ने उसका डटकर सामना किया फिर भी वह सफल रहा। अपनी इस सफलता से उत्साहित होकर यशोवर्मन् सारे भारतवर्ष में विजय-पताका फहराते हुए घूमा तथा एक बार पुनः कन्नौज

को साम्राज्य की राजधानी बना दिया। काश्मीर के मुक्तपीड़ ललितादित्य के साथ सम्मिलित हो उसने तिब्बत विजय के लिए सेना भेजी तथा उसमें भी काफी सफल रहा। परन्तु यह मित्रता बहुत दिन न चल सकी और ललितादित्य ने स्वयं ही ७४० ई० में यशोवर्मन् को परास्त किया।

यशोवर्मन् साहित्य का प्रेमी था। महावीरचरित, उत्तररामचरित तथा मालती माधव इत्यादि नाटकों का रचयिता भवभूति उसी की राजसभा में राजकवि था। प्राकृत महाकाव्य गौड़-वाहन जिसमें कि यशोवर्मन् की विजयों का उल्लेख है, इसी काल में वाक्पति द्वारा रचा गया जो कि उसकी राजसभा में रहता था। यशोवर्मन् के उत्तराधिकारी पराजय पर पराजय पाते रहे तथा अन्त में प्रतिहार वंश के नागभट्ट ने चक्रायुध को परास्त कर इस वंश का अन्त कर दिया।

अरब आक्रमण––जब ६४१ ई० में ह्वेनसांग सिन्ध पहुँचा, उस समय वहाँ एक शूद्र वंश राज्य कर रहा था। इसके कुछ दिन पश्चात् एक ब्राह्मण मन्त्री कच ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया तथा कुछ प्रान्त जीत कर राज्य में मिलाये। ७१०-११ ई० के लगभग सिन्ध पर मुहम्मद बिन कासिम ने आक्रमण किया। कच का पुत्र राजा दाहिर युद्ध में मारा गया और ७१२ ई० में सिन्ध का प्रान्त अरबों के हाथ चला गया। सिन्ध को अपना आधार बनाकर अरबों ने अनेक बार गुजरात, राजपूताना तक दूर-दूर आक्रमण किया पर उन्हें कोई विशेष सफलता न मिली।*

बंगाल––हर्ष के समकालीन राजा शशांक के मरते ही बंगाल में अराजकता फैल गई। स्थानीय सामन्तगणों की शक्ति के यह बाहर था कि वह बार-बार बाहर के राजाओं द्वारा होनेवाले आक्रमणों का डटकर सामना कर सकें। आठवीं शताब्दी के अन्त के लगभग जब जनता ने गोपाल को अपना राजा चुना, तब जाकर कुछ स्थिति शान्त हुई। इसने बंगाल में प्रसिद्ध पाल-वंश की स्थापना की। उसका पुत्र धर्मपाल (७९०-८१३ ई०) एक शक्तिशाली राजा था जिसने यशोवर्मन् के उत्तराधिकारी कन्नौज के इन्द्रायुध को हराया तथा अपने आदमी चक्रायुध को गद्दी पर बैठाया। इसके पश्चात् उसने युक्त-

* अरब आक्रमण का विस्तृत उल्लेख आगे किया जायगा।

प्रांत में पर्वतीय प्रदेश के कुछ जिले जीते और इस प्रकार अपने लिए बड़ा साम्राज्य तैयार कर लिया। परन्तु उसके उत्तराधिकार अधिक दिन न रह सके।

प्रतिहार—प्रतिहार राजपूत जो कि अपने को सूर्यवंशी क्षत्रियों का वंशज कहते हैं, ७५० ई० * में मालवा में राज्य करने लगे तथा अपने राज-वंश की स्थापना की। इस वंश का चौथा शासक वत्सराज तथा उसका उत्तराधिकारी नागभट्ट दोनों ही महत्वाकांक्षी थे तथा उन्होंने धर्मपाल के पश्चात् उत्तर की ओर आक्रमण किया।

तीन शासकों में युद्ध—महोदय सार या कन्नौज के ऐश्वर्य के लिए मालवा के प्रतिहारों तथा बंगाल के पालों में प्रतिद्वंद्विता हुई। दो दक्षिण के राष्ट्रकूटवंशीय शासकों ध्रुव (७८०-९३) तथा गोविन्द तृतीय (७९३-८१४) के बीच में आ जाने से परिस्थिति और गंभीर हो गई। शीघ्र-शीघ्र होनेवाली घटनाओं का विस्तृत वर्णन करना व्यर्थ होगा। केवल यही जान लेना पर्याप्त होगा कि ८०८ ई० में गोविन्द तृतीय ने प्रतिहार के नागभट्ट बंगाल के धर्मपाल तथा उसके अधीनस्थ कन्नौज के शासक चक्रायुध को हराया। परन्तु उत्तरी भारत पर राष्ट्रकूट आधिपत्य गोविन्द के निर्बल उत्तराधिकारियों के समय में समाप्त हो गया। अन्त में कन्नौज प्रतिहार के अधिकार में हो गया, जिन्होंने अपनी राजधानी हटाकर कन्नौज ही में स्थापित कर ली ताकि उन्हें उत्तरी भारत के सम्राटों की राजधानी कन्नौज पर शासन करने का ऐश्वर्य मिल सके। नागभट्ट द्वितीय का पौत्र भोज प्रथम (८३५-९० ई०) तथा उसका पुत्र महेन्द्रपाल प्रथम (८९०-९१०) इस वंश के बहुत बड़े शासक थे। हमें उनकी विजय तथा आक्रमणों के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है, पर उनके

---

*प्रतिहारों की आदिम राजधानी संभवतः उज्जैन में थी; राजपूताना के भिनमल में नहीं, जैसा कि पहले समझा जाता था। ऐसा माना जाता है कि प्रतिहार गुर्जर जाति के शासक थे। यह एक विदेशी जाति थी जो हूणों के साथ भारत में घुस आई थी। परन्तु कुछ आधुनिक इतिहासकारों ने प्रतिहारों से गुर्जरों का संबंध भ्रमपूर्ण बताया है तथा उनकी देशीय उत्पत्ति बतलाई है।

शिला-लेखों से पता चलता है कि पूर्वी पंजाब से उत्तरी बंगाल तक उनका राज्य फैला हुआ था। बंगाल के उत्तरी भाग पर उनके अधिकार से मालूम होता है कि कम से कम कुछ समय के लिए उन्होंने अपने प्रतिद्वद्वी पाल सम्राटों को दबा रक्खा था।

पुनः राष्ट्रकूट वंश—महेन्द्रपाल के पश्चात् पुनः ऐतिहासिक घटना-काल में अस्तव्यस्तता मिलती है परन्तु ऐसा मालूम होता है कि दूसरा शासक महिपाल प्रथम (९१०-४३ ई०) था जो कि राजशेखर का संरक्षक था जिसने पाली में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। उसके शासन-काल में प्रतिहार तथा राष्ट्रकूट वंश में पुनः प्रतिद्वन्द्विता चली। राष्ट्रकूट वंश का शासक इन्द्र तृतीय (९१४-१७ ई०) पुनः अपने पूर्वजों ध्रुव तथा गोविन्द तृतीय की भाँति उत्तर की ओर बढ़ा तथा महिपाल को गद्दी से उतार दिया। प्रतिहारों के भाग्य से राष्ट्रकूटों में अन्तःकलह होने के कारण शीघ्र ही उनका ध्यान उत्तर से हट गया, अतः अपने सामन्तों की सहायता से महिपाल पुनः अपना सिंहासन पा गया।

पतन—महिपाल के पश्चात् अनेक प्रतिहार-शासक हुए पर इस वंश का प्राचीन गौरव लुप्त हो चुका था। अधीनस्थ सामन्तों ने धीरे-धीरे एक-एक करके अपनी स्वतन्त्रता घोषित करना प्रारंभ कर दिया और अन्त में प्रतिहार राज्य गंगा-यमुना दुआब के बाहर न रह गया।

इस वंश की शक्ति को दूसरा आघात मुहम्मद गजनवी ने दिया जब कि १०१८ में उसने मथुरा तथा कन्नौज पर आक्रमण किया जब कि वहाँ राज्यपाल शासन कर रहा था। राज्यपाल का उत्तराधिकारी त्रिलोचनपाल हुआ जो कि इस वंश के ज्ञात शासकों में से अन्तिम है। उसके पश्चात् कन्नौज बार-बार दूसरे शासकों के हाथ में चलता गया। अन्त में चन्द्रदेव ने इस पर अधिकार कर लिया जिसने कि ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में गहड़वाल वंश की स्थापना की तथा कन्नौज के खोये हुए ऐश्वर्य को पुनः लाने की कोशिश की।

प्रतिहार वंश की वंशतालिका

- सूर्य-वंश
  - नागभट्ट (७५० ई०)
  - देवराज
    - वत्सराज (७८३ ई०)
      - नागभट्ट द्वितीय (८१५ ई०)
        - रामभद्र
          - भोज प्रथम (८३५-९० ई०)
            - महेन्द्रपाल (८९०-९१० ई०)
              - भोज द्वितीय (९१०-१२ ई०)
              - महिपाल, (९१२-४३ ई०)
                - महेन्द्रपाल द्वितीय (९४५ ई०)
                  - विनायकपाल (९५३ ई०)
                - देवपाल (९४८ ई०)
                  - महिपाल द्वितीय (९५४ ई०)
                    - वत्सराज द्वितीय (९५५ ई०)
                - विजयजाल (९६० ई०)
                  - राज्यपाल (१०१८ ई०)
                    - त्रिलोचनपाल (१०२७ ई०)
                      - यशपाल (१०३७ ई०)

चौहदवाँ अध्याय

उत्तरी राज्य

अ—उत्तरी भारत

पंजाब का शाही वंश—कनिष्क का वंशज वासुदेव कुशन वंश का अन्तिम राजा है जिसके विषय में हमें कुछ ज्ञात हो सका है। यद्यपि यू ची भारत में अपना राज्य खो चुके थे, फिर भी वे अफगानिस्तान में 'शाही' उपाधि धारण कर राज्य करते रहे। यद्यपि फारस के ससैनीय वंश के सम्राटों ने जब तब उन पर आधिपत्य जमाने का प्रयास किया तथा हूणों के आये दिन आक्रमणों से उनकी शक्ति क्षीण पड़ गई, फिर भी शाही वंश जो कि हिन्दू हो गया था, अफगानिस्तान पर आधिपत्य जमाये रहा।

जयपाल—सातवीं शताब्दी में पश्चिम में उठती हुई मुस्लिम शक्ति के कारण शाहियों के सामने एक नवीन संकट उठ खड़ा हुआ। इस शक्ति ने ८७० ई० में काबुल पर अधिकार जमा लिया तथा शाहियों को वहाँ से निकालकर पंजाब में बसने के लिए विवश किया। परन्तु इसके पश्चात् भी अफगानिस्तान के मुसलमान पंजाब में बार-बार आक्रमण करते रहे और अन्त में सुबुक्तगीन (९७७-९९९ ई०) ने निश्चित रूप से पंजाब के शासक जयपाल पर आक्रमण किया। जयपाल ने दिल्ली, अजमेर, कन्नौज तथा कालिंजर के शासकों का एक संघ बनाया तथा सामूहिक शक्ति लेकर वह गजनी की ओर बढ़ा। परन्तु वह परास्त हुआ और विवश होकर उसे अपने राज्य के पश्चिमी जिले मुसलमानों को देने पड़े।

सुबुक्तगीन के पुत्र महमूद ने पुनः १००० ई० में जयपाल के राज्य पर आक्रमण किया तथा उसे बन्दी बना लिया। बाद को जयपाल छोड़ दिया गया परन्तु इस दलित जीवन से मरना अधिक अच्छा समझ उसने राज्य को अपने पुत्र आनन्दपाल को सौंप आत्महत्या कर ली।

आनन्दपाल—आनन्दपाल (१००१-१०१३ ई०) को बार-बार महमूद का

सामना करना पड़ा जिसने उसके प्रान्त को बार-बार लूटकर तहस-नहस कर डाला। अपने शासनकाल के प्रारम्भ में उसने हिन्दू राजाओं को महमूद के खिलाफ लड़ने के लिए एक में मिलाने का प्रयास किया, परन्तु उसको सफलता न मिली। उसका उत्तराधिकारी त्रिलोचनपाल (१०१३-२१ ई०) गद्दी पर बैठा और उसने वीरतापूर्वक महमूद से युद्ध किया, पर वह भी पिता की तरह परास्त हुआ। उसके पश्चात् शाही वंश समाप्तप्राय-सा हो गया।

कन्नौज तथा बनारस का गहड़वाल वंश—जिस समय अन्तिम प्रतिहार वंश के शासक राज्य कर रहे थे तभी कन्नौज के साम्राज्य के टुकड़े होने लगे और प्रान्तीय शासकों ने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में गजनी तथा लाहौर के यामिनी सुल्तानों ने एवं मध्य भारत के शासक परमार तथा कलचुरि वंश के राजाओं ने कन्नौज पर आक्रमण किया तथा थोड़े काल के लिए दोआब पर अधिकार कर लिया। एक साधारण वंश में पुरुष चन्द्रदेव (१०८५-११०० ई०) ने मुस्लिम शासकों के अधीनस्थ होकर अपना जीवन प्रारम्भ किया, पर आगे चलकर स्वतंत्र हो गया। उसने सारे उत्तर प्रदेश पर आधिपत्य जमा लिया तथा कन्नौज एवं बनारस के गहड़वाल वंश का सबसे शक्तिशाली शासक गोविन्दचन्द्र (१११४-६० ई०) था जिसने बंगाल के तथा मुस्लिमों के आक्रमणों से बनारस की वीरतापूर्वक रक्षा की। उसने पालवंशीय शासकों से पश्चिम बिहार का एक भाग छीन लिया तथा दक्षिण से चोलवंशीय शासकों से मित्रतापूर्ण व्यवहार स्थापित किया।

जयचन्द—उसके पौत्र जयचन्द (११७०-९३ ई०) के शासन काल में पश्चिम में महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हो रही थीं। गजनी के राजा को एक दूसरे तुर्की वंश के मुहम्मद गौरी के सामने हारना पड़ा जो कि भारत में एक स्थायी साम्राज्य स्थापित करना चाहता था। ११९२ ई० में उसने दिल्ली के चौहान शासकों को तराइन के मैदान में हराया तथा दूसरे वर्ष गहड़वालों पर आक्रमण किया। जयचन्द युद्ध के मैदान में मारा गया तथा मुसलमानों ने बिना अधिक कष्ट के विजय प्राप्त की। गंगा तथा यमुना का दोआब हिंदू हाथों से निकल गया।

साँभर के चौहान : पृथ्वीराज—चौहान वंश की कुछ शाखाएँ राज-

पूताना में शासन कर रही थीं। बारहवीं शताब्दी के मध्य में इस वंश के एक शासक विग्रहपाल (चतुर्थ) ने अन्य शाखाओं को अपने अधीन कर तोमर-वंशीय शासकों से दिल्ली छीन ली। उसका भतीजा पृथ्वीराज था जिसे कि एक हिन्दी महाकाव्य पृथ्वीराज रासो के रचयिता चन्द बरदाई ने अमर बना दिया। इस पुस्तक के अनुसार स्वयंवर में जयचन्द की पुत्री राजकुमारी संयोगिता का अपहरण कर उसने जयचन्द से शत्रुता मोल ली। यद्यपि इस पुस्तक के अनेक वर्णन सन्देहास्पद हैं पर यह निश्चित है कि पृथ्वीराज तथा जयचन्द के पारस्परिक सम्बन्ध अच्छे न थे। अतः उनका मिलकर मुसलमानों का सामना करने का प्रश्न हो नहीं उठता। ११९१ ई० में पृथ्वीराज ने मुसल-मानों को तराइन के युद्ध में परास्त किया। यह हिन्दुओं की अन्तिम बड़ी विजय थी। परन्तु एक वर्ष बाद स्थिति बिलकुल विपरीत हो गई और पृथ्वीराज मारा गया। उत्तरी भारत में मुसलमानों की विजय अब केवल कुछ दिनों की बात रह गई थी।

ब—मध्यभरत तथा गुजरात

त्रिपुरी का कलचुरि वंश—दसवीं शताब्दी में कोक्कल्ल प्रथम की अध्यक्षता में त्रिपुरी (जबलपुर के पास तेवर) में राजधानी स्थापित कर दहल (उत्तरी मध्यप्रान्त तथा उसके पास का प्रदेश) के कलचुरि वंश ने एक स्वतंत्र सत्ता स्थापित की। प्रारम्भ काल में कलचुरि वंश के शासक अनेक विवाह सम्बन्धों द्वारा आपस में बँधे थे। मध्यप्रान्त के पूर्वी भाग में कोक्कल्ल के एक पुत्र ने रत्नपुर में एक भिन्न वंश की स्थापना की।

युवराज प्रथम—कोक्कल्ल प्रथम का पौत्र युवराज प्रथम दसवीं शताब्दी के द्वितीय चतुर्थांश में गद्दी पर बैठा और बंगाल, गुजरात तथा दक्षिण में कनाड़ी जिलों तक के प्रान्तों को जीता।

गांगेय—इस वंश का एक बहुत ही शक्तिशाली शासक गांगेय विक्रमा-दित्य था जिसने ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में शासन किया और अपने वंश का पुराना ऐश्वर्य पुनः स्थापित किया। उसने निश्चित रूप से प्रतिहारों के पश्चात् गंगा-यमुना के दुआब पर आधिपत्य जमाया तथा प्रतिहारों को अन्त में निर्मूल कर दिया। उसके विषय में कहा जाता है कि वह इलाहाबाद में

रहना बहुत पसन्द करता था जिसे कि उसने अपने बाहुबल से जीता था।

कर्ण—इस प्रकार कलचुरि वंश की जो प्रतिष्ठा गांगेय ने बढ़ा दी थी उसे उसका पुत्र कर्ण कायम किये रहा (सन् १०४२ ई०)। इसके विषय में कहा जाता है कि इसने सारे भारत की विजय की परन्तु कन्नौज निश्चित ही इसके अधिकार में था। उसने मालवा के परमारवंशीय शासक भोज प्रथम को गद्दी से उतार दिया तथा कुछ दिनों तक उसके राज्य पर अधिकार किये रहा। उसने बुन्देलखण्ड, बंगाल, गुजरात तथा दक्षिण के राजाओं को भी हराया। परन्तु उसके शासन काल का अन्तिम भाग इतना ज्वलन्त न रह सका, क्योंकि उसके हाथ से कुछ प्रान्त निकल गये जिनमें से मालवा विशेष उल्लेखनीय है।

पतन—कर्ण के उत्तराधिकारियों के गद्दी पर बैठते ही कलचुरि साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा। गहड़वालों ने कन्नौज छीन लिया और कलचुरि शासकों का राज्य अपनी आदिम सीमा अर्थात् जबलपुर के आस-पास तक ही रह गया। यह राजवंश १२०० ई० तक चलता रहा जिसके पश्चात् देवगिरि के यादवों ने इसे निर्मूल कर दिया।

मालवा के परमार—परमारों का विश्वास था कि वे वशिष्ठ के यज्ञ-कुण्ड से निकले हुए राजपूत हैं। वे सम्भवतः नवीं शताब्दी में मालवा के गण-सामन्त थे, परन्तु बाद को अन्य गण-सामन्तों की भाँति उन्होंने भी अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। उनकी राजधानी धारा में (धार, मध्यभारत) थी, यद्यपि राज्य का महत्त्वपूर्ण नगर उज्जैन ही था। परमार अपने पड़ोसी राज्यों से लगातार लड़ते रहे तथा उनका राज्य दक्षिण में गोदावरी तक फैल गया।

मुंज—वाक्पतिराज द्वितीय या मुंज (९७०-९० ई०) ने परमारवंश की शक्ति तथा ऐश्वर्य को बढ़ाया तथा कलचुरिवंशीय युवराज द्वितीय को हराकर उसका राज्य अपने राज्य में मिला लिया। मारवाड़ तथा गुजरात के शासकों को उसकी अधीनता स्वीकार करनी बड़ी। परन्तु उसको दक्षिण के चालुक्यों से बैर रखने का दुष्परिणाम भुगतना पड़ा। वह बन्दी हुआ तथा मारा गया।

भोज—इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा वाक्यपति का भतीजा भोज

(९९७-१०५२ ई०) हुआ है। उसने गुजरात, उड़ीसा तथा त्रिपुरी के राजाओं को हराया तथा कन्नौज को भी कुछ दिनों तक अधिकार में रक्खा। मुहम्मद गजनवी के आक्रमण को रोकने के लिए पंजाब के राजा आनन्दपाल ने जो संघ बनाया उसमें वह भी सम्मिलित था। परन्तु वृद्धावस्था में गुजरात के चालुक्य वंशीय शासक भीम तथा त्रिपुरी के कलचुरि शासक कर्ण ने मिलकर उस पर आक्रमण कर दिया, अतः वह युद्ध-क्षेत्र में लड़ते-लड़ते मारा गया।

वाक्पति तथा भोज दोनों ही संस्कृत विद्या तथा साहित्य के संरक्षक थे। भोज के विषय में कहा जाता है कि उसने विभिन्न विषयों पर बीस ग्रन्थ लिखे। इस काल के सबसे प्रसिद्ध कवि उसके राजदरबार में रहते थे। कहा जाता है कि उसने अपनी राजधानी धारा में एक महाविद्यालय खोला। राजसभा में आये दिन साहित्यचर्चा हुआ करती थी जिसमें राजा स्वयं प्रमुख भाग लेता था। परमारों ने अपने राज्य में अनेक मन्दिर भी बनवाये।

उत्तराधिकारी—भोज के पश्चात् परमार वंश की शक्ति कम होने लगी। यद्यपि अधीनस्थ लोगों ने पलटते हुए पाँसे को रोकने की कोशिश की, परन्तु अधःपतन का क्रम जारी रहा और अन्त में १२२६ ई० में इल्तुतमिश ने मालवा पर आक्रमण कर दिया। परन्तु मालवा की पूर्ण विजय १३०५ ई० में अलाउद्दीन खिलजी के समय में हुई।

बुन्देलखंड के चन्देल—दसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जेजाकभुक्ति (बुन्देलखण्ड) का चन्देल नाम का एक राजपूत वंश यशोवर्मन् के शासन-काल में प्रतिहार साम्राज्य से अलग हो गया। चन्देलों के प्रसिद्ध नगर महोबा, कालिंजर तथा खजुराहो हैं जिन सबको उन्होंने सुन्दर इमारतों से विभूषित किया है।

धंग—चन्देल वंश का सबसे शक्तिशाली शासक यशोवर्मन् का पुत्र धंग (९५०-१००० ई०) था जिसका राज्य नर्मदा तथा जमुना एवं बनारस तक फैला हुआ था। इसी ने खजुराहो का प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया। सुबुक्तगीन के आक्रमण को रोकने के लिए पंजाब के शासक ने जो राजसंघ

बनाया था उसका यह सदस्य था। धंग के पुत्र गण्ड को १०२३ ई० मे कालिंजर का किला छोड़ना पड़ा। इसके पश्चात् शक्तिशाली कलचुरि शासकों के सामने चन्देलों की शक्ति फीकी पड़ गई।

कीर्तिवर्मन—परन्तु कीर्तिवर्मन् (१०६५-११००) के शासन-काल में चन्देलों की प्रतिष्ठा पुनः बढ़ी और उसने अपने समकालीन कलचुरि शासक कर्ण को हराया। इस वंश का दूसरा शक्तिशाली राजा मदनवर्मन् (११२८-६५) था जिसने दूर-दूर देशों पर विजय प्राप्त की।

पतन—परन्तु चन्देलों की शक्ति अधिक दिन तक न टिक सकी। परमार्दिन् (११६५-१२०५), जो कि लोकगीतों में परमाल के नाम से प्रसिद्ध है, को पृथ्वीराज चौहान ने ११८२ ई० में हराया तथा १२०३ ई० में कुतुबुद्दीन ऐबक ने उसके राज्य को जीत लिया। स्थानीय चन्देल गण-सामन्त प्रायः सोलहवीं शताब्दी तक शासन करते रहे।

गुजरात के चालुक्य—दशवी शताब्दी में चालुक्यवंशी (सोलंकी) प्रधान मूलराज प्रथम की अध्यक्षता में गुजरात प्रान्त प्रतिहार साम्राज्य से अलग होकर स्वतन्त्र हो गया। इसकी नवीन राजधानी अनाहिल पटक (उत्तरी गुजरात में पाटन) बना। इस वंश का भीम प्रथम एक शक्तिशाली शासक था जिसने कि ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में शासन किया। इसने अनेक शत्रुओं के विरुद्ध अस्त्र उठाये तथा मालवा के भोज के हराने में सहायक हुआ। १०२६ ई० में महमूद गजनवी ने उनके राज्य पर आक्रमण किया तथा सोमनाथ के मन्दिर को तोड़ डाला जिसमें कि अपार सम्पत्ति लगी हुई थी।

सिद्धराज—भीम के पौत्र जयसिंह सिद्धराज (११००-११४५ ई०) ने मालवा को अपने राज्य में मिला लिया तथा उस पर कुछ दिनों तक अधिकार किये रहा। दूसरे राजा कुमारपाल ने (११४५-७२ ई०) अपने राज्य का विस्तार किया तथा मालवा को पुनः जीता परन्तु यह प्रदेश उसके उत्तराधिकारी अजयपाल (११७२-७६ ई०) के हाथों से पुनः निकल गया। कुमारपाल जैन-धर्म का अनुयायी था तथा प्रसिद्ध जैन गुरु तथा अनेक ग्रन्थों के रचयिता हेमचन्द्र सूरी का संरक्षक था।

बघेल-चालुक्य—कुछ दिनों के पश्चात् चालुक्य वंश की शक्ति क्षीण होने लगी तथा जैसा कि हमेशा होता है, प्रान्तीय शासक शक्तिशाली हो गये। १२०० ई० में लवणप्रसाद जो कि चालुक्यवंश की बघेल शाखा का था, इन सभी के अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हो गया। दूसरा राजा विराधपाल था जो कि पहले स्वतन्त्र न था। इसके मन्त्री वस्तुपाल तथा तेजपाल ने आबू पर्वत तथा गिरनार पर ही सुन्दर मन्दिर बनवाये।

विराधपाल का पुत्र विशालदेव (१२४२-६३) इस वंश का प्रथम राजा था जिसके पचास वर्ष बाद अलाउद्दीन खिलजी ने गुजरात जीत लिया।

दूसरे गण-राज्य—इन प्रधान राजवंशों के अतिरिक्त अन्य दूसरे स्वतन्त्र शासकों के भी वंश थे, जैसे मेदपत (मेवाड़) के गुहिल तथा गोपाद्रि (ग्वालियर) के कच्छपघट।

स—बंगाल तथा बिहार

पालवंश—हम पहले ही सातवीं तथा आठवीं शताब्दी में बंगाल की बुरी हालत देख चुके हैं तथा यह भी बता आये हैं कि आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गोपाल वहाँ का शासक हुआ। गोपाल को अपना शासक चुनकर जनता ने बुद्धिमानी की, क्योंकि वह एक शक्तिशाली शासक निकला जिसने सुदृढ़ शासन किया तथा एक शक्तिशाली वंश की स्थापना की। उसके पुत्र धर्मपाल (७८०-८१३ ई०) के कार्यों का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। संक्षेप में उसने मगध को जीता, कन्नौज के राजा इन्द्रायुध को परास्त कर उसके स्थान पर उसके सम्बन्धी चक्रायुध को सिंहासन पर बैठाया। परन्तु वह स्वयं प्रतिहारों एवं राष्ट्रकूटों द्वारा परास्त हुआ और उनके राज्य का पश्चिमी भाग उससे छिन गया।

देवपाल—उसके पुत्र देवपाल (८१३-५५) ने चारों ओर दूर-दूर तक विजय की। इसमें कोई संदेह नहीं कि उसके समय में पालवंश का बंगाल तथा बिहार पर आधिपत्य था। उसके विषय में कहा जाता है कि उसने दक्षिण तथा पश्चिम में विन्ध्य, आसाम, हिमालय तथा उड़ीसा आदि प्रदेशों पर आक्रमण किया। परन्तु सम्भवतः यह विजय अस्थायी थी, क्योंकि

वह इनमें किसी भी प्रदेश को अपने राज्य में न मिला सका। सुमात्रा तथा जावा के राजा बलपुत्र द्वारा बनाये हुए नालन्दा में एक बौद्ध मठ के संरक्षण के लिए उसने पाँच गाँवों की आमदनी दे दी थी।

कम्बोज—देवपाल के पश्चात् अनेक उत्तराधिकारी आये, परन्तु वे सभी शक्तिहीन सिद्ध हुए और उनसे बिहार का कुछ भाग तथा उत्तरी बंगाल प्रतिहार वंशी भोज तथा महेन्द्रपाल ने छीन लिया। आठवें राजा विग्रहपाल द्वितीय के शासन में कम्बोजों ने (जो संभवत: तिब्बत प्रदेशीय थे) उसे दुश्मनों के हाथ में राज्य छोड़कर भाग जाने पर विवश किया। दूसरे राजा महिपाल द्वितीय (१००५-५५) ने पुन: खोये हुए ऐश्वर्य को जगाने की कोशिश की। उसने कम्बोजों को केवल मार ही नहीं भगाया, वरन् बिहार तथा बनारस को अपने साम्राज्य में मिला लिया। परन्तु वह धुर दक्षिण के चोल-वंशी राजा राजेन्द्र चोल प्रथम द्वारा परास्त हुआ। इस राजेन्द्र चोल ने पूर्वी भारत के अन्य शासकों को भी परास्त किया।

अवनति—धीरे-धीरे अब अवनति की ओर अग्रसर होते हुए पालवंश के विनाश को कोई रोकनेवाला न था। परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में दिब्बोक द्वारा कैवर्त विद्रोह करने के बाद भी यह वंश उत्तरी बंगाल तथा बिहार में चलता रहा। परन्तु अन्त में बारहवीं शताब्दी के मध्य में सेनवंश ने पालवंश की सत्ता ही मिटा दी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पालवंश चार शताब्दियों तक गौड़ को राज-धानी बना पूर्वी बंगाल पर शासन करता रहा। गौड़ के भग्नावशेष अब भी माल्दा (बंगाल) के पास मिलते हैं। ये सभी शासक बौद्ध-धर्म के माननेवाले थे तथा साहित्य एवं कला के संरक्षक थे। दीनाजपुर में पाये गये तालाबों की संख्या से ज्ञात होता है कि राज्य सिंचाई की विशेष चिन्ता करता था। ये राजा तिब्बत एवं पूर्वी द्वीप-समूह से भी अपना सम्बन्ध स्थापित किये हुए थे।

सूरवंश—शिलालेखों द्वारा ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दी में पश्चिमी बंगाल में सूरवंश का उल्लेख मिला है। बाद के ग्रन्थों में आई हुई कुछ परम्परागत कथाओं में एक राजा आदिसुर का उल्लेख मिलता है, जिसने वैदिक प्रथाओं को सिखाने के लिए कन्नौज से पाँच कायस्थों से युक्त पाँच

ब्राह्मण बुलाये। आदिसुर का समय आठवीं तथा बारहवीं शताब्दी के बीच का बताया जाता है। परन्तु चूँकि उसके विषय में इन किंवदन्तियों के अतिरिक्त और कहीं उल्लेख नहीं मिलता, अतः विद्वानों को उसके होने पर शक होने लगा है। परन्तु यह निश्चित है कि इस किंवदन्ती में भले ही ऐतिहासिक सत्य के कुछ बीज हों, पर इसे पूर्णतया सत्य नहीं माना जा सकता।

सेनवंश--पालवंशी राजाओं के हाथ से बंगाल छीन लेनेवाला सेनवंश शायद दक्षिण था या जहाँ से हटकर वह राधा (पश्चिमी बंगाल) चला आया। बहुत सम्भव है कि वह पहले ब्राह्मण रहे हों परन्तु शासन करते करते वे क्षत्रिय कहलाने लगे। इस वंश की सामन्त-सेन ने १०५० ई० में स्थापना की।

विजय सेन--सामन्त सेन के पौत्र विजय सेन ने गंगा तक एक समुद्री बेड़ा भेजा तथा बिहार में रही-सही पाल शक्ति को नष्ट कर दिया।

वल्लाल सेन--उसका पुत्र वल्लाल सेन था जिसने बारहवीं शताब्दी के मध्य में शासन किया। वह अनेक संस्कृत ग्रन्थों का रचयिता होने के नाते प्रसिद्ध है। परन्तु बंगाल के सामाजिक इतिहास में ऊँची जातियों में कुलीन धर्म चलाने के कारण वह और भी प्रसिद्ध है जिसके द्वारा उसने कुछ जातियों को ऊपर बढ़ाया तथा कुछ को नीचे गिराया।

लक्ष्मण सेन--वल्लाल के पश्चात् उसका पुत्र लक्ष्मण सेन राज्य का उत्तराधिकारी हुआ, जो सम्भवतः बारहवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में गद्दी पर बैठा। ११११० ई० का एक संवत् लक्ष्मण सेन के नाम से चलता है, परन्तु यह संवत् उसके नाम से किस प्रकार सम्बन्धित हुआ, यह भारत के इतिहास में एक बहुत जटिल समस्या है। कुछ इतिहासकार उपर्युक्त तिथि को उसका अभिषेक-काल मानते हैं और इसी हिसाब से उसके पूर्वजों का समय और भी पीछे मानते हैं।

लक्ष्मण सेन ने सम्भवतः पश्चिम में इलाहाबाद तक तथा धुर दक्षिण तक आक्रमण किया। वह साहित्य का प्रेमी था तथा उसका राजकवि गीत-गोविन्द का प्रसिद्ध रचयिता जयदेव था।

मुस्लिम आक्रमण--पूर्वी बंगाल की ओर मुसलमानों की दृष्टि गई। १२०० ई० के लगभग बख्तियार के पुत्र मुहम्मद ने नदिया पर आक्रमण किया

जो सम्भवत: लक्ष्मण सेन की राजधानियों में से एक था तथा नाव द्वारा पूर्वी बंगाल भाग जाने पर विवश किया। वहाँ सेनवंश कुछ दिनों और चलता रहा।

द—दूसरे राज्य

आसाम—आसाम का इतिहास भारत से बहुत ही कम सम्बद्ध है तथा उसे जानने के साधन भी हमारे पास नहीं हैं। सातवीं शताब्दी में जब कि हर्ष कन्नौज में शासन कर रहा था, उसका मित्र भास्करवर्मन प्रागज्योतिष (गौहाटी) को अपनी राजधानी बना कामरूप (आसाम) में शासन कर रहा था। उसके कुछ ही दिन बाद शालस्तम्भ (६५०-८००) ने एक नवीन वंश की स्थापना की इसके पश्चात् प्रलम्ब तथा उसके उत्तराधिकारियों (८००-१०००) के हाथ में सिंहासन चला गया। इस वंश के पश्चात् ११०० तक ब्रह्मवाल तथा उसके उत्तराधिकारियों ने आसाम पर शासन किया। कुछ समय के पश्चात् पालवंश के सामन्त की हैसियत से वैद्यदेव ने आसाम पर शासन करना प्रारम्भ किया और भाग्य ने भास्कर का साथ दिया जिसके कि उत्तराधिकारी १२०६ ई० तक शासम करते रहे। बंगाल के सेन कुछ दिनों इस प्रान्त के कुछ भाग पर आधिपत्य जमाये रहे। तेरहवीं शताब्दी में शान जाति के वर्ग अहोम द्वारा आसाम जीत लिया गया। यह जाति १८२५ ई० तक शासन करती रही जब कि अँगरेजों ने इसे जीत लिया।

मध्यकाल में आसाम तान्त्रिक एवं शक्ति-पूजा का केन्द्र था। कामाख्य (गौहाटी के पास) जहाँ कि अब भी इस नाम की एक देवी का मन्दिर है, जादू तथा टोना का केन्द्र-स्थान माना जाने लगा।

नैपाल—नैपाल का इतिहास स्थानी वंशावलियों में दिया हुआ है, परन्तु अनेक बातों में उनका विश्वास नहीं किया जा सकता। अत: शिलालेखों की सहायता लेनी पड़ती है। प्राचीन काल में नैपाल में अनेक संवत् चलते थे परन्तु चूँकि उनके शुरू होने की निश्चित तिथि नहीं मालूम है इसलिए इतिहास के घटना-काल में अनेक अशुद्धियाँ पाई जाती हैं।

ऐसा ज्ञात होता है कि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में ही नैपाल ने भारतीय संस्कृति अपना ली थी। समुद्रगुप्त के इलाहाबाद के स्तम्भ लेख से पता चलता है कि नैपाल उसके सीमा-राज्यों में से एक था। चौथी शताब्दी

से लिच्छवि वंश का इस प्रदेश पर आधिपत्य हो गया। हर्षवर्धन के समय नैपाल का राजा अंशुवर्मन् था। यह तिब्बत के राजा स्रोंग लेत्सम् स्गम्पो का एक सामन्त था तथा इसकी लड़की उसको ब्याही हुई थी। उसके पश्चात् कुछ दिनों तक तिब्बत का प्रभाव कायम रहा, परन्तु अन्त में लिच्छवि पुनः स्वतन्त्र हो गये तथा आठवीं शताब्दी तक राज्य करते रहे।

ग्यारहवीं शताब्दी से पुनः हमें इसका क्रम-बद्ध इतिहास मिलता है। इस काल में नैपाल बौद्ध-धर्म के महायान सम्प्रदाय का केन्द्र समझा जाने लगा। इस सामान्य गुण के कारण नैपाल बंगाल के अधिक सम्पर्क में आया। इस देश के बौद्ध-धर्म के इतिहास में बंगाल के एक बौद्ध शिक्षक अतिष् का नाम एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। बौद्ध-धर्म के अनेक ग्रन्थ नैपाल में पाये गये हैं और बहुत से अभी वहाँ पड़े हुए हैं जिनका पता नहीं लग सका है।

काश्मीर—संस्कृत के एक अभूतपूर्व ग्रन्थ कल्हण की राजतरंगिणी में हमें काश्मीर का प्रारम्भिक काल से लेकर ११५० तक का क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। परन्तु प्रारम्भिक काल के विषय में कल्हण ने जो विवरण दिये हैं, वे प्रायः गल्प की कोटि के हैं। केवल नवीं शताब्दी से सच्चे ऐतिहासिक विवरण प्राप्त होते हैं।

ललितादित्य—जिस समय सन् ६३१ ई० में ह्वेनसांग काश्मीर गया उस समय वहाँ दुर्लभवर्धन शासन कर रहा था। आठवीं शताब्दी के प्रथमार्ध में काश्मीर में ललितादित्य मुक्तपीड़ शासन करता था जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। उसने कन्नौज तथा बंगाल जीता तथा हिन्दूकुश के उस पार भी आक्रमण किया एवं तिब्बत निवासियों के विरुद्ध सफलता प्राप्त की।

उत्पल, वीरदेव, अभिनव, दिद्दा—सन् ८५५ ई० से ९३३ तक इन उपत्यकाओं में उत्पल वंश का शासन रहा। इसका प्रथम शासक अवन्तिवर्मन् (८५५-८३ ई०) था जो कि साहित्य तथा सिंचाई इत्यादि के कार्यों में बहुत ही दिलचस्पी लेता था। झेलम के जल का नियंत्रण उसी ने किया। उत्पल वंश के बाद दस वर्ष तक (९३९-४९ ई०) वीरदेव तथा उसके वंशजों ने राज्य किया और अन्त में यह प्रान्त अभिनव तथा उसके वंशजों (९४९-१००३ ई०) के हाथ में चला गया। काश्मीर के इतिहास में इस वंश का प्रसिद्ध स्थान है, क्योंकि इसी वंश में भारत की सबसे बड़ी रानी दिद्दा आती

है। अपने पति, पुत्र तथा पौत्र सभी के शासन-काल में वही राज्य के कार्यों की देखभाल करती रही तथा अन्त में शासन की बागडोर स्वयं अपने हाथ में लेकर उसने तेईस वर्ष (९८०-१००३ ई०) तक राज्य किया। यद्यपि उसके अन्दर अनेक दोष थे, फिर भी उसके शासन से इस प्रान्त को बड़ा लाभ हुआ तथा जब वह मरी तो उसने अपने भतीजे को अपना उत्तराधिकारी बनाया जिसने लोहर वंश (१००३-११७१ ई०) की स्थापना की। इसी वंश के राजा जयसिंह के शासन-काल में कल्हण ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक राजतरंगिणी की रचना की।

मुसलमानी शासन—सन् १३३९ ई० के बाद काश्मीर स्थानीय मुसलमानी शासकों के हाथ में चला गया और अंत में १५८६ ई० में अकबर ने इसे जीत लिया।

उड़ीसा—प्राचीन काल में उड़ीसा एक सम्पूर्ण राज्य न था। इसके उत्कल, ओद्र तथा कलिंग इत्यादि अनेक राजनैतिक भाग थे। इस प्रान्त के विभिन्न भागों में विभिन्न शक्तियाँ शासन कर रही थीं, जैसे श्रीपुर (आधुनिक सीरपुर, जिला रायपुर, मध्यप्रान्त) के सोमवंशी, तोशाली (सम्भवतः पुरी जिले में) के करनवंशी, मयूरभंज तथा पास की रियासतों के भंज शासक इत्यादि। उनकी पारस्परिक तिथि का ठीक तौर से निश्चय नहीं हो पाया है, क्योंकि उन्होंने जो शिलालेख अपने विषय में खुदवाये हैं, उनकी तिथियाँ स्थानीय संवतों में दी हैं, किसी महत्त्वपूर्ण या प्रसिद्ध संवत् में नहीं।

पूर्वी गंग—इनमें कलिंग के पूर्वी गंग विशेष शक्तिशाली थे। सम्भवतः वह मैसूर के पश्चिमी गंगवंशी सम्राटों से सम्बन्धित थे। उन्होंने ५०० ई० में उड़ीसा में एक संवत् स्थापित किया। डेढ़ सौ साल के पश्चात् ये शासक बिलकुल महत्त्वहीन हो गये; परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी में वज्रदुष्ट के शासन-काल में ये पुनः प्रकाश में आये। उसके पौत्र अवन्तवर्मन् चोदगंग (१०७६-११४७ ई०) ने अपने गंग साम्राज्य को गंगा से गोदावरी तक फैलाया। उसी ने पुरी में जगन्नाथजी के प्रसिद्ध मन्दिर को बनवाना प्रारम्भ किया। तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में उड़ीसा की ओर मुसलमानों का ध्यान आकृष्ट हुआ। अतः उन्होंने अनेक बार इस प्रान्त पर आक्रमण किया। अन्त में १५६८ ई० में यह पूर्ण रूप से मुसलमानों के साम्राज्य में मिला लिया गया।

परिशिष्ट

वंशावली-सूचिका

अ—कन्नौज तथा बनारस के गहड़वाल

यशोविग्रह
|
महीचन्द्र
|
१—चन्द्र (१०८५-११०० ई०)
|
२—मदनपाल (११००-१० ई०)
|
३—गोविन्दचन्द्र (१११०-६० ई०)
|
४—विजयचन्द्र (११६०-७० ई०)
|
५—जयचन्द्र (११७०-९४ ई०)
|
६—हरिश्चन्द्र (११९४-१२०० ई०)

ब—शाकम्भरी के चौहान

१—अर्णोराज

- ३—पृथ्वीराज प्रथम (११६५-७० ई०)
- २—विग्रहराज विशालदेव (११५०-६५ ई०)
- ४—सोमेश्वर (११७०-८० ई०)
  - ५—पृथ्वीराज द्वितीय (११८०-९३ ई०)

स—त्रिपुरी के कलचुरि

(१) कोक्कल्ल प्रथम (९०० ई०)

(२) प्रसिद्ध धवल (९१०-२० ई०)

- (३) बालहर्ष
- (४) युवराज प्रथम (९३०-३५)
  - (५) पुर (९३५-४०)
  - (६) लक्ष्मणराज (९४०-५० ई०)
    - (७) शंकरगण (९५०-७० ई०)
    - (८) युवराज द्वितीय (९७०-९० ई०)

(९) कोक्कल्ल द्वितीय (९९०-१०१० ई०)

(१०) गांगेय (१०१०-४१ ई०)

(११) कर्ण (१०४१-७२ ई०)

(१२) यशकर्ण (१०७२-११३०)

(१३) गजकर्ण (११३०-५३ ई०)

- (१४) नरसिंह . (११५३-६५)
- (१५) जयसिंह (११६५-७८ ई०)
  - (१६) विजयसिंह (११७८-१२०० ई०)

द—मालवा के परमार

१—उपेन्द्रकृष्णराज (८००-३५ ई०)

२—वैरिसिंह (८३५-६० ई०)

३–शियाक प्रथम (८६०-९० ई०)

४–वाक्पति प्रथम (८९०-९१५ ई०)

५–वैरिसिंह द्वितीय (९१५-४० ई०)

६–शियाक द्वितीय (९४०-७० ई०)

७–वाक्पति द्वितीय मुंज (९७०-९० ई०) ८–सिन्धुराज (९९०-९७ ई०)

९–भोज प्रथम (९९७-१०५२ ई०)

१०—जयसिंह प्रथम (१०५२-६० ई०)

११—उदयादित्य (१०६०-८६ ई०)

१२–लक्ष्मण (१०८६-९३ ई०) १३—नरवर्मन् (१०९३-११२० ई०)

१४–यशोवर्मन् (११२०-४४ ई०)

१५–(अ) जयवर्मन् (११४४-४८ ई०) लक्ष्मीवर्मन्

१६–विन्ध्यवर्मन् (११४८-७८ ई०)

हरिश्चन्द्र

१७–सुभटवर्मन् (११७८-१२०३ ई०)

१८–अर्जुनवर्मन् प्रथम (१२०३-१६ ई०) १९–देवपाल (१२१५-४० ई०)

२०–जयतुगि (१२४०-५५ ई०) २१–जयवर्मन् (१२५५-७० ई०)

२२–जयसिंह द्वितीय (१२७०-८५ ई०)

२३–अर्जुनवर्मन् द्वितीय (१२८५-९१ ई०)

२४—भोज द्वितीय (१२९१-१३०२ ई०)

२५—मलहग

२६—जयसिंह तृतीय (१३०३-१८ ई०)

य—बुन्देलखण्ड के चन्देल

१—नन्नुक

२—वाक्पति

३—जयशक्ति   ४—विजयशक्ति

५—राहिल

६—हर्ष

७—यशोवर्मन्

८—धंग (९५०-१००० ई०)

९—गंड (१०००-२० ई०)

१०—विद्याधर (१०२०-३५ ई०)

११—विजयपाल (१०३५-५० ई०)

१२—देववर्मन् (१०५०-६५ ई०)   १३—कृतिवर्मन् (१०६५-११०० ई०)

१४—शल्लाक्षणवर्मन् (११००-१० ई०)   १६—पृथ्वीवर्मन् (११२०-२८ ई०)

१५—जयवर्मन् (१११०-२० ई०)

[१६—पृथ्वीवर्मन् (११२०-२८ ई०)

१७—मदनवर्मन् (११२८-६५ ई०)

यशोवर्मन्

१८—परमार्दिन (११६५-१२०५ ई०)

१९—त्रैलोक्यवर्मन् (१२०५-५० ई०)

२०—वीरवर्मन् (१२५०-८७ ई०)

२१—भोजवर्मन्

फ—गुजरात के चालुक्य

१—राजि

२—मूलराज (९७०-१००० ई०)

३—चमुण्ड (१०००-१० ई०)

४—वल्लभ (१०१०-२० ई०)

५—दुर्लभ (१०२०-२४ ई०)

६—भीम प्रथम (१०२४-६० ई०)

७—कर्ण त्रैलोक्य मल्ल (१०६०-११०० ई०)

८—जयसिंह सिद्धराज (११००-४५ ई०)

९—कुमारपाल (११४५-७० ई०)

१०—अजयपाल (११७०-७६ ई०)

११—मूलराज द्वितीय (११७६-७८ ई०)

१२—मूलराज द्वितीय (११७८-१२३९ ई०)
|
१३—जयन्तसिंह
|
१४—त्रिभुवनपाल

ग—गुजरात के बघेल-चालुक्य

१—अर्णोराज
|
२—लवणप्रसाद (१२००-२५ ई०)
|
- ४—विशालदेव (१२४०-६२ ई०)
- प्रतापमल्ल
  |
  ५—अर्जुन (१२६२-७० ई०)
  ६—सारंग (१२७०-९५ ई०)

ह—बङ्गाल तथा बिहार के पाल

१—गोपाल प्रथम (७६५-८० ई०)
|
- २—धर्मपाल
  |
  ३—देवपाल (८१३-५५ ई०)
- वकपाल
  |
  जयपाल
  |
  ४—विग्रहपाल प्रथम या सुरपाल (८५५-६० ई०)
  |
  ५—नारायणपाल (८६०-९१५ ई०)
  |
  ६—राज्यणपाल (९१५-४० ई०)
  |
  ७—गोपाल द्वितीय (९४०-१००० ई०)
  |
  ८—विग्रहपाल द्वितीय (१०००-१००५ ई०)

९—महिपाल (१००५-५५ ई०)

१०—नयपाल (१०५५-७२ ई०)

११—विग्रहपाल तृतीय (१०७२-११०० ई०)

- १२—महिपाल द्वितीय (११०० ई०)
- १३—सुरपाल (११०२ ई०)
- १४—रामपाल (११०२-४५ ई०)
  - १५—कुमारपाल (११४५-५५ ई०)
    - १६—गोपाल तृतीय
  - १७—मदनपाल
    - १८—गोविन्दपाल
      - १९—पाल-पाल

ल—बङ्गाल के सेन

१—सुमन्त सेन (१०५०-७५ ई०)

२—हेमन्त सेन (१०७५-९७ ई०)

३—विजय सेन (१०९७-११५८ ई०)

४—वल्लाल सेन (११५८-७८ ई०)

५—लक्ष्मण सेन (११७८-१२०२ ई०)

- माधव सेन
- विश्वरूप सेन
- केशव सेन

पन्द्रहवाँ अध्याय

दक्षिण प्रदेश तथा धुर दक्षिण

अ—दक्षिण के राजवंश

वातापि के चालुक्य—वाकाटक वंश को संभवतः परास्त कर ५५० ई० में चालुक्य वंश ने राजसत्ता को अपने अधिकार में किया। इस वंश का प्रथम शासक पुलकेशिन् प्रथम था जिसने वातापि (हैदराबाद में बीजापुर जिले में बादामी) को अपनी राजधानी बनाया। उसके उत्तराधिकारी कीर्ति-वर्मन् प्रथम (५६५-९७ ई०) तथा मारिगलेश (५९७-६०९ ई०) दोनों ही शक्तिशाली शासक थे जिन्होंने पूरे बंबई प्रान्त तथा हैदराबाद को जीतकर चालुक्य वंश की नींव दृढ़ कर दी।

पुलकेशिन् द्वितीय—मारिगलेश को गद्दी से उतारकर पुलकेशिन् द्वितीय गद्दी पर बैठा जो कि इस वंश का सबसे शक्तिशाली सम्राट् हुआ। उसने मध्यप्रान्त के पूर्वी भाग को जीता, जो महाकोशल या दक्षिणी कोशल के नाम से प्रसिद्ध था। उसने उड़ीसा तथा मद्रास प्रान्त के उत्तरी भाग को भी जीता। उसके पश्चात् उसने पल्लव राज्य पर आक्रमण किया तथा उसके भीतर प्रवेश कर पल्लवों की राजधानी कांची के पास पल्लव-नरेश महेन्द्र-वर्मन् को हराया। ज्ञात होता है, उसने कादम्बवंशी राजाओं से कनाड़ी जिले या कर्नाटक भी छीन लिया था। पूर्व में अपने भाई को उसने वेंगी का शासक बनाया और इस प्रकार पूर्वी चालुक्यों की शाखा चली (नीचे देखो)। उसका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य था अपने समकालीन कन्नौज के हर्षवर्धन को हराना, परन्तु अपनी वृद्धावस्था में पल्लवनरेश नरसिंह प्रथम द्वारा उसे बुरी हार खानी पड़ी। नरसिंह प्रथम ने उसकी राजधानी को जीता तथा उसे नष्ट-भ्रष्ट कर उससे बदला लिया। यह हार वास्तव में इतनी भीषण हुई कि तेरह वर्ष (६४२-५५ ई०) तक चालुक्य सिंहासन पर कोई राजा ही न रहा।

उत्तराधिकारी—विक्रमादित्य प्रथम (६५५-८० ई०) ने पुनः खोई हुई चालुक्य सत्ता को स्थापित किया। उसे तथा उसके उत्तराधिकारियों विनयादित्य (६८०-९६ ई०), विजयादित्य (६९६-७३३ ई०) तथा विक्रमादित्य द्वितीय (७३३-४४ ई०) सभी को पल्लव-नरेशों से लड़ना पड़ा। इस वंश के अन्तिम शासक कीर्तिवर्मन् द्वितीय (७४४-५३ ई०) से नये उठते हुए राष्ट्रकूट वंश ने सिंहासन छीन लिया।

चालुक्यों की एक छोटी शाखा गुजरात में थी। इस वंश के एक शासक पुलकेशिन् ने ७३१ ई० में सिन्ध के आक्रमणों का सामना किया तथा उन्हें मार भगाया, क्योंकि वे दक्षिण प्रदेश में प्रवेश करने की कोशिश कर रहे थे।

मान्यखेत में राष्ट्रकूट—यद्यपि पहले भी बरार के कुछ भाग में स्थानीय राष्ट्रकूट वंश की सत्ता के कुछ प्रमाण मिलते हैं, परन्तु उनका वास्तविक इतिहास ७५३ ई० में प्रारंभ होता है जब कि दन्तिदुर्ग ने चालुक्य नरेश कीर्तिवर्मन् द्वितीय को परास्त कर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। उसके पश्चात् उसके चाचा कृष्ण प्रथम (७६०-७३ ई०) गद्दी पर बैठे जिन्होंने पूर्वी चालुक्यों पर आक्रमण किया।

कृष्ण प्रथम—उसके पश्चात् दूसरे महत्त्वपूर्ण शासक ध्रुव, (७८०-९३ ई०) तथा उसके पुत्र गोविन्द तृतीय (७९३-८१४ ई०) हुए, जिन दोनों ने उत्तर में दूर-दूर तक विजय प्राप्त की।

ध्रुव तथा गोविन्द तृतीय—हम पहले ही बता आये हैं कि किस प्रकार प्रतिहार वंशी नागभट्ट द्वितीय तथा बंगाल के धर्मपाल में संघर्ष उठ खड़ा हुआ और किस प्रकार ध्रुव तथा गोविन्द तृतीय ने उन दोनों को परास्त किया। परन्तु यह विजय अस्थायी ही रही, क्योंकि शीघ्र ही गोविन्द को दक्षिण लौट आना पड़ा।

अमोघवर्ष प्रथम—गोविन्द का पुत्र अमोघवर्ष प्रथम (८१४-८०) केवल पाँच वर्ष का था जब यह गद्दी पर बैठा। उसके शासनकाल में पूर्वी चालुक्यों तथा पल्लव शासकों ने उपद्रव करना प्रारंभ किया। इसके अतिरिक्त उसके राज्य में आन्तरिक कलह भी थी जिसके कारण उसे अपने लम्बे शासन-काल में अनेक बार सिंहासन छोड़ना पड़ा। उसने अपनी राजधानी

बदलकर मान्यखेत (मध्य हैदराबाद में आधुनिक मालखेद) में कर दी। परन्तु यह पता नहीं चलता कि इसके पहले राजधानी क्या थी।

इन्द्र तृ ीय--अगले शासक कृष्ण (८८०-९१४ ई०) के शासनकाल में पूर्वी चालुक्यों के साथ राष्ट्रकूटों का मंघर्ष चलता रहा जिसमें राष्ट्रकूटों को कोई लाभ न हुआ। उसके पौत्र इन्द्र तृतीय (९१४-१७ ई०) का शासन-काल क्षणिक ऐश्वर्य का समय था। तीन साल के अल्पकाल में ही वह उत्तरी भारत की राजनीति का एक प्रमुख पात्र बन गया तथा उसने कन्नौज के प्रति-हार शासक महिपाल को गद्दी से उतार दिया और इस प्रकार अपने पूर्व ध्रुव तथा गोविन्द की समता की।

कृष्ण तृतीय--दूसरा महत्त्वपूर्ण शासक कृष्ण तृतीय (८८०-९१४ ई०) था जिसने गंग तथा कलचुर शासकों को परास्त किया तथा चन्देलों के कुछ दुर्ग छीन लिये। उसने ९४९ ई० में चोल शासक को भी हराया। परन्तु उसके निर्बल उत्तराधिकारियों के समय में राष्ट्रकूट शक्ति क्षीण होने लगी और अन्त में कर्क द्वितीय को गद्दी से उतार कर तैल द्वितीय ने चालुक्य शक्ति को पुनः स्थापित किया।

कैलाश मन्दिर--इस वंश के राजा कृष्ण प्रथम ने इलौरा में (उत्तरी हैदराबाद) शिव का प्रसिद्ध कैलाश मन्दिर बनवाया। यह एक ही चट्टान से काट कर बनाई गई विशाल इमारत है जिसकी प्रत्येक दीवार पर अनेक सुन्दर पौराणिक चित्र खोदकर बनाये गये हैं।

७९० ई० से ९०० ई० तक ध्रुव के पुत्र इन्द्र द्वारा स्थापित इस वंश की एक छोटी शाखा गुजरात पर शासन करती रही। परन्तु ९०० ई० पश्चात् इसका शासन सीधे मालखेद से होता था।

ब--कल्याण के पुनः स्थापित चालुक्य

कल्याण के पुनः स्थापित चालुक्य--चालुक्य शक्ति को पुनः स्थापित कर तैल द्वितीय (९७३-९७७ ई०) ने कल्याण (मध्य हैदराबाद में कल्यानी में राज्य करना प्रारंभ किया तथा दक्षिण के चोल, गुजरात के चालुक्य, चेदि के कलचुरि तथा मालवा के परमारों के विरुद्ध अनेक सफल लड़ाइयाँ

लड़ीं। उसका पुत्र सत्याश्रय (९७७-१०००) चोल सम्राट् राजराज महान् के हाथों परास्त हुआ। १०५२ ई० में सोमेश्वर प्रथम (१०४२-६८ ई०) ने राजाधिराज चोल को हराया तथा उत्तर की ओर बढ़ा। उसने परमार वंश के प्रसिद्ध शासक भोज को विवश किया कि वह जान लेकर भाग जाय तथा कलचुरि वंश के शासक कृष्ण की शक्ति को बिलकुल नष्ट कर दिया जो कि एक समय प्रायः समस्त भारत का लगभग सम्राट् ही बन चुका था।

विक्रमादित्य षष्टम्—दूसरा महत्त्वपूर्ण शासक विक्रमादित्य षष्टम् (१०७६-११२६ ई०) था जिसके विषय में कहा जाता है कि वह बंगाल, मालवा तथा धुर दक्षिण के राजा के साथ सफलतापूर्वक लड़ा। उसके राजकवि बिल्हण ने एक ऐतिहासिक काव्य विक्रमांकचरित् लिखा है जिसका कि वह नायक है।

विक्रमादित्य के पश्चात् अनेक निर्बल शासक सिंहासन पर आये। ११५६ ई० में जब कि तैल तृतीय शासन कर रहा था, विज्जाल ने चालुक्य साम्राज्य के अधिकांश भाग को अपने अधिकार में कर लिया। यह विज्जाल तैल तृतीय का सेनापति था। परन्तु ११८४ ई० में सोमेश्वर चतुर्थ ने खोया हुआ राज्य पुनः पा लिया; परन्तु वह बहुत दिनों तक अपनी शक्ति कायम न रख सका और ११९० ई० में देवगिरि के यादव शासक भिल्लम ने इसे जीतकर अपने राज्य में मिला लिया।

इस विज्जाल का शासनकाल दक्षिण भारत के धार्मिक इतिहास में प्रसिद्ध है, क्योंकि इसी समय एक नवीन लिंगायत शैव सम्प्रदाय का उत्थान हुआ जिसका वर्णन हम आगे करेंगे।

वेंगी के पूर्वी चालुक्य—पश्चिमी चालुक्य वंश के महान् शासक पुलकेशिन् द्वितीय ने अपने छोटे भाई विष्णुवर्धन को पूर्वी प्रान्तों की विजय के लिए भेजा। उसने कलिंग तथा आन्ध्र देश पर आधिपत्य जमा लिया तथा ६१५ ई० में अपने लिए वेंगी नेंगी (मद्रास के गोदावरी जिले में वेंगी) में अपने लिए एक गणराज्य की स्थापना की।

उत्तराधिकारी—उसके पश्चात् उसका पुत्र जयसिंह प्रथम (६३३-६३ ई०) गद्दी पर बैठा तथा पल्लवों के हाथ पश्चिमी चालुक्यों के हारते ही उसने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी।

आठवीं शताब्दी के प्रारंभ में गद्दी के लिए आन्तरिक कलह प्रारंभ हो गई अतः उत्तराधिकार अनियमित रहा; परन्तु ७०९ ई० में विष्णुवर्धन तृतीय (७०९-४६ ई०) ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। इसके शासन-काल में पल्लवों ने उसके राज्य का दक्षिणी भाग छीन लिया। उसके पुत्र विजयादित्य प्रथम (७४६-६४ ई०) के शासनकाल में राष्ट्रकूटों ने पश्चिमी चालुक्यों को हराकर उनका राज्य अपने अधिकार में कर लिया। इस घटना का प्रभाव पूर्वी चालुक्यों पर भी पड़ा।

विजयादित्य द्वितीय—दूसरे शासक विष्णुवर्धन चतुर्थ (७६४-९९ ई०) पर शक्तिशाली राष्ट्रकूट शासक ने आक्रमण किया। बेचारे विष्णुवर्धन को राष्ट्रकूटों की अधीनता स्वीकार कर शान्ति मोल लेनी पड़ी। उसके पुत्र विजयादित्य द्वितीय ने राष्ट्रकूट सत्ता को अपने ऊपर से हटा फेंकने का प्रण किया। परन्तु इस समय के सबसे शक्तिशाली राष्ट्रकूट शासक गोविन्द तृतीय ने उसे परास्त किया तथा उसके स्थान पर उसके छोटे भाई भीम को सिंहासन पर बिठलाया। परन्तु गोविन्द की मृत्यु (८१४ ई०) के पश्चात् विजयादित्य ने पुनः सिंहासन प्राप्त कर लिया तथा गोविन्द के उत्तराधिकारी अमोघ को कुछ काल के लिए गद्दी से उतारकर अपना बदला लिया। उसके पौत्र विजयादित्य ने पल्लवों से लोहा लेने का प्रयत्न किया तथा पांड्य-वंश के विरुद्ध चोल शासकों की सहायता की। पश्चिमी गंग-राज्य पर पुनः आक्रमण हुआ तथा अमोघवर्ष पुनः पराजित हुआ। इस प्रकार उसने अपनी इन लड़ाइयों से दक्षिण में हलचल मचा दी।

निर्बल उत्तराधिकारी—आगे आनेवाले शासकों के शासनकाल में चालुक्यों की राष्ट्रकूटों से शत्रुता चलती रही तथा भिन्न-भिन्न समयों में दोनों को भिन्न-भिन्न परिणाम भुगतने पड़े। शीघ्र-शीघ्र अनेक शासकों ने सत्ताइस साल (९७६-१००३) तक राजसत्ता हस्तान्तरित होने के पश्चात् सिंहासन शक्तिवर्मन् (१००३-१०१५ ई०) तथा उसके भाई विमलादित्य (१०१५-२२ ई०) के हाथ में चला गया। विमलादित्य का पुत्र रैराज प्रथम (१०२२-६४ ई०) था जिसने महाभारत का तैलगू में अनुवाद किया तथा चोल शासक राजेन्द्र की पुत्री से विवाह किया। उसके पश्चात्

उसका पुत्र राजेन्द्र १०६४ ई० में गद्दी पर बैठा। परन्तु कुछ वर्ष के पश्चात् उसने चोल सिंहासन पर अपना अधिकार सिद्ध किया तथा कुलोत्तुंग प्रथम के नाम से उस पर अधिकार कर लिया। इसके पश्चात् वेंगी पर चोल सम्राटों के भेजे हुए प्रान्तीय शासक राज्य करते रहे।

स—धुर दक्षिण

पहले ऐसा समझा जाता था कि पल्लवों तथा पहलवों या पार्थियनों में आपस में सम्बन्ध था, यद्यपि इस मत के लिए नामों के साम्य के अतिरिक्त और कोई आधार नहीं।

काञ्ची के पल्लव—२५० ई० में काञ्ची में (काञ्जीवरम्) बप्पा तथा उसके पुत्र शिव स्कन्दवर्मन् प्रथम ने पल्लव वंश की स्थापना की, परन्तु इन प्राचीन काल के शासकों की तिथि निर्भ्रान्त नहीं है। इस वंश के एक शासक विष्णुगुप्त को समुद्रगुप्त ने अपनी दक्षिण-विजय में हराया।

महेन्द्रवर्मन् प्रथम और नरसिंह प्रथम—६०० ई० के लगभग यह राजवंश महेन्द्रवर्मन् प्रथम के शासनकाल में बहुत शक्तिशाली हो गया तथा उसने चोल साम्राज्य के कुछ भागों को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। उसके पुत्र नरसिंह प्रथम ने (६३०-५८ ई०) मामल्लपुरम (मद्रास के दक्षिण में पूर्वी समुद्र-तट पर आधुनिक महाबालिपुरम्) में एक सुन्दर एवं प्रसिद्ध मन्दिर चट्टानों को काटकर बनवाया। वह पहले तो चालुक्य नरेश पुलकेशिन् प्रथम द्वारा परास्त हुआ; परन्तु ६४२ ई० में उसने स्वयं पुलकेशिन् को हराया और तेरह वर्ष तक के लिए चालुक्यों की राजसत्ता ही समाप्त कर दी। आन्तरिक कलह में खो गये सिंहासन को पुनः प्राप्त करने में उसने सिंहल के राजकुमार की सहायता की।

राष्ट्रकूटों से युद्ध—आगे आनेवाले शासकों के समय में भी चालुक्यों तथा उनके राजनैतिक उत्तराधिकारी राष्ट्रकूटों से युद्ध चलता रहा। ८०० ई० में राष्ट्रकूटों ने गोविन्द तृतीय की अध्यक्षता में पल्लवों को कुछ दिनों के लिए अपने अधीन सामन्त बनाने में सफलता प्राप्त की। इसके अतिरिक्त पल्लवों को अपने नये प्रतिद्वन्द्वी चोलों का भी सामना करना पड़ा जो कि नवीं

शताब्दी तक शक्तिशाली हो गये थे। अतः अन्त में ९०० ई० में चोल शासक आदित्य प्रथम ने अन्तिम पल्लव शासक अपराजित को परास्त कर उसका राज्य अपने साम्राज्य में मिला लिया।

चोल वंश—हम पहले ही देख चुके हैं कि अशोक के शिलालेखों में दक्षिण के तीन राज्य चोल, चेर तथा पाण्ड्य स्वतंत्र बताये गये हैं। उत्तर तथा दक्षिण में होनेवाले अनेक परिवर्तनों तथा क्रान्तियों में भी चोल तथा पाण्ड्य शताब्दियों तक अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाये रहे।

दक्षिण के लोगों ने बहुत पहले से ही अपनी भाषा तथा साहित्य की काफी प्रगति कर ली थी। इस देश में अनेक ऐसी परिषदें थीं जिन्हें पर्याप्त धन से सहायता दी जाती थी। इनका पैदा किया हुआ साहित्य 'संगम साहित्य' के नाम से विख्यात है। 'संगम-साहित्य' के सृजन-काल को निर्धारित कर सकना बहुत ही कठिन है; पर सम्भवतः यह ईसा की प्रथम दो या तीन शताब्दियों में रचा गया होगा। इस साहित्य में हमें करिकाल तथा कोच्चेनगनम् नाम के दो प्रसिद्ध शासकों के नाम मिलते हैं जिनकी दूर-दूर तक की विजय का इसमें उल्लेख दिया हुआ है।

विजयल—परन्तु चोल वंश का वास्तविक इतिहास नवीं शताब्दी के द्वितीय चतुर्थांश में विजयल (८५० ई०) से प्रारम्भ होता है जो कि पहले सम्भवतः तन्जौर के पास पल्लव नरेशो का गण सामन्त था। उसके पुत्र आदित्य प्रथम (८७५-९०७ ई०) तथा पौत्र पारान्तक (९०७-५३ ई०) ने पल्लव शक्ति को निर्बल बना दया। पारान्तक ने दक्षिण में पाण्ड्य शासक पर आक्रमण किया जिसने रक्षा के लिए सिंहल से सहायता माँगी, पर कोई लाभ न हुआ। ९५० ई० में राजा को स्वयं ही सिंहल में मुँह की खानी पड़ी।

राजराज—दूसरा महत्त्वपूर्ण शासक राजराज महान् (९८५-१०१४ ई०) था जिसने अपने साम्राज्य का दूर दूर तक विस्तार किया। उसने दक्षिण के पाण्ड्य शासक को परास्त कर बन्दी बना लिया तथा पश्चिम में चेर शासक पर आक्रमण किया। उसने समुद्र पार कर लंका पर आक्रमण किया तथा जैसा कि उसका शिलालेख गर्व के साथ बतलाता है, उसने जहाजों द्वारा समुद्र को पार कर लंका के शासक को जला दिया और इस प्रकार राम से भी अधिक

साहस का परिचय दिया। पुर्नस्थापित नवीन चालुक्य वंश के शासक सत्याश्रय ने उसका लोहा माना तथा अपना सारा कोष उसके चरणों पर रख दिया। चोल शासकों का समुद्री बेड़ा काफी शक्तिशाली हो गया था, अत: उन्होंने उसे पूर्वी द्वीपसमूह विजय करने के लिए भेजा।

राजेन्द्र प्रथम––उसका पुत्र राजेन्द्र प्रथम (१०१४-४४ ई०) इस वंश का सबसे शक्तिशाली सम्राट् हुआ जिसके समय में चोल वंश की प्रतिष्ठा तथा ऐश्वर्य अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गया। पाण्डय तथा चेर राज्यों में उसके सामन्त शासन करते थे। उसने अपने एक सेनापति को उत्तरापथ की विजय के लिए भेजा। यह उड़ीसा तथा महाकोसल होते हुए गंगा तक पहुँच गया। यह उसकी महत्त्वपूर्ण सफलता थी, अत: उसने अपनी इस गंगा तक के प्रवेश की विजय की यादगार में गार्गैकोण्डा की उपाधि धारण की। उसके समुद्री बेड़े ने ब्रह्मा तथा सुमात्रा की ओर प्रस्थान किया तथा कुछ काल के लिए इन देशों पर अधिकार कर लिया। उसने एक गार्गैकोण्ड शोलापुरम् नामक नवीन नगर की स्थापना की तथा उसे अनेक सुन्दर मन्दिर तथा इमारतों द्वारा सुन्दर बनवाया।

राजाधिराज––उसके पुत्र राजाधिराज ने (१०४४-५४) ई० लंका को अपने राज्य में मिला लिया तथा वहाँ के लोगों को निर्दयतापूर्वक दबा दिया। उसने चालुक्य नरेश सोमेश्वर पर भी आक्रमण किया; परन्तु युद्ध में स्वयं ही मारा गया।

कुलोत्तुंग प्रथम––दूसरा महत्त्वपूर्ण शासक कुलोत्तुंग प्रथम (१०७४-१११२) आता है जो जैसा हम पहले कह आये हैं, चालुक्य वंश का था तथा मातृपक्ष के बल पर चोल-सिंहासन पर उसने अपना अधिकार सिद्ध किया। वह एक शक्तिशाली शासक था जिसे चालुक्य नरेश विक्रमादित्य के षष्ठम् आक्रमण को बचाने के लिए बड़ा प्रयास करना पड़ा। पूर्वी चालुक्यों की पहले की राजधानी वेंगि पर उसके पुत्र शासन करते थे।

निर्बल उत्तराधिकारी––खुचुंगं के पश्चात् चोल शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होने लगी। लंका, पाण्डय एवं चालुक्यों के साथ बहुत दिनों तक युद्ध चलता रहा जिसका कि कोई निश्चित प रिणाम बहुत दिनों तक न नकला

सका। फलस्वरूप केन्द्रीय शक्ति की अपेक्षा प्रान्तीय शासक तथा सामन्त अधिक शक्तिशाली हो गये। इनके अतिरिक्त दूसरे प्रतिद्वन्द्वियों ने पूर्वी गंगा तथा होयसलों से चोल साम्राज्य की शक्ति एवं एकता पर आघात पहुँचाया। परन्तु फिर भी यह राज्यवंश दो शताब्दियों तक और चलता रहा और अन्त में १३२० ई० में मलिक काफूर ने इसे जीतकर इसका अन्त कर दिया।

पाण्ड्य—चोलवंश की भाँति पाण्ड्यों का भी इतिहास बहुत ही प्राचीन है। परन्तु इसके आरम्भिक शासकों के नाम छोड़कर उनके विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है, यहाँ तक कि यह भी पता नहीं कि उनमें परस्पर क्या सम्बन्ध था। केवल नवीं शताब्दी के मध्य से हमें उनकी निश्चित तिथियाँ ज्ञात होना प्रारम्भ होती हैं।

महत्त्वपूर्ण शासक—दसवीं, ग्यारहवीं तथा बारहवीं शताब्दी के पाण्ड्य शासक लगातार चोल तथा सिंहल शासकों से लड़ते रहे; परन्तु प्रायः चोलों के साथ युद्ध में उन्हें बुरा परिणाम भुगतना पड़ा। १२२० ई० में मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य प्रथम (१२१६-३८ ई०) ने चोल शासक को हराया तथा उनके केन्द्रों तञ्जौर तथा मैयूर को जला दिया। उसके उत्तराधिकारी मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य द्वितीय (१२३८-५१ ई०) ने होयसलवंश से कुछ प्रान्त छीनकर अपने राज्य में मिला लिये। दूसरा शासक जातवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य प्रथम १२५१ ई० में गद्दी पर बैठा तथा उसने आस-पास के सभी राजाओं को हराकर पाण्ड्य वंश का ऐश्वर्य बहुत ऊँचे शिखर पर पहुँचा दिया। मारवर्मन् कुलशेखर प्रथम ने (१२६८-१३१० ई०) ने अपने राज्य में प्रान्तीय शासक नियुक्त किये, जिस प्रथा द्वारा भारत में केन्द्रीय शक्ति हमेशा निर्बल हो जाती रही है। १३१० ई० में सिंहासन के लिए भाइयों में झगड़ा उठ खड़ा हुआ। दिल्ली के शासक अलाउद्दीन खिलजी ने इसको स्वर्ण-अवसर समझकर मलिक काफूर को इस राज्य को जीतने को भेजा। इस घटना के पश्चात् पाण्ड्य शक्ति क्षीण पड़ गई।

द—छोटे राजवंश

पश्चिमी गंग—पश्चिमी गंग मैसूर में शासन करते थे तथा उनकी राजधानी तलाकाद (मैसूर शहर के पास) में थी। उनके प्रान्त का नाम गंग-

बाड़ी थी। उनकी सत्ता का सबसे प्राचीन प्रमाण पाँचवीं तथा छठी शताब्दी में मिलता है। वे वातापी के चालुक्यों के सामन्त थे, परन्तु ७५३ ई० में चालुक्यों के पतन के पश्चात् वह स्वतन्त्र हो गये।

श्री पुरुष—इस वंश का प्रथम महत्त्वपूर्ण शासक श्री पुरुष (७२५-७६ ई०) था जिसने कि अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी तथा एक पल्लव शासक को मार डाला। उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में राष्ट्रकूटों ने बार-बार गंग वंश पर आधिपत्य जमाने का प्रयास किया। चोल शासकों ने भी कुछ बार उन पर सफलता पायी।

बूतुगं द्वितीय—बूतुगं द्वितीय (९३९-५३ ई०) ने राष्ट्रकूट वंशी कृष्ण से मिलकर सिंहासन पाने के लिए अपने भाई को मार डाला तथा चोल शासक राजादित्य प्रथम को परास्त करके कत्ल कर दिया। राजा रचमल्ल ९७४-१००४ ई०) १००४ ई० में राजेन्द्र चोल प्रथम द्वारा परास्त हुआ और इस घटना के पश्चात् यह वंश समाप्तप्राय सा हो गया। परन्तु गंग सामन्त कुछ शताब्दियों तक और चलते रहे।

यादव वंश—देवगिरि (आधुनिक दौलताबाद, हैदराबाद में) शासन करनेवाले यादववंश का पहला महत्त्वपूर्ण शासक भिल्लम (११८५-९५ ई०) था जो कि वीर तथा शक्तिशाली होते हुए भी होयसल वंश के शासक वीर बल्लाल द्वितीय द्वारा परास्त हुआ।

सिंहन—परन्तु उसके पौत्र सिंहन (१२०५-४७) ने राज्य को दूर-दूर तक फैलाया तथा विन्ध्य से लेकर कृष्णा तक का प्रदेश अपने उत्तराधिकारियों के लिए छोड़ मरा। उसके प्रपौत्र रामचन्द्र को १२९४ ई० में अलाउद्दीन खिलजी ने परास्त किया और उसे वार्षिक कर देने पर विवश किया। १३०७ तथा १३१२ में जब उसने कर देना अस्वीकार किया तो उसे अलाउद्दीन के सेनापति मलिक काफूर ने परास्त किया। सन् १३१८ ई० में रामचन्द्र के दामाद हरपाल ने दिल्ली के सुलतान के विरुद्ध विद्रोह किया। परन्तु वह परास्त हुआ तथा जीते जी खाल निकालकर मार डाला गया।

हौयसल वंश—यादवों की एक शाखा हौयसल द्वारसमुद्र (मैसूर में आधुनिक हालेवड़ि) में शासन करती थी। ये १०१० से ११९० तक तो

सामन्त थे, उसके पश्चात् स्वतंत्र हो गये। वीर वल्लाल द्वितीय इस वंश का प्रथम शासक था जिसने कि स्वतंत्रता की घोषणा कर यादवों को हराया। यह वंश १३१० ई० तक द्वारसमुद्र में शासन करता रहा और उसके बाद मलिक काफूर ने इसे निर्मूल कर दिया।

वनवासी के कदम्ब—मयूरशर्मन् नामक एक ब्राह्मण ने कदम्ब राजवंश की स्थापना की तथा पल्लव शासकों से युद्ध किया। पल्लवों को अन्त में इसे स्वतन्त्र राजसत्ता मानना पड़ा। उसकी तिथि के विषय में कुछ भी निश्चय नहीं है; परन्तु ऐसा ज्ञात होता है कि चौथी शताब्दी के मध्य में वह सिंहासन पर बैठा। उसके सभी उत्तराधिकारी शक्तिशाली शासक थे जिन्होंने गुप्त तथा वाकाटक सम्राटों से मित्रतापूर्ण व्यवहार रक्खा। उनके राज्य के अन्तर्गत कनाडी जिले थे तथा उनकी राजधानी कनाड़ के उत्तर में वैजयन्ती या वनवासी थी।

राज्य-अपहरण—सातवीं शताब्दी के मध्य में चालुक्य वंश के शक्तिशाली सम्राट् पुलकेशिन् द्वितीय ने उन्हें परास्त कर उखाड़ फेंका।

पुनरुत्थान—चालुक्य तथा राष्ट्रकूट शासकों के शासनकाल में कर्नाट का शासन प्रान्तीय शासकों के हाथ में था। परन्तु राष्ट्रकूटों का अन्त होते ही कदम्ब शासक पुनः चालुक्यों के गण सामन्त की हैसियत से शासन करने लगे।

हंगाल—हंगाल के कदम्ब वंश को ९६५ ई० में त्रिववेदांग ने स्थापित किया। उसके एक उत्तराधिकारी तैल द्वितीय (१०९४-११३४ ई०) ने हंगाल तथा वनवासी दोनों शासन-केन्द्रों को एक में मिला दिया। चालुक्य तथा चोल के परम्परागत संघर्ष में कदम्ब चोल शासकों के प्रायः शिकार बन जाते थे। अन्तिम चालुक्य शासक सोमेश्वर चतुर्थ की मृत्यु के पश्चात् कदम्ब वंश ने कामदेव (११८०-१२१५ ई०) के नेतृत्व में अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। इस समय के पश्चात् हौयसल शासकों ने अनेक बार कदम्ब शासकों पर आधिपत्य जमाने का प्रयास किया पर कोई सफलता न मिली। उनकी राजसत्ता चौदहवीं शताब्दी के मध्य तक बनी रही, जिसके पश्चात् विजयनगर साम्राज्य ने उन्हें जीतकर अपने में मिला लिया।

गोआ—दसवीं शताब्दी के आरम्भ में एक दूसरा कदम्ब वंश का कुटुम्ब गोआ चालुक्य शासकों के सामन्त की हैसियत से शासन कर रहा था। उनको यादव तथा होयसल शासकों से लड़ना पड़ा। चौदहवीं शताब्दी के मध्य में इस वंश का महत्त्व प्रायः कुछ न रहा।

शिलाहार—पश्चिमी समुद्र तट तथा उसके पास के आन्तरिक भाग पर शिलाहार-वंश राज्य करता था। यह क्रमशः राष्ट्रकूट, चालुक्य, कदम्ब तथा यादव वंशों के अधीन रहा; परन्तु वास्तव में यह प्रायः अर्धस्वतन्त्र था। शिलाहारों के तीन राजवंशों ने भिन्न-भिन्न समयों पर राज्य किया। इनमें सबसे प्राचीन राजवंश ने दक्षिण कोंकन में ७७० ई० से १०२५ ई० तक शासन किया। अन्त में कल्याण के चालुक्य वंश ने १०२५ ई० में इस राजवंश को सिंहासन से हटा दिया। इस वंश के द्वितीय राजकुटुम्ब ने ८०० ई० से १२०० ई० तक उत्तरी कोंकन में शासन किया। अन्त में इसे यादव शासक सिंहन के सामने परास्त होना पड़ा। इस वंश का तृतीय कुटुम्ब दसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में सतारा एवं कोल्हापुर के पास के प्रदेश पर १२२० ई० तक शासन करता रहा।

काकतीय—काकतीय वंश हैदराबाद के पूर्वी भाग में शासन करता था। इसकी राजधानी वारंगल थी। यह राजवंश पहले कल्याण के चालुक्यों के अधीन था; परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त तक यह प्रायः स्वतन्त्र हो गया। १३०३ ई० में मलिक काफूर के आक्रमण के पश्चात् यह राजवंश महत्त्वशाली न रह गया।

वंशावली सूचिका—वातापि के चालुक्य

पुलकेशिन् (५५०-६५ ई०)

कीर्तिवर्मन् (५६५-९७ ई०) — मंगलेश (५९७-६०९ ई०)

पुलकेशिन् द्वितीय (६०९-४२) — विष्णुवर्धन (वेंगि)

- पुलिकेशिन द्वितीय
  - विक्रमादित्य प्रथम (६५५-८० ई०)
    - विनयादित्य (६८०-९६ ई०)
      - विजयादित्य (६९६-७३३ ई०)
        - विक्रमादित्य (७३३-४४ ई०)
          - कीर्तिवर्मन् द्वितीय (७४४-५३ ई०)

मान्यखेत के राष्ट्रकूट

- कर्क प्रथम (७१०-३० ई०)
  - इंद्र प्रथम (७३०-४५ ई०)
    - दन्तिदुर्ग (७४५-५६ ई०)
  - कृष्ण प्रथम (७५६-७३ ई०)
    - गोविंद द्वितीय (७७३-८० ई०)
    - ध्रुव (७८०-९३ ई०)
      - गोविंद तृतीय (७९३-८१४ ई०)
        - अमोघवर्ष प्रथम (८१४-८० ई०)
          - कृष्ण द्वितीय (८८०-९१४) ई०
            - जगत्तुंग
              - इन्द्र तृतीय (९१४-१७ ई०)
                - कृष्ण तृतीय (९३९-६८ ई०)
                  - सोन
                    - इन्द्र चतुर्थ (९७४ ई०)
                - खोत्तिग (९६८-७२ ई०)
                - निरुपम
                  - कर्क द्वितीय (९७३ ई०)
              - अमोघवर्ष तृतीय (९३६-३९ ई०)
                - अमोघवर्ष द्वितीय (९१७-१८ ई०)
                - गोविंद चतुर्थ (९१८-३६ ई०)
      - इन्द्र (गुजरात)

कल्याण के चालुक्य

तैल द्वितीय (९७३-९७ ई०)

- सत्याश्रय (९९७-१००९ ई०)
- दासवर्मन्
  - विक्रमादित्य पंचम (१००९-१४ ई०)
  - अय्यन द्वितीय (१०१४-१५ ई०)
  - जयसिंह तृतीय (१०१५-४२ ई०)
    - सोमेश्वर प्रथम
      - सोमेश्वर द्वितीय (१०३८-७६ ई०)
      - विक्रमादित्य षष्टम् (१०७६-११२६)
        - सोमेश्वर तृतीय (११२६-३८ ई०)
          - जयदेवमल्ल द्वितीय (११३८-५१ ई०)
          - तैल (तृतीय ११५१-५६ ई०)
            - सोमेश्वर चतुर्थ (११८४-९० ई०)

वेङ्गि के चालुक्य

कीर्तिवर्मन् प्रथम

- पुलकेशिन् द्वितीय (वतापी)
- विष्णुवर्धन प्रथम (६१५-३३ ई०)
  - जयसिंह प्रथम (६३३-६३ ई०)
  - इन्द्र महारक (६६३ ई०)
    - विष्णुवर्धन द्वितीय (६६३-७२ ई०)
    - मंगि युवराज (६७२-९६ ई०)

मंगि युवराज

जयसिंह द्वितीय (६९६-७०९ ई०)
विष्णुवर्धन तृतीय (७०९-४६ ई०)
कोक्किल्ल (७०९ ई०)

विजयादित्य प्रथम (७४६-६४ ई०)

विष्णुवर्धन चतुर्थ (७६४-९९ ई०)

विजयादित्य तृतीय (७९९-८४३ ई०)
भीम

विष्णुवर्धन पंचम (८४३-४४ ई०)

विजयादित्य तृतीय (८४४-८८ ई०)
विक्रमादित्य प्रथम
युद्धमल्ल प्रथम

चालुक्य भीम प्रथम (८८८-९१८ ई०)
ताउप प्रथम (९२५ ई०)

विजयादित्य चतुर्थ (९१८ ई०)
विक्रमादित्य द्वितीय (९२५-२६) ई०
युद्धमल द्वितीय (९२७-३४ ई०)

अम्म प्रथम (९१८-२५ ई०
चालुक्य भीम द्वितीय (९३४-४५ ई०)
वादप
तैल द्वितीय

युद्ध मल्ल तृतीय

विजयादित्य पंचम (९२५ ई०)
भीम तृतीय (९२५-७६ ई०)

अम्म द्वितीय (९४५-७० ई०)
दानार्णव (९७०-७३ ई०)

शक्तिवर्मन् (१००३-१५ ई०)
विमलादित्य (१०२२-६३ ई०)

राजेन्द्र चोल (१०६३-१११२ ई०)

(कुलोत्तुंग प्रथम उपाधिकारी चोल शासक)

तञ्जौर के चोल

- विजयाल (८५०-७० ई०)
  - आदित्य प्रथम (८७५-९०७ ई०)
    - पारान्तक प्रथम (९०७-४७ ई०)
      - राजादित्य (९४७-४९ ई०)
      - गण्डारादित्य (९४९-५७ ई०)
      - अरिञ्जय (९५६-५७ ई०)
        - पारान्तिक द्वितीय
          - आदित्य द्वितीय (९५६-६९ ई०)
          - राजराज प्रथम (९८५-१०१४ ई०)
            - राजेन्द्र प्रथम (१०१४-४४ ई०)
              - राजाधिराज (१०४४-५४ ई०)
              - राजेन्द्र द्वितीय (१०५४-६४ ई०)
                - माधान्तकी (कुलोत्तुंग प्रथम से ब्याही गई)
              - वीरराजेन्द्र (१०६४-६९ ई०)
                - अधिराजेन्द्र (१०६९-७० ई०)
              - अम्मङ्गा (पूर्वी चालुक्य वंश विमलादित्य के साथ ब्याही गई)
                - राजेन्द्र चोल द्वितीय
            - कुण्डवा (पूर्वी चालुक्य विमलादित्य के साथ शादी हुई)

- माधान्तकी + राजेन्द्र चोल द्वितीय
  - कुलोत्तुंग प्रथम (१०७४-१११२ ई०)
    - विक्रम चोल
      - कुलोत्तुंग द्वितीय
        - राजराज द्वितीय (११६३ ई०)

सोलहवाँ अध्याय

विदेशीय देशों से सम्बन्ध

बृहत्तर-भारत

व्यापार—इतिहास के प्रारंभ काल से ही भारतवर्ष का विदेशी देशों से संबंध रहा है। मोहेन-जोदड़ो तथा सिन्धु घाटी का वर्णन करते हुए यह बताया जा चुका है कि सिन्धु की घाटी की कुछ मोहरें मेसोपोटामिया में पाई गई हैं जो संभवत व्यापार द्वारा ही वहाँ पहुँची होंगी। बहुत संभावना यह है कि यह व्यापार स्थलमार्ग द्वारा होता रहा हो। आर्य-काल में आते ही हमें उनके एशिया माइनर तक के संपर्क के विषय में उनके प्रमाण मिलते हैं। अनेक योग्य इतिहासवेत्ताओं का यह विचार है कि भारतीय आर्य प्रायः इन प्रदेशों में भ्रमण के लिए जाया करते थे। ईसा से पूर्व चौथी तथा पाँचवीं शताब्दी में अनेक नाविकों तथा सौदागरों की समुद्र-यात्राओं के विषय में हम सुनते हैं। सामुद्रिक व्यापार में दक्षिण का बहुत बड़ा हाथ था। दक्षिणी समुद्री किनारे पर नदियों के मुहानों पर अनेक बन्दरगाह मिलते हैं। परन्तु सबसे प्रसिद्ध बन्दरगाह नर्मदा के मुहाने पर भृगुकच्छ (आधुनिक ब्रोच) था।

ईसा से कुछ शताब्दियों पूर्व तथा बाद पाश्चात्य देशों में भारतीय व्यापार खूब फैला। रोम के निवासियों की विकास-प्रवृत्ति एवं शृंगार-प्रियता से भारत ने पर्याप्त लाभ उठाया, यहाँ तक कि रोम-सम्राटों को अनेक बार इस भाँति नष्ट होती हुई संपत्ति को बचाने के लिए अनेक उपाय निकालने पड़े।

विदेशी शासन—उत्तरी पश्चिमी भारत में चार शताब्दियों तक विदेशी शासन रहा जिसके कारण भारतीय संस्कृति में भी कुछ विदेशी प्रभाव आ ही गया। विदेशों के प्रति भारत के ऋण का यहाँ लेखा-जोखा किया जा सकता है। अनेक विद्वानों का मत है कि अशोक के स्तम्भों के ऊपरी भाग के निर्माण में यूनानी तथा फारसी कला-प्रणाली का प्रभाव पड़ा है। पार्थियन तथा कुशाण शासनकाल में निर्माण की हुई गान्धार की बौद्ध मूर्तियों में रोमन तथा यूनानी प्रणाली तो निश्चित रूप से ही पाई गई है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है

ईसा से पूर्व पहली तथा दूसरी शताब्दियों में बुद्ध की मूर्तियाँ भारतीय प्रणाली के अनुसार मनुष्यों के आकार में न बनती थीं। अतः यह धारणा हो गई है कि बुद्ध की प्रस्तर मूर्ति के निर्माण की प्रणाली भारत में विदेशों से आयी। इसके अतिरिक्त भारत ने यूनान से ज्योतिष विद्या भी सीखी, क्योंकि भारत में यूनानियों का ज्योतिष विद्या के पण्डित होने के नाते बड़ा सम्मान था।

रोम साम्राज्य का अधःपतन होते ही भारत के पाश्चात्य-व्यापार को बड़ा धक्का पहुँचा। परन्तु इस क्षति की पूर्ति पूर्वी प्रदेशों के व्यापार से हो गई जिनके साथ भारत की घनिष्ठता बढ़ती जा रही थी। अपनी प्राकृतिक स्थिति की अनुकूलता के कारण बंगाल तथा दक्षिण पूर्वी समुद्री तट के प्रदेश पूर्वी द्वीप-समूह से खूब व्यापार करने लगे। यह सम्बन्ध प्रायः मध्यकाल तक चलता रहा।

भारतीय धर्म का प्रचार––इन व्यापार सम्बन्धों के अतिरिक्त विदेशों में भारतीय विचारों का प्रचार भी हुआ। यह भारतीय इतिहास में गौरव की बात है; परन्तु इसमें बौद्ध-धर्म का बहुत बड़ा हाथ था।

अशोक के शासन-काल से ही बौद्ध भिक्षु विदेशों में बौद्ध-धर्म फैलाने में तत्पर थे। उनके इस प्रयास के परिणामस्वरूप बौद्ध-धर्म लंका, ब्रह्मा, चीन, जापान, कोरिया तथा मध्य एशिया में फैल गया। परन्तु कट्टर ब्राह्मण या सनातन धर्म भी नहीं पिछड़ा। सुदूर पूर्व में तथा पूर्वी-द्वीप-समूहों में इसका भी उतना ही महत्त्वपूर्ण प्रभाव पाया गया है।

विदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रचार का यहाँ संक्षेप में वर्णन किया जा सकता है। यह निम्न-वर्गों में बाँटा जा सकता है :––

(१) मध्य एशिया तथा अफगानिस्तान (२) लंका (३) सुदूर भारत (४) पूर्वी-द्वीप-समूह (५) चीन, जापान तथा कोरिया एवं (६) तिब्बत।

मध्य एशिया––इतिहास के प्रारम्भ काल से ही मध्य एशिया अनेक संस्कृतियों, धर्मों, भाषाओं तथा विभिन्न लोगों का घर रहा है। ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी में यहाँ गान्धार से बौद्ध धर्म की लहर आई। इस प्रदेश की उपद्रवशील प्रकृति के कारण किसी भी विषय में ठीक तौर से अनुसन्धान नहीं किया जा सकता, परन्तु बहुत से अन्वेषकों ने यहाँ परिभ्रमण कर अपने अनुसन्धानों में कुछ सफलता पायी है। उन्होंने यहाँ अनेक बौद्ध-स्तूप, गुफाएँ,

मूर्तियाँ, चित्र, प्राचीन ग्रन्थों की हस्तलिपियाँ तथा प्राचीन वस्तुएँ पाई हैं। इस बात का उल्लेख कर देना यहाँ बहुत आवश्यक है कि कनिष्क के राजकवि अश्वघोष के कुछ नाटक यहीं पाये गये हैं। इन नाटकों की हस्तलिपियाँ दूसरी शताब्दी की हैं अतः भारतीय हस्तलिपियों में से ये सबसे प्राचीन हैं। दूसरे हस्त-लिखित ग्रन्थों में बौद्ध-ग्रंथों का तथा चिकित्सा विज्ञान के कुछ ग्रन्थों का उल्लेख किया जा सकता है।

अफगानिस्तान––चीनी यात्रियों के कुछ विवरणों से यह स्पष्ट रूप से मालूम होता है कि बौद्ध-धर्म अफगानिस्तान में खूब फैला; परन्तु वहाँ की राजनैतिक दशा कुछ ऐसी रही है कि इस विषय की कोई खोज उस देश में नहीं की जा सकती।

लंका––अशोक के पुत्र या भाई महेन्द्र ने लंका में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। उस समय से यह शनैः शनैः अनेक शासकों के संरक्षण में बढ़ता रहा। अनुराधापुर तथा उसके पास का प्रदेश बौद्ध-धर्म का केन्द्र हो गया। सबसे प्रसिद्ध मठ महाविहार था जो कि आगे चलकर इस देश की एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक संस्था हो गई। बौद्ध-धर्म के इतिहास में लंका का विशेष महत्त्व है, क्योंकि यहीं पर सबसे प्राचीन स्थविरवाद सम्प्रदाय का त्रिपिटक का पाली संस्करण पाया गया है। मध्यकाल में ब्रह्मा तथा स्याम को भी लंका ने बौद्ध-धर्म का अनुयायी बना लिया।

ब्रह्मा––ब्रह्मा संभवतः उन देशों में है जहाँ कि अशोक ने अपने प्रचारकों को भेजा था। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में ही यहाँ पर दक्षिणी भारत की वर्णमाला का प्रयोग होने लगा। ब्राह्मण-धर्म का यहाँ के लोगों में प्रचार था। ब्रह्मा के विभिन्न भागों में विष्णु की अनेक मूर्तियाँ पाई गई हैं। तेरहवीं शताब्दी में लंका निवासियों ने यहाँ पर लंका के बौद्ध-धर्म का तथा पाली धर्म-ग्रन्थों का प्रचार किया।

स्याम––सम्भवतः यहाँ पर बौद्ध-धर्म ब्रह्मा से आया, परन्तु बाद को लंका के धर्म का रूप ही सर्व-सामान्य हो गया। यहाँ की राजसभाओं की अनेक प्रणालियों में भारतीय प्रभाव की स्पष्ट छाप दीख पड़ती है।

हिन्द-चीन—इस प्रायद्वीप के दक्षिण पूर्व में चम्पा तथा दक्षिण में कम्बोज इत्यादि हिन्दू राज्य थे। संस्कृत सभ्य-जनों की भाषा थी तथा भारतीय लिपि का ही प्रयोग होता था। महाकाव्य यहाँ पर बहुत ही लोक-प्रिय हो गये थे। विष्णु तथा शिव ही देश भर के निवासियों के देवता थे। परन्तु यहाँ पर थोड़ा बहुत बौद्ध-धर्म का भी प्रचार था। इस उपनिवेश में इन सब भारतीय आदर्शों के फैलाने का श्रेय दक्षिणात्यों को मिलना चाहिए। कम्बोडिया के अगंकुर्वट में नवीं शताब्दी के अन्त में एक विशाल शिव का मन्दिर बनवाया गया जो कि आज भी भारतीय संस्कृति का स्मारक है।

चम्पा ही वह सुदूरतम प्रदेश है जहाँ तक कि भारतीय पहुँच पाये थे, चम्पा के उत्तर में अनाम था जहाँ पर भारत द्वारा नहीं वरन् चीन द्वारा बौद्ध-धर्म फैला।

पूर्वी द्वीपसमूह—पूर्वी द्वीपसमूह 'हिन्द द्वीप' के नाम से पुकारा जाता है। इस नाम की सत्यता का पता तब चलता है जब कि वहाँ पर हम भारतीय संस्कृति के महत्त्वपूर्ण प्रभाव को देखते हैं। भारतीय लिपि, भारतीय शिला-लेख, भारतीय देवताओं की मूर्तियाँ तथा भारतीय संस्थाएँ एवं पुराण इन सबसे यह पता चलता है कि ये द्वीप-समूह पूर्ण रूप से भारतवर्ष के अधिकार में थे। यहाँ के देशी निवासियों ने भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता को इतना अपना लिया जैसे कि रामायण तथा महाभारत के नायक इन्हीं के देश में हुए हों। बाली द्वीप के निवासी अब भी हिन्दू हैं। वे भारतीय देवताओं की पूजा करते, जाति-प्रथा को मानते तथा हिन्दू पंचांग को मानते हैं।

जावा की कला—जावा के बोरोबूदुर के स्तूप को ठीक ही दुनिया का एक आश्चर्य कहा गया है। यद्यपि इसके निर्माण की पृष्ठभूमि में प्रेरणा भारतीय ही थी; परन्तु यह स्तूप भारतीय स्तूपों से बिलकुल ही भिन्न है। इस स्तूप में अनेक बौद्ध चित्र बने हुए हैं जो यदि पास-पास रखकर फैला दिये जायँ तो सम्भवतः तीन मील लम्बे हों। प्राभवनन में अनेक रामायण के चित्र मिलते हैं जिनमें से बहुत से तो जावा के निवासियों की कल्पनाकृतियाँ हैं। अनेक अन्य स्मारक जावा की कला-प्रणाली में ही पाये गये हैं जिससे पता चलता है कि भारतीय प्रभाव में देशी-कला बिलकुल ही लुप्त नहीं हो गई थी। ऐसा कहा

जाता है कि हिन्दू जावा-काल के धार्मिक स्मारक ही जावा निवासियों की सर्वोत्कृष्ट कलाकृतियाँ हैं जिन्हें हिन्दू प्रेरणा से उन्होंने बनाया था। ये भारतीय कला के आदर्श पल्लव-काल के हैं।

चीन—सम्राट् मिंग टी के शासनकाल में ६२ ई० में चीन में बौद्ध-धर्म मान लिया गया। चीनी तथा भारतीय दोनों ही देशों के विद्वानों ने महायान सम्प्रदाय की बौद्ध पुस्तकों का चीनी में अनुवाद करना प्रारम्भ कर दिया। अनेक चीनी यात्री भारत में आये जिनमें से प्रथम फाह्यान था। ह्वेन सांग के पर्यटन से बहुत अंश तक भारत एवं चीन में घनिष्ठता हो गई। ऐसा कहा जाता है कि ह्वेन साग के चीन लौट जाने के बाद तीस ही वर्ष में साठ और चीनी यात्री बौद्ध-धर्म सीखने तथा तीर्थस्थानों के भ्रमण के लिए भारत आये।

बौद्ध-धर्म कोरिया में ३७२ ई० में चीन द्वारा फैला जहाँ से वह जापान में प्रचलित हो गया।

तिब्बत—बौद्ध-प्रचारकों का पहला दल तिब्बत में ६४० ई० में पहुँचा। एक शताब्दी पश्चात् एक भारतीय भिक्षु पद्मसम्भव ने वहाँ एक प्रकार के बौद्ध-धर्म का प्रचार किया जो कि आगे चलकर लामा-मत में बदल गया। तिब्बत के बौद्ध-धर्म में दैविक शक्तियों के प्राप्त करने के लिए जादू-टोना तथा तान्त्रिक धर्म पर जोर दिया जाता है। यह बौद्ध मत के वज्रयान सम्प्रदाय का घर बन गया जो तान्त्रिक धर्म से बहुत कुछ मिलता है। बंगाल निवासी अतिष दी पांकर (९८०-१०५३ ई०) ने नैपाल तथा तिब्बत का परिभ्रमण किया तथा इन देशों में बौद्ध-धर्म के अध्ययन पर जोर दिया।

———

सत्रहवाँ अध्याय

भारतीय सभ्यता

(६०० से १२०० ई० तक)

अ—समाज

राजपूत—उत्तरी भारत में मुसलमानों की विजय के पहले जो राजवंश राज्य कर रहे थे, वे राजपूतों के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा उनके शासनकाल को 'राजपूत-काल' के नाम से पुकारते हैं। परन्तु उत्तरी भारत में आजकल इस शब्द का प्रयोग क्षत्रिय जाति के लिए होने लगा है, यद्यपि इसका वास्तविक अर्थ केवल 'राजा का पुत्र' है। ६०० ई० के बाद के ऐतिहासिक काल में हम देखते हैं कि हमेशा क्षत्रिय ही शासक न होते थे और प्राचीन भारत का कोई भी प्रसिद्ध राजवंश क्षत्रिय जाति का न था जिसको सिद्धान्त के अनुसार जन्मजात शासक माना जाता था। परन्तु ७०० ई० के बाद हम अनेक ऐसे राजवंश पाते हैं जो अपने को प्राचीन राम, लक्ष्मण, कृष्ण, अर्जुन इत्यादि क्षत्रिय महापुरुषों का वंशज बतलाते हैं।

राजपूतों की उत्पत्ति एक विवादग्रस्त समस्या है। योरोपीय विद्वानों का कथन है कि राजसत्ता सँभालनेवाली ये सभी जातियाँ, जो हिन्दू-धर्म की प्रणालियों को मानती थीं मिलकर राजपूत या क्षत्रिय जाति बन गईं। फलस्वरूप राजपूत अनेक जातियों के मिश्रण से बने हैं। इस समय इनके जो विभिन्न सम्प्रदाय पाये जाते हैं, वे या तो पाँचवीं तथा छठी शताब्दी में भारत में आये हुए विदेशियों की सन्तान हैं या देशीय गोंड तथा भर इत्यादि जातियों की। दूसरे शब्दों में इन विद्वानों के अनुसार राजपूत विदेशी आक्रमणकारियों की सन्तान हैं जैसे कि हूण जो कि पाँचवीं शताब्दी में भारत में आये तथा जब वे यहाँ बस गये तथा राजनैतिक शक्ति उन्होंने अपने हाथ में ले ली तो उन्हें क्षत्रियों का वंशज मान लिया गया तथा उनके लिए सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि-कुण्ड इत्यादि उत्पत्ति स्थान मानकर वंशावली गढ़ ली

गई। कुछ राजपूत जातियाँ यहाँ के आदिम निवासियों की सन्तान थीं जो क्षत्रिय मान ली गईं।

परन्तु यह विचारधारा भारतीय लेखकों को मान्य नहीं है, क्योंकि वे राजपूतों को प्राचीनकाल के क्षत्रिय शासकों का वंशज मानते हैं। वह वंश-परंपरा अब भी चली आती है और आज के राजपूत अब भी प्राचीन क्षत्रियों की अनेक पद्धतियों का अनुसरण करते हैं जिससे ज्ञात होता है कि वे उन्हीं के वंशज हैं। परन्तु फिर भी कोई बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती। भारत में जातियों का मिश्रण बहुत हुआ है, अतः यह कह सकना कठिन है कि कौन से राजपूत विदेशियों के वंशज हैं।

जाति--इस समय तक जाति-प्रथा काफी संगठित हो चुकी थी। केवल राजवंशों को छोड़कर अन्तर्जातीय विवाह बहुत ही कम मिलते हैं। कभी-कभी राजा लोग कुछ लोगों को जाति से ऊपर उठा देते या च्युत कर देते थे पर ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। जाति संगठन में इस प्रकार के राजकीय हस्तक्षेप बंगाल के बल्लाल सेन के शासन-काल में मिलते हैं जो कि ऊँची जातियों के लोगों को कुलीन धर्म पर चलने की आज्ञा देता था। इसके द्वारा वह कुछ लोगों को विशेषता प्रदान करता था जिनमें कि कुछ न कुछ वास्तविक या कल्पित गुण होते थे। भारत के अन्य सामाजिक विभाजनों की भाँति कुलीनता भी वंश-परम्परा की चीज हो गई और अब यह बंगाल की सभी ऊँची जातियों में प्रचलित है।

बढ़ती हुई रूढ़िवादिता--मध्यकालीन योरप की भाँति भारतीय समाज में भी एक बढ़ती हुई रूढ़िवादिता लक्षित होती है। गत्यात्मक सामाजिक गतिशीलता का अभाव दिखाई देता है अतः प्राचीन काल की रूढ़िगत पद्धतियों का ही हम प्रचलन पाते हैं। इस काल में बनाई हुई स्मृतियों में उसी नवीनता का हम अभाव पाते हैं जो प्राचीन स्मृतियों में थी। अतः हम केवल उन्हें प्राचीन परिपाटियों को दुहराते या नकल करते हुए पाते हैं। इस काल के स्मृतिकारों के दो ही प्रतिपाद्य विषय हैं--प्रथम तो ब्राह्मण के जटिल नैत्यिक कर्म तथा दूसरा पापों का प्रायश्चित्त। अतः यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि मनु की कट्टरता अब तक सारे भारतवर्ष में फैल चुकी थी। बालिकाओं

के अल्पायु में विवाह जिनको कि मनु ने आदर्श माना था, अब भी आदर्श माने जाते थे। यद्यपि कुछ काव्य-पटु स्त्रियों के उल्लेख मिलते हैं, परन्तु इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि समाज में स्त्रियों का स्थान निम्न था। सती-प्रथा के भी शिलालेखों में उल्लेख मिलते हैं।

अलबरूनी--ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में उत्तरी-पश्चिमी भारत में अलबरूनी नाम का एक अरबी विद्वान् पन्द्रह वर्ष तक रहा तथा उसने यहाँ भारतीय दर्शन तथा ज्योतिष शास्त्र का अध्ययन किया। भारतीयों का जो विवरण उसने दिया है, उससे पता चलता है कि उनमें दम्भ की मात्रा आवश्यकता से अधिक बढ़ गई थी।

"हम केवल यह कह सकते हैं कि मूर्खता वह रोग है जिसकी संसार में कोई दवा नहीं है। हिन्दुओं का विश्वास है कि उनके देश जैसा कोई देश नहीं, उनके राष्ट्र जैसा कोई राष्ट्र नहीं, उनके राजाओं जैसे कहीं राजा नहीं, उनके धर्म जैसा कोई भी धर्म नहीं, उनके विज्ञान जैसा कहीं विज्ञान नहीं। वे अभिमानी, दम्भी, अहंमन्य, हठी हैं। वे अपना ज्ञान वितरण करने में कृपणता करते हैं। वे अपने ही लोगों में दूसरी जाति के सदस्यों को अपना ज्ञान नहीं देते, विदेशियों को तो और भी नहीं। उनके विश्वास के अनुसार संसार में उनको छोड़कर कोई ऐसा देश, या ऐसी जाति, या ऐसे मनुष्य नहीं हैं जिनके पास उनके बराबर ज्ञान हो। वे इतने अभिमानो हैं कि यदि आप उनसे यह कहें कि फारस या खुरासान में भी कोई विद्या है या विद्वान् है, तो वह आपको मूर्ख तथा असत्यवादी समझेंगे। यदि वे बाहर भ्रमण करें तथा विदेशों में जायँ तो उनकी यह मिथ्या धारणा मिट जायगी। उनके पूर्वज इतने संकुचित विचारों के न थे जितने कि अब वे हैं।"

निस्सन्देह इससे इस बात का पता चलता है कि भारतीयों ने नवीनता की ओर से आँख बन्द कर ली थी तथा बाहरी दुनिया के सम्पर्क में आकर अपनी सभ्यता की परीक्षा लेने की विधि को तिलांजलि दे दी थी। परन्तु जिस अतिशयोक्ति के साथ इन खराबियों का वर्णन किया गया है, वह बिलकुल ठीक नहीं, क्योंकि इस समय के ३०० वर्ष पहले ही भारत ने अनेक विदेशियों को अपने में मिला लिया था। हिन्दू-धर्म की विशाल हृदयता भी सराहनीय

थी जिसने अनेक यूनानियों एवं विदेशियों को अपने धर्म-संघ में आने की आज्ञा दे दी थी तथा उनको सभी विषयों में प्रायः हिन्दू ही माना जाता था। परन्तु इस विवरण से यह निश्चित पता चलता है कि हिन्दुओं के इस दृष्टिकोण में परिवर्तन होना प्रारम्भ हो गया था।

जैसा कि हम नीचे चलकर देखेंगे हिन्द-चीन तथा पूर्वी द्वीपसमूह में उपनिवेशों की स्थापना का कार्य ५०० ई० तक ही समाप्त हो चुका था। परन्तु ब्राह्मण समुद्र-यात्रा के पक्ष में न थे और हम कुछ स्मृतियों में इसका निश्चित निषेध पाते हैं।

ब—शासन-व्यवस्था

गुप्तकाल में हम भारतीय शासन-विधान को उन्नति के एक विशिष्ट सोपान पर पाते हैं अतः आगे आनेवाली शताब्दियों में हम बहुत कम परिवर्तन पाते हैं तथा इसी का अनुसरण करते हुए पाते हैं। सारी शासन-व्यवस्था राजा में ही केन्द्रित थी, जिसकी सहायता के लिए मन्त्री तथा पदाधिकारी रहते थे। राजा की शक्ति पर नियंत्रण रखने के लिए किसी लोक-सभा के होने का प्रमाण नहीं मिलता। मन्त्री का भी प्रभाव राजा के व्यक्तित्व पर तथा उसके मानने अथवा न मानने पर निर्भर करता था। राज्य भुक्ति, विषय, भोग तथा ग्राम आदि विभागों में बँटा रहता था जिनमें ग्राम सबसे छोटी इकाई थे। कुछ लोगों को या उनके सम्प्रदायों को राजा भूमि-दान किया करता था। ये प्रायः ब्राह्मण ही होते थे। मन्दिरों तथा मठों के लिए भी सहायता मंजूर की जाती थी।

प्रायः राज्य की सीमा पर के प्रान्त प्रान्तीय शासकों के अधिकार में दे दिये जाते थे, जो प्रायः राजा के भाई या पुत्र हुआ करते थे। कुछ समय के पश्चात् यह प्रान्तीय शासक का पद वंश-परम्परागत हो गया और शासक स्वतन्त्र हो गये।

युद्ध—पास-पड़ोस के शासकों से युद्ध करना प्रायः राजा का कर्त्तव्य माना जाता था। दो राजवंशों में प्रायः परम्परागत संघर्ष चला करता था जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना जाता था। स्मृतिकार तथा कवि एवं चारण दूसरों को परास्त कर अपना शासन बढ़ानेवाले शासक की बड़ी प्रशंसा किया करते थे।

ये युद्ध हमेशा धर्म-युद्ध न रहते थे। शहरों का जलाना तथा राजाओं को रानियों सहित बन्दी करना बहुत सामान्य हो गया था। विजय के पश्चात् प्रायः विजित राज्यों को विजयी शासक अपने राज्य में मिला लेते थे, पर प्रायः उसका तात्पर्य अधीनता स्वीकार करना था। सेना में लड़नेवाले सिपाही परम्परागत होते थे, या अस्थिर सेना के होते थे, या फिर वैतनिक होते थे।

संस्कृति प्रचारक राज्य—बहुत से शासक युद्ध की अपेक्षा ऊँचे कार्यों में अपनी शक्ति लगाते थे। इस सम्बन्ध में परमार-वंश के राजा भोज का उल्लेख किया जा सकता है जिसकी राजसभा उस युग के साहित्य का केन्द्र थी। राजा ने अपनी राजधानी में एक महाविद्यालय की स्थापना की तथा स्वयं अपने विषयों के अनेक ग्रन्थों की रचना की।

निरंकुशता की वृद्धि—कल्हण की राजतरंगिणी में हमें राज्य की आन्तरिक व्यवस्था का अच्छा चित्र मिलता है। एक ओर अनेक क्रूरता की भीषण कहानियाँ, आत्मगौरव के लिए सामन्तों का विद्रोह, रानियों तथा राजमाताओं का शासकों पर बुरा प्रभाव, स्त्रियों द्वारा पतियों की हत्या, माताओं द्वारा पुत्रों का गद्दी से उतारा जाना, दुराचार से दूषित अन्तःपुर, राजसभा एवं राजपदाधिकारियों का वर्ग है, दूसरी ओर अच्छे राजाओं का साहित्य तथा कला का संरक्षण, मन्दिरों तथा मठों का निर्माण, आवश्यकता के समय कर-मुक्ति, सिंचाई के साधनों की देख-रेख तथा अकाल-पीड़ितों की सहायता इत्यादि हैं। पर इन दोनों ही चित्रों में एक बढ़ती हुई निरंकुशता परिलक्षित होती है। यह सोचना भ्रमपूर्ण होगा कि राज्य की यह अन्तर्व्यवस्था केवल काश्मीर ही के लिए सत्य थी।

दक्षिण में स्वायत्त शासन—चोल तथा पाण्ड्य शासकों के शासन काल में दक्षिण में एक विस्तृत स्वायत्त शासन-प्रणाली का प्रयोग होना प्रारम्भ हो चुका था। ग्राम के विषयों में निर्वाचित ग्राम-सभा ही सर्वेसर्वा थी। प्रत्येक ग्राम अनेक मुहल्लों में बँटा रहता था तथा हर एक मुहल्ले को अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार होता था। निर्वाचकों तथा उम्मीदवारों दोनों के ही लिए कुछ सम्पत्ति तथा शिक्षा का होना अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त आयु में भी अधिक से अधिक तथा कम से कम की सीमा होती थी

तथा अपराधियों को निर्वाचन का अधिकार प्राप्त न था। निर्वाचित मनुष्यों के नाम टिकटों में लिखकर एक बर्तन में डाल दिये जाते थे तथा हर एक पोटली में एक मुहल्ले के निर्वाचित सदस्यों के नाम रहते थे। इस प्रकार पोटलियों की संख्या वही हो जाती थी जो कि मुहल्ले की। एक छोटे बच्चे को बुलाकर उससे कहा जाता था कि वह हर एक पोटली से एक-एक टिकट निकाले। इस प्रकार हर एक मुहल्ले से एक एक आदमी निकल आता था और उस वर्ष की ग्राम-सभा बन जाती थी। यह सभा अनेक परिषदों में बँटी होती थी जिसमें कि पाँच से लेकर दस तक सदस्य होते थे। इनमें से प्रत्येक एक एक विभाग का निरीक्षण करती थी जैसे न्याय, सिंचाई, सड़क, सिक्के तथा दान इत्यादि।

केन्द्रीय सरकार इन गाँवों के हिसाब की देख-रेख करती थी तथा कोष के गबन इत्यादि के लिए दण्ड देती थी। इसके अतिरिक्त किसी भी राजाज्ञा के जारी होने के पहले ग्राम-सभा उसमें अपनी स्वीकृति देती थी तथा राजा के लिए भेंट स्वीकृत करती थी। सारांश में दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध अच्छे थे। इस प्रकार के उन्नत संगठन तथा व्यवस्था को देखकर पता चलता है कि चोल शासकों में नागरिकता का भाव कितना ऊँचा था।

स—विद्या एव साहित्य

शिक्षा की ब्राह्मण-प्रणाली क्या थी, इस विषय में हमें बहुत कम मालूम है; क्योंकि देश भर में उनकी कोई संगठित शिक्षा-संस्था न थी। विद्यार्थी गुरु के निवासस्थान पर ही पढ़ते थे। यह प्रणाली शताब्दियों तक इसी प्रकार चलती रही।

बौद्ध मठ—परन्तु बौद्धों के अनेक बड़े-बड़े मठ थे जहाँ रहकर विद्यार्थी बौद्ध-भिक्षुओं के संरक्षण में पढ़ते थे। नालन्दा अपने ढंग की एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण संस्था थी। इसी प्रकार की अन्य संस्थाएँ बंगाल तथा बिहार में अनेक थीं जिनमें अधिकांश पाल शासकों द्वारा स्थापित की हुई थीं। ये निम्न स्थानों पर थीं—सोमपुरी (पहाड़पुर, बंगाल) ओदन्तपुरी (पटना जिला) विक्रमशील (पूर्वी बिहार) ......विक्रमपुर (सम्भवत: पूर्वी बंगाल में) तथा जगद्दाल (उत्तरी बंगाल में)। अध्ययन के विषय

प्रायः तर्क एवं बौद्ध अध्यात्मविद्या रहते थे। इन संस्थाओं के कुछ स्नातकों ने बड़ी प्रसिद्धि पाई तथा तिब्बत एवं चीन के साथ भारत का सम्बन्ध बनाये रखने में बड़ी सहायता दी।

धार्मिक साहित्य--इन्हीं मठों में ही महायान का अधिकांश साहित्य रचा गया जिसका अधिकांश भाग तिब्बत तथा चीन की भाषाओं में अनुवादित हुआ। जो ब्राह्मणों का साहित्य इस काल में बना, उसमें अधिकांश स्मृतियाँ (नारद, बृहस्पति, शंख इत्यादि लिखित) तथा पुराण जिनमें से कुछ तो पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी में रचे गये परन्तु उनमें से महत्त्व-पूर्ण पुराण दसवीं शताब्दी तक ही लिखे जा चुके थे। इसके अतिरिक्त विभिन्न सम्प्रदायों के साम्प्रदायिक साहित्य की भी इसी समय रचना हुई। इसके अतिरिक्त कुछ दार्शनिक साहित्य भी रचा गया जिसमें सबसे महत्त्वपूर्ण शंकराचार्य के वैदिक भाष्य थे, जिनमें उन्होंने अपनी दार्शनिक प्रणाली का ही प्रतिपादन किया है।

पश्चिमी भारत में जैनों ने भी ऐसे ही साहित्य की रचना की। इनमें से हेमचन्द्र ने (१०८९-११७२ ई०) बहुत से ग्रन्थों की रचना की है जिनमें साम्प्रदायिक ग्रन्थों के अतिरिक्त साहित्य शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ एवं कोष भी हैं। इतिहास के दृष्टिकोण से उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक स्थाविरावली-चरित या परिशिष्ट पर्वण है जिसमें जैन-धर्म के महापुरुषों के जीवन-चरित तथा साथ ही कुछ राजनैतिक इतिहास भी दिया हुआ है।

इन छः शताब्दियों में जो लौकिक साहित्य रचा गया उसका पूरा-पूरा वर्णन करना असम्भव है। कुछ प्रसिद्ध ग्रंथों का ही यहाँ उल्लेख किया जा सकता है।

साहित्य--इस समय का प्रायः प्रत्येक कवि या नाटककार किसी न किसी राजसभा से सम्बन्धित था। गद्य के क्षेत्र में हर्ष के समकालीन वाण का प्रमुख स्थान है जिसने हर्षचरित एवं कादम्बरी की रचना की है। इस काल के दूसरे महत्त्वपूर्ण गद्यलेखक वासवदत्ता के रचयिता सुबन्धु तथा दशकुमार चरित के प्रणेता दण्डिन् हैं। सम्राट् हर्ष को भी तीन नाटकों का रचयिता माना जाता है। संस्कृत का प्रसिद्ध नाटककार भवभूति कन्नौज के यशोवर्मन् के राज-दरबार में रहता था (आठवीं शताब्दी)। उसके तीनों ही

नाटक महावीरचरित, उत्तररामचरित तथा मालतीमाधव अपने करुण रस के लिए प्रसिद्ध हैं। भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष ने महत्त्वपूर्ण काव्यों की रचना की। अमरु तथा भर्तृहरि (७वीं शताब्दी ?) गीतकाव्य के अच्छे लेखक थे परन्तु इस क्षेत्र में बंगाल के लक्ष्मणसेन के राजकवि जयदेव (१२वीं शताब्दी) का स्थान अद्वितीय है। गीतगोविन्द के रमणीक गीतों का विषय कृष्ण तथा वृन्दावन की गोपियों का प्रेम-सम्बन्ध है।

कथाएँ—कथा-साहित्य में ईसा की प्रथम शताब्दी में रचे हुए पंचतन्त्र के आधार पर रची हुई कुछ पुस्तकों का उल्लेख किया जा सकता है। काश्मीर के सोमदेव का कथासरित्सागर (११वीं शताब्दी) कथाओं का अमूल्य भाण्डार है जिसमें कि कभी-कभी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी दिखाई देती है।

ऐतिहासिक ग्रन्थ—संस्कृत का सबसे उत्तम ऐतिहासिक ग्रन्थ कल्हण की राजतरंगिणी है जिसका पहले भी उल्लेख किया जा चुका है। विल्हण ने पूर्वी चालुक्य वंश के विक्रमादित्य षष्ठम का जीवन-चरित लिखा। एक दूसरा ग्रन्थ सांध्यकारनन्दित् का रामचरित है जिसमें पालवंश का इतिहास रामपाल के समय तक दिया हुआ है।

विशिष्ट साहित्य—साहित्य शास्त्र, पिंगल तथा व्याकरण पर अनेक ग्रन्थों की रचना इस काल में हुई। वैज्ञानिक साहित्य की भी कमी न थी। भारत का सबसे प्रसिद्ध ज्योतिष का ज्ञाता सिद्धान्त-शिरोमणि का लेखक एक दाक्षिणात्य भास्कराचार्य था जो बारहवीं शताब्दी में हुआ।

यद्यपि इस काल में अनेक स्मृतियों की रचना हुई पर उनमें से प्रायः सभी ने पुरानी स्मृतियों के आधार पर ही विवेचन किया है। इनसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण मेधातिथि की मधुस्मृति की टीका एवं विज्ञानेश्वर की याज्ञवल्क्य स्मृति पर टीका है।

प्राकृत—पहले समय की लोकप्रिय भाषा की अनेक शाखाएँ हो गई तथा उन पर अलग-अलग व्याकरण भी बन गये। साहित्यिक प्राकृत में अच्छे साहित्य का अभाव न था। प्राकृति का प्रसिद्ध लेखक राजशेखर (नवीं शताब्दी) था जिसकी अनेक पुस्तकों में से कर्पूरमंजरी सबसे प्रसिद्ध है।

अपभ्रंश भाषाएँ—यह असम्भव है कि इतने बड़े देश में एक ही लोक-

प्रिय भाषा बहुत दिनों तक बिना परिवर्तन के बनी रहे। प्रत्येक प्रांत में अपनी-अपनी एक अलग ही भाषा का निर्माण हो रहा था, जो आगे चलकर अपभ्रंश के नाम से पुकारी गई। इन्हीं अपभ्रंशों से आगे चलकर उत्तरी भारत की हिन्दी, बंगाली, मराठी इत्यादि आधुनिक भाषाओं की उत्पत्ति हुई। ऐसा माना जा सकता है कि बारहवीं शताब्दी से इन अर्वाचीन भाषाओं ने अपना एक विशिष्ट रूप ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया था। हिन्दी में चन्दवरदाई का पृथ्वीराजरासो, बंगाली में चर्यस् एवं बौद्धगीत एवं मराठी में ज्ञानेश्वर का गीता का भाष्य उत्तरी भारत की अर्वाचीन भाषाओं में प्राचीनतम साहित्य है।

द—शिल्प और कला

शिल्प-प्रणालियाँ—मध्यकालीन भारत के शिल्प का दो शीर्षकों में उल्लेख किया जाता है। प्रथम तो भारतीय आर्यों की शिल्प-प्रणाली तथा द्वितीय द्राविड़-प्रणाली। प्रथम प्रणाली प्रायः समस्त उत्तरी भारत में पाई जाती है तथा स्थानीय अवान्तरों के होते हुए भी उनमें एक साम्य-सा मिलता है। भारतीय आर्य-प्रणाली के मन्दिर में मूर्ति के प्रकोष्ठ का ऊपरी भाग गुम्बद के आकार का होता है जिसके सामने खुला हुआ या ढका हुआ प्रांगण होता है जहाँ भक्तगण एकत्र होते हैं तथा मूर्ति प्रकोष्ठ के चारों ओर परिक्रमा के लिए मार्ग होता है एवं ऊपर शिखर होता है। शिखर-निर्माण का आरम्भ गुप्त-काल से हुआ। यह प्रथा कहाँ से आई, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह निस्सन्देह है कि इस शिखर से मन्दिर का गौरव एवं महिमा प्रभावोत्पादक हो जाती है। शिखर का ऊपरी भाग वर्तुलाकार एवं चारों ओर से कटे हुए पत्थर से ढका रहता है। परन्तु इसके विपरीत दक्षिण भारतीय भवनों में निम्नाभिमुखी अर्द्धवर्तुलाकार विशाल मोरियाँ होती हैं जिन पर ऊँचे कोनाकार शिखर न होकर चपटे गुम्बद होते हैं। उनका आकार उत्तरी भारत के मन्दिरों की अपेक्षा अधिक धरातल के समानान्तर मालूम होता है।

प्रसिद्ध देवालय—यद्यपि समय एवं मूर्तिविध्वंसकों के हाथ अनेक मन्दिर नष्ट-भ्रष्ट हो चुके हैं, फिर भी पर्याप्त अध्ययन के लिए अनेक मन्दिर

बच ही गये हैं। पश्चिम में प्रसिद्ध सोमनाथ के मन्दिर को महमूद गजनवी ने १०२५ ई० में तोड़ डाला था, परन्तु वह कालान्तर में फिर बन गया। दूसरे प्रसिद्ध मन्दिरों में से आबू पर्वत का जैन-मन्दिर जो कि अपनी चमत्कारिक चित्रकला के कारण अद्वितीय है एवं नवीं शताब्दी के मन्दिरों का ओसिया (जोधपुर) वर्ग-विशेष उल्लेखनीय है। पूर्वी भारत में उड़ीसा में अनेक उल्लेखनीय मन्दिर हैं जैसे भुवनेश्वर का लिंगराज मन्दिर, कोनारक का सूर्य मन्दिर तथा पुरी का कम सुन्दर परन्तु प्रसिद्ध जगन्नाथ मन्दिर।

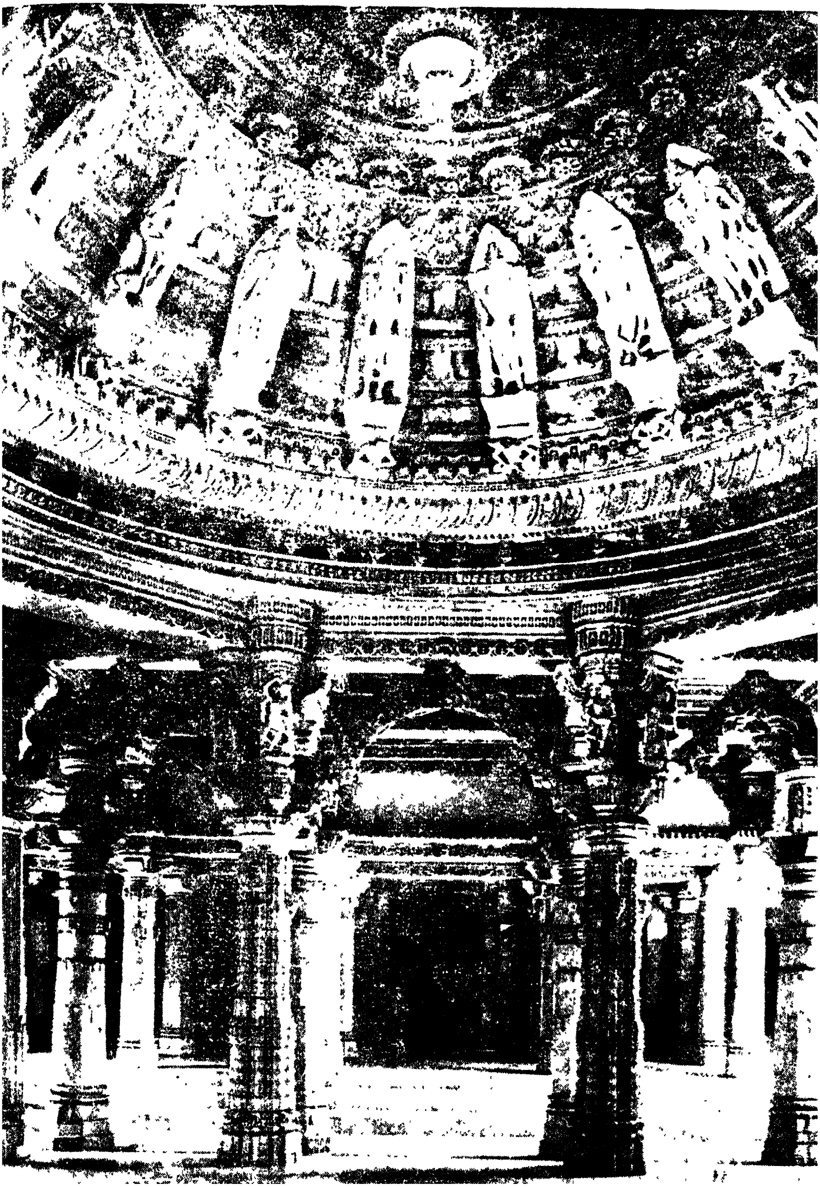
दक्षिण में द्राविड़-प्रणाली के प्राचीनतम मन्दिर पल्लव शासकों के बनवाये हुए हैं। इनमें से सबसे प्रसिद्ध मामल्लपुरम् में नरसिंहवर्मन् के बनवाये हुए हैं जो कि सप्त शिवालय के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त कांची में अनेक मन्दिर पाये गये हैं जिनमें से कैलाशनाथ का मन्दिर विशेष प्रसिद्ध है। हैदराबाद में वादामि एवं एहोल के मन्दिर चालुक्य काल के हैं। इलौरा का चट्टानों से काटकर बनाया हुआ विशाल कैलाश मन्दिर भारत की शिल्प-कला का अद्भुत प्रमाण माना गया है जो विश्व की आश्चर्यजनक चीजों में से एक है तथा जो एक ऐसी अद्वितीय वस्तु है जिसके लिए कोई भी देश गर्व कर सकता है और जिस राजा की अध्यक्षता में वह बना, वह उसके लिए बड़े गौरव की बात है।

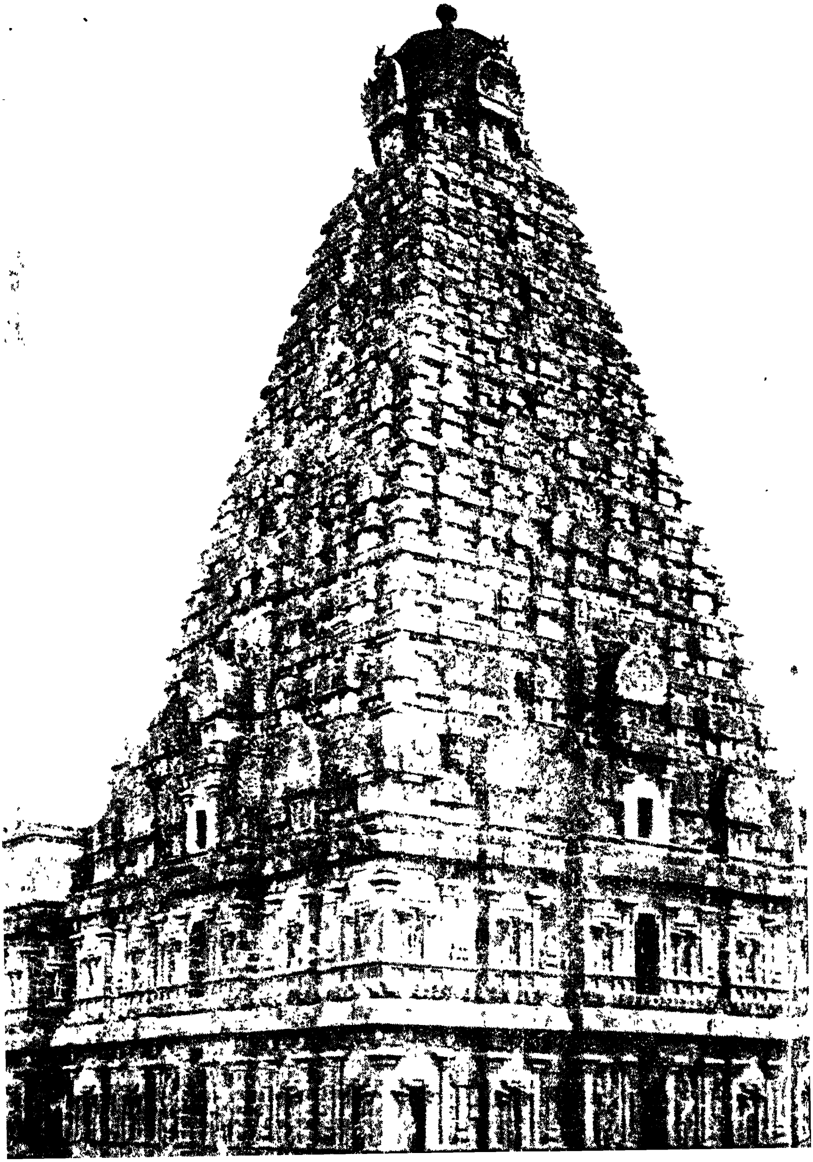
चोल शासक मन्दिर बनवाने में पीछे न थे। राजराज एवं राजेन्द्र प्रथम के बनवाये हुए तंजौर के मन्दिर अपनी अद्वितीय विशालता के लिए प्रसिद्ध हैं।

पाण्ड्य, कदम्ब, होयसल तथा यादव प्रत्येक राजवंश ने अपनी राज्यसीमा के अन्दर अनेक मन्दिर बनवाये।

मूर्तिकला—प्रायः ऐसा कहा जाता है कि गुप्तकाल के पश्चात् भारतीय कला का ह्रास हो गया। परन्तु यह कथन पूर्णतः सत्य नहीं है, क्योंकि इसमें हम उस मध्यकालीन कला के प्रति न्याय का अभाव मिलता है जिसमें वैचित्र्य के साथ सूक्ष्म प्रदर्शन एवं विशिष्ट सौन्दर्य मिलता है। हाँ, अब कलाकार बहुत कुछ रूढ़िवादी हो चला था। शिल्पशास्त्र के नियमों का उसने अक्षरशः पालन करना प्रारम्भ कर दिया था। अतः वह अपनी कला

आबू पर्वत पर स्थित जैन-मन्दिर का भीतरी दृश्य





के विषय में अथवा मूर्तियों के चित्रण में एक विशेष नवीनता न दिखा सकता था। परन्तु उसकी कलापटुता, मुख की सुन्दर आकृति, शरीर के सौष्ठव में थी। परन्तु इसके साथ ही मूर्तियों में एक विशिष्ट गौरव था जिसके बिना मूर्तियाँ केवल एक खिलवाड़ प्रतीत होती हैं।

पहले की भाँति अब भी कला का अभिप्राय धार्मिक था। प्रायः देवी देवताओं अथवा पुराणों के दृश्यों की ही मूर्तियाँ पाई जाती हैं। पाल शासकों की अध्यक्षता में पूर्वी भारत में एक विशिष्ट कला का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें कलाकार बौद्ध तथा ब्राह्मण दोनों ही धर्मों की मूर्तियाँ बनाते थे। यहाँ तथा दक्षिणी भारत दोनों ही जगह पर पीतल एवं ताँबे की अनेक मूर्तियाँ पाई गई हैं।

य—धर्म

इस काल के भारत के सांस्कृतिक इतिहास में धर्म के क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इस काल में बौद्ध-धर्म का ह्रास तथा प्रायः लोप हो गया, जैन धर्म की भी कमी हुई तथा एक नवीन ब्राह्मण धर्म का उत्थान हुआ।

बौद्ध-धर्म—यह पहले ही कहा जा चुका है कि गुप्तकाल से ही बौद्ध-धर्म का पतन प्रारम्भ हो गया था। दक्षिण में जैन तथा ब्राह्मण-धर्म प्रमुख हो चुके थे तथा बौद्ध-धर्म के पैर उखड़ चुके थे। केवल उत्तर में पाल शासकों की अध्यक्षता में यह बंगाल तथा बिहार में पल रहा था। कभी-कभी दूसरे शासकों का भी संरक्षण इसे प्राप्त हो जाता है, जैसे कन्नौज के गढ़वाल वंश के शासक गोविन्दचन्द्र की रानी ने सारनाथ में एक मठ बनवाया।

यह मानना असंगत न होगा कि इस समय तक महायान सम्प्रदाय हीन-यान सम्प्रदाय पर विजयी हो चुका था। पूर्वी भारत में यह तन्त्रवाद के सिद्धान्तों से बहुत अंश में मिलता था जिसका बौद्ध-भिक्षुओं पर बुरा प्रभाव पड़ा। बौद्धों के संघारामों तथा बिहारों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। अब केवल इन्हीं मठों में बौद्ध-धर्म केन्द्रीभूत होकर रह गया था। कुमारिल भट्ट तथा शंकराचार्य के उपदेशों के कारण इस धर्म की लोकप्रियता और भी हट गई। अन्तिम आघात बारहवीं शताब्दी के मुस्लिम आक्रमणों द्वारा पड़ा, जिन्होंने बौद्ध मठों को इस धारणा से नष्ट-भ्रष्ट कर दिया कि वह

ब्राह्मण-धर्म के केन्द्रों का विनाश कर रहे हैं। इसके बाद भारत से बौद्ध-धर्म का प्रायः लोप हो गया।

जीवित बौद्ध-धर्म—पूर्व के बौद्ध निकाले नहीं गये वरन् हिन्दुओं में ही मिल गये। बंगाल तथा उड़ीसा की नीची जातियों की कुछ प्रथाएँ पूर्वी भारत के प्राचीन बौद्ध-धर्म से मिलती-जुलती हैं। पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी में बौद्ध-धर्म के कुछ हस्तलिपि ग्रन्थों की नकल की गई। अठारहवीं शताब्दी में बनाये गये बुद्धचरित में बुद्ध को विष्णु का एक अवतार माना गया है।

जैन-धर्म—पश्चिमी चालुक्यों के शासन-काल में दक्षिण में जैन मत का जोर था क्योंकि वे जैन-धर्म के संरक्षक थे। परन्तु कलचुरि, विज्जाल (११५६ ई०) के शासन-काल में लिंगायत सम्प्रदाय के उत्कर्ष से इसको क्षति पहुँची; क्योंकि इन्होंने नियमित रूप से जैनों को सताना प्रारम्भ कर दिया। धुर दक्षिण में चोल तथा पाण्ड्य शासकों ने भी इसे अपने यहाँ स्थान न दिया तथा उनके शासन-काल में उन पर किये गये अनेक अत्याचारों के उदाहरण मिलते हैं।

अब भी भारतवर्ष में लगभग चौदह लाख जैन मतावलम्बी पाये जाते हैं। सामाजिक संगठन तथा धार्मिक प्रथाओं की दृष्टि से यह केवल हिन्दू-धर्म के अनेक सम्प्रदायों में हो गया है।

ब्राह्मण-धर्म कुमारिलभट्ट—मध्यकालीन ब्राह्मण-धर्म का उत्कर्ष सातवीं तथा आठवीं शताब्दी के दो महान् ब्राह्मण उपदेशकों से सम्बन्धित है; ये हैं कुमारिलभट्ट तथा शंकराचार्य। कुमारिलभट्ट पूर्व मीमांसा के विद्वान् थे अतः उन्हें वैदिक प्रणालियों के प्रभाव पर विश्वास था। ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने बौद्धों को उन्हीं के तर्कों के द्वारा परास्त करने के लिए बौद्ध-धर्म का अध्ययन किया तथा उन्हें वाद-विवाद में हराया। एक किंवदन्ती के अनुसार उन्होंने राजा सुधन्वन् को बौद्धों को दबाने के लिए प्रेरित किया।

शंकराचार्य—शंकराचार्य दक्षिण भारत के एक ब्राह्मण थे, जिन्होंने ३२ वर्ष की अवस्था के अन्दर ही विद्याभ्यास कर अनेक वैदिक ग्रन्थों की टीका की तथा सारे भारत में पर्यटन कर समस्त बौद्धों को विवाद में हराया। उन्होंने

दर्शन में अद्वैतावाद का प्रतिपादन किया जिसके अनुसार आत्मा तथा परमात्मा में कोई भेद नहीं तथा सम्पूर्ण जगत् की विचित्रता केवल माया की प्रतीति मात्र है जो कि सच्चा ज्ञान होते ही लुप्त हो जाती है। उन्होंने अपने सिद्धान्तों को उपनिषदों का आधार दिया है जिसका उन्होंने अपने दार्शनिक मत के अनुरूप ही अर्थ लगाया है। कुमारिल तथा शंकराचार्य के इन कार्यों के कारण ही पूर्वी भारत को छोड़कर बौद्ध-धर्म का प्रायः समस्त भारत से लोप हो गया।

एक विशिष्ट प्रगति—गुप्त काल से ही धर्म में एक विशिष्ट प्रगति परिलक्षित होती है जो प्रारम्भिक मध्य-युग में और भी स्पष्टता धारण कर लेती है। अव लोगों ने अन्य देवताओं की अपेक्षा विष्णु तथा शिव में से एक को इष्टदेव मानना प्रारम्भ किया था तथा साथ ही अपने उस इष्टदेव को परमात्मा से अभिन्न मान लिया था। अन्य सभी देवता लोक-प्रियता के क्षेत्र से हट चुके थे। केवल ये ही दोनों देवता अपने कुटुम्ब के साथ जनता की कल्पना के विषय थे। इन भक्तों ने अपने को दो प्रतिद्वन्द्वी वर्गों में बाँट लिया तथा अपनी एक दार्शनिक प्रणाली भी ढूँढ़ निकाली। परन्तु जन-साधारण की गति इतनी एकान्तगामिनी न हो पाई थी कि वह केवल एक को ही माने और दूसरे को नहीं।

विष्णु—विष्णु तथा शिव दोनों को ही माननेवालों में इष्टदेव के प्रति भक्ति का विशेष स्थान था; परन्तु वैष्णवों में यह धारणा अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुकी थी। निस्सन्देह विष्णु के सबसे लोकप्रिय रूप कृष्ण में मानवीय गुणों के सम्यक् समावेश के कारण यह सम्भव हो सका। राधा तथा वृन्दावन की अन्य गोपियों के साथ उनके दैवी प्रेम की अनेक कहानियाँ प्रचलित हो गईं जिन्हें भक्तगण गाया करते थे।

अवतार—यह धारणा कि विष्णु भगवान् बारम्बार पृथ्वी को संकटों से बचाने के लिए अवतार धारण किया करते हैं, लोगों के हृदय में घर कर चुकी थी। रामायण के नायक राम भी अब विष्णु के अवतार माने जाने लगे। तेरहवीं शताब्दी तक राम के भक्तों ने अपना एक नया मत ही बना लिया था तथा उन्हें परमात्मा मानना शुरू कर दिया था।

विष्णु के एक दूसरे अवतार महात्मा बुद्ध हैं। यह आश्चर्य की बात है कि हिन्दुओं में वे भगवान् के अवतार मान लिये गये; पर इससे हिन्दू-धर्म की विशालता तथा अपने में मिलाने की शक्ति का पता चलता है। परन्तु साथ ही यह कह देना चाहिए कि उनको अवतार मानने से कुछ अड़चनें भी पड़ीं, क्योंकि एक स्थान पर ऐसा उल्लेख मिलता है कि विष्णु ने बुद्ध का अवतार केवल इसलिए धारण किया कि वे दुष्टों को अपने उपदेशों से सही रास्ते पर ले जायें जिससे यह पता चलता है कि महात्मा बुद्ध को ब्राह्मण-धर्म के विरुद्ध उपदेश देने के कारण पूर्णतः क्षमा नहीं किया गया था।

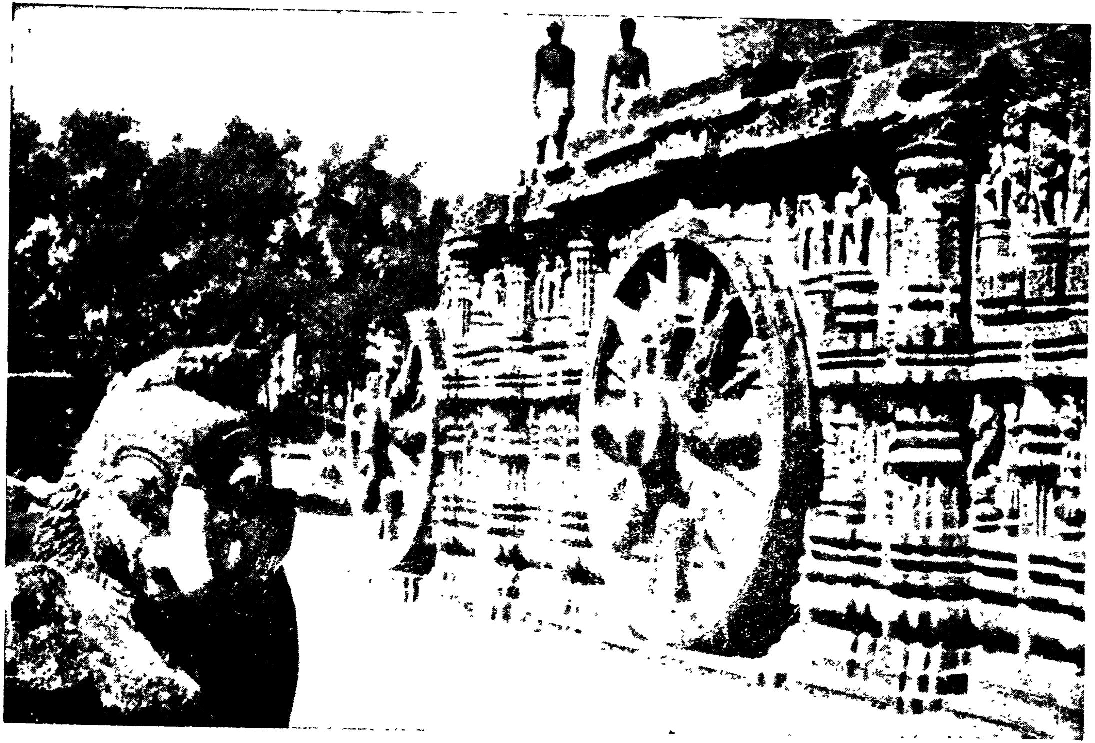
सातवीं तथा आठवीं शताब्दी में दक्षिण में अर्वर नाम के सन्त कवि विष्णु के लिए स्तुतियों की रचना किया करते थे। दसवीं शताब्दी से नाथमुनि से एक भक्त परम्परा प्रारम्भ हुई। इस परम्परा में चौथे प्रसिद्ध रामानुज (१२वीं शताब्दी) थे जिन्होंने श्री सम्प्रदाय की स्थापना की तथा विशिष्ट सीमा तक ही आत्मा तथा परमात्मा का एकत्व माना जा सकता है।

दक्षिण के दूसरे उपदेशक माधवाचार्य ने (१३वीं शताब्दी) सद्वैष्णव सम्प्रदाय की स्थापना की जो कि वेदान्त के सिद्धान्त को बिलकुल न मानता था तथा आत्मा एवं परमात्मा को बिलकुल भिन्न मानता था।

शिव—शैवों के विशेष उग्र समुदाय कापालिक, पाशुपत तथा कालमुख हैं। वे अपने इष्टदेव को खाल पहने हुए, हाथ में मुण्डमाला लिये, भूतों तथा प्रेतों से घिरे हुए, श्मशानों में घूमते हुए भीषण वेशवाला मानते थे तथा स्वयं भी इन भीषण अभ्यासों को कार्य-रूप में परिणत करने का प्रयास करते थे।

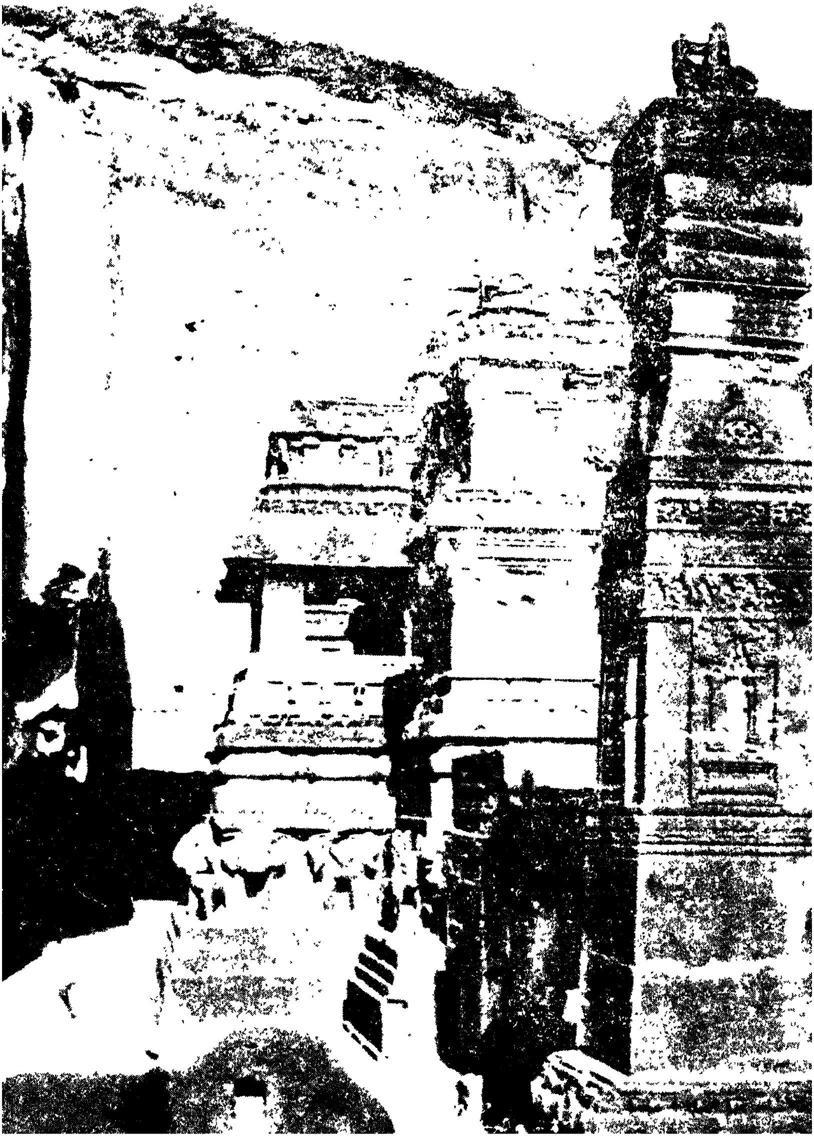
काश्मीर में शैव-सम्प्रदाय का एक बहुत ही सुन्दर तथा दैवी रूप मिला तथा उसमें ऊँचे दार्शनिक भाव का प्रकर्ष हुआ। काश्मीरी शैव-सम्प्रदाय के इतिहास में ११वीं शताब्दी के दार्शनिक अभिनव गुप्त का नाम विशेष महत्त्वपूर्ण है।

दक्षिण में शैव-सम्प्रदाय को चोल तथा पाण्ड्य शासकों का संरक्षण मिला। राजराज की राजसभा में नाम्बी-अन्वर-नाम्बी नामक एक सन्त कवि थे जिन्होंने तिरूमुराइ नामक स्तुतिसंग्रह तामिल में लिखा।



कोणार्क के सूर्य-मन्दिर का एक भाग

एलोरा का कैलाश मन्दिर



लिंगायत-सम्प्रदाय—दक्षिण में कालचुर्य विज्जाल (११५६ ई०) के शासन-काल में उसके एक मन्त्री के साले वासव की अध्यक्षता में लिंगायत सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ। ये दक्षिण में अब भी अधिक संख्या में हैं तथा शिव की लिंग-रूप में पूजा करते हैं। अन्य शैव-सम्प्रदायों से अपनी विशेषता दिखाने के लिए वे अपने को शिवचर या वीरशैव कहते हैं। वीरशैव धर्म के प्रमुख सिद्धान्त तथा अभ्यास एक विशिष्ट शब्द अष्टवर्तमन् या 'आठवीं परिस्थिति' (या धर्म सहायता तथा पाप एवं दुख से बचने के लिए) तथा 'षष्ठस्थाल' अर्थात् (मुक्ति की ६ परिस्थितियाँ) में निहित हैं। धर्म की सहायता में, लिंगपूजा, भस्मलेपन तथा गुरु की आज्ञा का पालन करना इत्यादि आते हैं। उनके कुछ ग्रन्थों में जाति प्रणाली, पाप के प्रायश्चित्त के लिए तप, तीर्थ-गमन, श्राद्ध तथा ब्राह्मण-धर्म की प्रणालियों का खंडन मिलता है। वे अपने मुर्दों को गाड़ते हैं तथा उनके पुजारी जंगम कहलाते हैं।

शक्तिवाद—शक्तिवाद या शक्ति की उपासना अपने अनेक दुर्गा, काली इत्यादि रूपों में देवी की पूजा होती है। इस देवी को प्रायः शिव की पत्नी तथा शक्ति की उत्पत्ति का आदि कारण माना जाता है। देवी के संहारक रूप को विशेष महत्त्व दिया जाता है। प्राचीन संसार के अनेक देशों में मातृ-देवियों की पूजा प्रचलित थी तथा भारत में भी यह इतनी पुरानी है जितना कि मोहनजोदड़ो।

तन्त्रवाद—एक विचित्र रहस्यवाद में विश्वास करनेवाला तंत्रवाद है। इसके अनुसार मानव-शरीर में अनेक गुप्त रहस्यमयी शक्तियाँ हैं जो एक विशिष्टि प्रणाली द्वारा जगाई जा सकती हैं। इसके अनुसार ध्वनि, अक्षर, चित्र, शब्द इत्यादि सभी में एक गुप्त शक्ति होती है तथा यह जादू, टोना, मन्त्र, तावीज इत्यादि का सांसारिक प्रयोजनों तक के लिए प्रयोग करता है। इसमें बहुत से ऐसे अभ्यास दिये हैं जो इतर मापदण्डों के अनुसार अनैति तथा विद्रोह कहे जावेंगे। बंगाल में यह बौद्ध धर्म से बहुत घुल-मिल गया।

अन्त—भारतवर्ष में और भी प्रमुख धार्मिक मत उठ खड़े हुए थे; परन्तु उन सबको उस हिन्दू-धर्म का अंग माना जा सकता है जिसने मध्य

काल में एक विशिष्ट रूप धारण किया। हिन्दू-धर्म का यह रूप चार हज़ार वर्ष के अनुभव का परिणाम था जिसमें वह विभिन्न संस्कृतियों तथा मतों के सम्पर्क में आया था तथा स्थानीय परिस्थितियों के कारण वैभिन्य को प्राप्त मतों से उसका संघर्ष हुआ था। वास्तव में यह सत्य ही कहा गया है कि हिन्दू धर्म की परिभाषा देने का प्रयास करना व्यर्थ है। यह बता सकना कठिन है कि हिन्दू-धर्म के कौन से सिद्धान्त हैं तथा कौन से सिद्धान्त उसके विरुद्ध हैं। अधिक से अधिक यह एक परिभाषा भौगोलिक आधार पर खड़ी की जा सकती है तथा इसकी केवल निषेधात्मक परिभाषा दी जा सकती है। जो कुछ भी उसके मार्ग में आया तथा जिसमें समाविष्ट होने के प्रति विद्रोह भावना न थी, वह सभी इसमें समाविष्ट हो गया। केवल वेदों को अच्छी तरह न जानते हुए भी उनमें अटूट श्रद्धा को छोड़कर विभिन्न मतों की एकता स्थापित करनेवाली कोई भी शृंखला नहीं है। यह केवल इसलिए सम्भव हो सका, क्योंकि धार्मिक या लौकिक कोई ऐसी केन्द्रीय सत्ता न थी और न कोई ऐसी धर्म-पुस्तक ही थी, जो मत वैभिन्य के अवसर पर निर्णय के लिए प्रयोग में लाई जा सके। अनेक अति संख्यक धर्म-ग्रन्थों में प्रायः सभी मतों एवं प्रणालियों का प्रतिपादन मिलता है तथा यहाँ तक कि वे नवीन धर्म-ग्रंथों के होने की सम्भावना का भी निषेध नहीं करते। इन्हीं कारणों से हिन्दू-धर्म में एक विचित्र गतिशीलता पाई जाती है। इसके अत्यधिक लचीलेपन तथा परिवर्तन के अनुकूल प्रवृत्ति होने के कारण आज भी यह धर्म पुराना नहीं हो पाया। जाने कितने युगों के प्रवाहों तथा प्रतिरोधों को पार करने के बाद आज भी यह एक नित्य बढ़ता हुआ गतिशील धर्म है, एक स्थिर बोध अथवा परिणाम नहीं।

अठारहवाँ अध्याय

अरबों द्वारा सिंध की विजय

इस्लाम का प्रचार—हिन्दुस्तान के प्रथम आक्रमणकारी तुर्क नहीं वरन् अरब थे। अपने नबी मुहम्मद साहब की मृत्यु के बाद बीस वर्ष में ही उन्होंने सीरिया, फिलिस्तीन, मिस्र एवं फारस पर अधिकार कर लिया तथा वे और भी पूर्व की ओर विजय करने का प्रयास करने लगे। भारतवर्ष जैसा धनी तथा मूर्तिपूजक देश उनकी महत्त्वाकांक्षा के क्षेत्र के बाहर न रह सका। उमर (६३४-४३ ई०) की खिलाफत के समय से ही वह हिन्दुस्तान को अधिकार में करने की फिक्र में थे और इसके लिए उन्होंने कुछ जहाजी बेड़े भी भारतीय समुद्रतट पर भेजे, पर उन्हें कोई विशेष सफलता न प्राप्त हुई।

दाहिर पर आक्रमण (७१२ ई०)—प्रथम बार उमय्यद वंश की अध्यक्षता में पूर्व में खलीफा का प्रभुत्व स्थापित करने का गम्भीर प्रयास किया गया। इराक के शासक हज्जाज की अध्यक्षता में मुसलमानों ने अनेक विजयें प्राप्त कीं तथा बुखारा, खोजन्द, समकरन्द, एवं फरगना पर अधिकार कर लिया। भारतीय समुद्री डाकुओं द्वारा अरबी जहाजों पर आक्रमण होते देखकर हज्जाज के क्रोध का ठिकाना न रहा। उसने सिन्ध के ब्राह्मण शासक दाहिर को लिखा कि वह इन समुद्री डाकुओं को दण्ड दे तथा उस स्त्री को लौटा दे जिसका कि उन्होंने अपहरण कर लिया था। दाहिर ने ऐसा करने से इनकार किया और मेकरान के कुछ विद्रोहियों को अपने यहाँ शरण दी। अतः समुद्री डाकुओं एवं सिन्ध के शासक से बदला लेने के लिए हज्जाज ने भारत पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया।

मुहम्मद बिन कासिम का आक्रमण (७१२ ई०)—हज्जाज ने आक्रमण का भार अपने भतीजे मुहम्मद बिन कासिम को सौंपा जो कि एक साहसी होनहार एवं उत्साही युवक था। वह छः हजार चुने हुए योद्धा सीरिया तथा

इराक से एवं उतने ही ऊँट-सवार लेकर और तीन हजार कन्धारी ऊँटों पर सामान लादकर, सीरिया और इराक से चल पड़ा। मुहम्मद ने सिन्ध में पहुँचकर एक के बाद एक नगरों पर अधिकार करना प्रारम्भ किया और अन्त में ७१२ ई० के वसन्त में वह देवल जा पहुँचा। दाहिर ने वीरता के साथ उसका सामना किया पर वह पराजित हुआ और मारा गया। अन्य राजपूत वीरांगनाओं की भाँति उसकी रानी ने भी पराक्रम एवं वीरता के साथ शत्रु का सामना किया परन्तु वह पराजित हुई और अपनी दो अविवाहित राजकुमारियों के साथ बन्दी हुई। देवल का किला अब अरबों के अधिकार में आ गया।

दाहिर के सम्बन्धी विजेता के सामने लाये गये तथा जो व्यवहार उसने उनके साथ किया उसका चचनामा में इस प्रकार वर्णन मिलता है :—

"मुहम्मद ने नबी के कानून के अनुसार सारी प्रजा पर कर लगाया। जिन्होंने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया वे दासता, भेंट एवं कर इत्यादि से बच गये। जिन्होंने अपना धर्म नहीं बदला उनसे तीन प्रकार के कर लिये जाते थे। पहली श्रेणी में बड़े आदमी आते थे इनमें से प्रत्येक को ४८ दिरहम तौल भर चाँदी देनी पड़ती थी। मध्य श्रेणी के लोगों को २४ तथा निम्न श्रेणी के लोगों को १२ दिरहम भर चाँदी देनी पड़ती थी। ऐसी आज्ञा थी कि जो भी इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेगा वह तुरन्त इस कर से मुक्त कर दिया जायगा परन्तु जो अपने प्राचीन धर्म पर टिके रहेंगे उन्हें भेंट तथा कर दोनों ही देने पड़ेंगे।"

मुहम्मद फिर ब्राह्मनाबाद की ओर बढ़ा। वहाँ के नागरिकों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। यहाँ पर विजेताओं ने कुछ उदारता दिखलाई तथा मुहम्मद ने हज्जाज की निम्नलिखित आज्ञा का पालन किया :—

"क्योंकि उन्होंने अधीनता स्वीकार कर ली है और खलीफा को कर देना स्वीकार कर लिया है अतः उनसे और कुछ जबर्दस्ती लेना उचित न होगा। उन्होंने हमारा संरक्षण स्वीकार कर लिया है इसलिए उनकी हत्या करना तथा उनकी सम्पत्ति लेना अनुचित है। उनको अपने देवताओं की पूजा करने की अनुमति है। किसी भी मनुष्य को अपने धर्म के पालन करने से रोका न जाय। वे जिस तरह चाहें अपने घरों में रह सकते हैं।"

ब्राह्मणों के साथ भी काफी सहनशीलता दिखाई गई। उनको अपने मन्दिर बनवाने की, मुसलमानों से व्यापार करने की, निर्भय रहने की तथा अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। यहूदियों, ईसाइयों, इराक तथा शाम के अग्निपूजकों की तरह उनकी भी स्थिति थी। कर लेनेवाले पदाधिकारियों को इस बात की आज्ञा थी कि वे लोगों के साथ ईमानदारी तथा सच्चाई का बर्ताव करें तथा उनसे उनकी आर्थिक स्थिति के अनुकूल ही कर लें। सबको धार्मिक स्वतन्त्रता थी तथा ब्राह्मणों को अपने धर्म के पालन करने की आज्ञा थी। इसके बाद मुहम्मद ने मुलतान की विजय की, जहाँ पर जाटों एवं मेड़ों ने, जो कि भारतीय शासन-व्यवस्था में आतंकित थे, उसका स्वागत किया तथा उसकी अधीनता स्वीकार की। अन्य विजित देशों की भाँति यहाँ भी व्यवहार किया गया तथा जजिया कर देने पर लोगों को प्राण-भिक्षा और धार्मिक स्वतन्त्रता दे दी गई।

मुहम्मद का अपमान—इस बीच में खिलाफत में परिवर्तन हुआ। नया खलीफा सुलेमान हज्जाज एवं उसके नियुक्त किये हुए अधिकारियों के विरुद्ध था। अतः मुहम्मद बिन कासिम तुरन्त ही भारत से बुला लिया गया और खलीफा के क्रोध का निशाना बना। वह बैल की कच्ची खाल में सिल दिया गया। मीर मासूम लिखता है कि 'तीन दिन पश्चात् उसका जीवन-पक्षी उसका शरीर छोड़कर आकाश में उड़ गया।' इस प्रकार से उस युवक सेनापति का करुण अन्त हुआ जिसने कि अपने पौरुष से इस्लाम धर्म को सुदूर देश में स्थापित करने की चेष्टा की थी।

सिन्ध में अरबों का शासन—तीन शताब्दियों के बाद भारत में आनेवाले तुर्कों की अपेक्षा अरब का शासन अधिक दयालु था। देश का आन्तरिक शासन देशीय निवासियों द्वारा स्वयं होता था, केवल सैनिक सेवा की शर्त पर लोगों को इक्ता (भूमि) मिले हुए थे तथा उन्हें सादकी (भेंट) छोड़कर कोई कर न देना पड़ता था। कुछ सैनिकों को जमीन मिली हुई थी तथा कुछ को वेतन दिया जाता था। कुरान की शरियत के अनुसार लड़ाई में प्राप्त हुई चीजों का ४/५ भाग सैनिकों में बाँट दिया जाता था तथा १/५ भाग दान इत्यादि अच्छे कामों के लिए खलीफा के पास भेज दिया जाता था। मसजिद

के मुल्लाओं एवं आलिमों को धार्मिक दान दिये जाते थे तथा जमीन वाक्फ में दी जाती थी।

आमदनी के खास साधन भूमि-कर तथा जजिया थे। इसके अतिरिक्त दूसरे भी कर थे जो कि सबसे अधिक बोली बोलनेवाले को सौंप दिये जाते थे। इस प्रथा के कारण प्रजा को बड़ा कष्ट था। जो लोग इस्लाम धर्म स्वीकार न करते थे उनसे कठोरता के साथ जजिया वसूल किया जाता था। स्त्रियाँ, बच्चे तथा आदमी जो कि किसी काम करने के योग्य न थे उनसे यह कर नहीं लिया जाता था। कुछ प्रतिबन्धक कानून थे जिनके अनुसार कुछ विशिष्ट जातियों के लोग घोड़ों पर न चढ़ सकते थे तथा अपने हाथ एवं पैर न ढँक सकते थे। चोरी बहुत बड़ा अपराध समझा जाता था। यदि कोई मनुष्य चोरी करता तो उसकी स्त्री तथा बच्चों को जीवित जला दिया जाता था। यहाँ के देशी निवासियों को इस बात की आज्ञा थी कि वह किसी भी आये हुए मुसलमान यात्री को तीन दिन एवं तीन रात खिलावें। न्याय का प्रबन्ध सस्ता एवं सीधा था इसलिए तुरन्त न्याय ने स्थायी एवं संगठित न्याय-प्रणाली का स्थान ले लिया। मुसलमानों और मुसलमानों के एवं हिन्दू तथा मुसलमानों के झगड़ों का न्याय काजी करता था। परन्तु हिन्दुओं को इस बात की आज्ञा थी कि वे अपने आपसी झगड़े पंचायत में तय कर लें जिन्हें कि उन्होंने अच्छी तरह संगठित कर रक्खा था। फौजदारी के कानूनों में हिन्दुओं एवं मुसलमानों की एक हैसियत थी परन्तु दीवानी के मुकदमे हिन्दू अपनी निर्णायक समितियों में कर लेते थे। लोगों में जाति-प्रथा दृढ़ थी अतः जाति के सदस्यों का जनमत इन निर्णायक समितियों पर अंकुश रखता था।

अरब विजय का अस्थायी स्वरूप—अरबों ने युद्धक्षेत्र में सिन्धियों पर विजय अवश्य प्राप्त कर ली परन्तु वह स्थायी न हो सकी। जैसा कि स्टैनली लेन पूल ने कहा है 'अरब विजय' भारत एवं इस्लाम के इतिहास में एक छोटी-सी घटना थी क्योंकि इस विजय का परिणाम कुछ न निकला। इस कथन में विशेष सत्य नहीं कि ब्राह्मणों तथा बौद्धों के आपसी झगड़ों ने विदेशियों की बड़ी सहायता की तथा बौद्धों ने जो कि ब्राह्मणों के व्यवसाय से असन्तुष्ट थे, विदेशी आक्रमणकारियों का स्वागत किया। यदि ऐसा होता तो अपनी सहन-

शीलता एवं उदारता से अरबी विजेता देश में स्थायी राज्य स्थापित करने में सफल हुए होते तथा स्थानीय साम्प्रदायिकता से उन्होंने लाभ उठाया होता। परन्तु इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि अरबी शासन भारत-भूमि में अपनी जड़ न जमा सका। सिन्धु एक मरुस्थल प्रदेश था, अतः उसकी विजय में जो धन खर्च होता उसका उससे वसूल हो सकना कठिन था। हिन्दू अब भी अपनी दार्शनिक समस्याओं में संलग्न थे अतः उन्होंने अपने देश में घुसे हुए इन बर्बर यवनों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। अरबी लोग भारत की सांस्कृतिक सम्पत्ति देखकर अवाक् रह गये तथा शीघ्र ही उन्हें यह ज्ञात हो गया कि रणक्षेत्र में जिन लोगों का उन्होंने विनाश किया है वे उनसे बढ़कर हैं। हिन्दू इतने निर्बल भी नहीं थे कि वे फौरन ही विदेशियों की अधीनता स्वीकार कर लें। उत्तरी भारत में फैले हुए राजपूत राज्य किसी भी विदेशी आक्रमणकारी का सामना कर सकते थे। इसके अतिरिक्त एक कारण और भी है जिसका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है। खलीफा आवश्यक सहायता भी नहीं भेजते थे अतः उनकी इस उदासीनता से भारत में अरबों का अधिक दिन टिकना कठिन था। जैसे ही खिलाफत की शक्तियाँ क्षीण हो गईं वैसे ही दूर के प्रदेशों ने उनका अधिकार अस्वीकार कर अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। कुछ ही वर्षों में कुछ खानदान, इमारतें और सड़क छोड़कर सिंध में अरबी विजय के कोई चिह्न न रहे।

भारत एवं अरब का आदान-प्रदान—राजनैतिक दृष्टि से इस्लाम-धर्म के इतिहास में अरबी विजय का कोई महत्त्व नहीं परन्तु उसके सांस्कृतिक प्रभाव स्थायी एवं महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए। इसके द्वारा अरब-निवासी एवं भारतीय परस्पर सम्पर्क में आये। इनमें से भारतीय अरबों की अपेक्षा कहीं अधिक सभ्य थे तथा विद्या एवं कला के क्षेत्र में उनसे बहुत आगे थे। अरबों ने हिन्दुओं की प्रतिभा तथा सांस्कृतिक गम्भीरता की प्रशंसा की तथा अनेक अरबी विद्वानों ने हिन्दू तथा बौद्ध पण्डितों की सेवा कर उनके दार्शनिक तत्त्वों के रहस्य का ज्ञान प्राप्त किया। ७७१ ई० में मंसूर की खिलाफत के समय गणित एवं ज्योतिष का एक विद्वान् दूसरे पण्डितों के साथ बगदाद पहुँचा तथा खलीफा की आज्ञा लेकर दरबारी गणितज्ञ इब्राहीम पिजरी के साथ

'बृहस्पति सिद्धान्त' का उसने अरबी में अनुवाद किया। हारून (७८६—८०३ ई०) की खिलाफत के समय बगदाद के एक मन्त्रि-वंश ने हिन्दुओं की विद्या एवं ज्ञान का संरक्षण किया। उन्होंने बगदाद में प्रसिद्ध हिन्दू विद्वानों को बुलाया तथा उनको अपने औषधालयों का प्रमुख वैद्य नियुक्त किया तथा उनसे वैद्यक, दर्शन, ज्योतिष, साहित्य एवं राजनीति पर संस्कृत पुस्तकों का अरबी में अनुवाद करने को कहा। माणिक्य नामक एक वैद्य बगदाद गया और उसने खलीफा हारून का, जो कि रोग-ग्रस्त था, इलाज किया एवं उसे ठीक कर दिया। अरबों ने हिन्दुओं से शतरंज का खेल सीखा तथा उनसे संख्या तथा गणना सीखी जो कि बाद को वहाँ से यूरोप में प्रचलित हुई। अनेक ऐसी किताबें लिखी गईं जिनमें कि दोनों संस्कृतियों का सम्मिश्रण मिलता है। अरबों की प्रशंसा में यह कहना ही होगा कि दूसरों की विदेशी संस्कृति अपनाने में उनके धार्मिक पक्षपात ने कोई हस्तक्षेप नहीं किया। यहाँ तक कि कुछ अरबी विद्वान् भारतीय भाषाओं के इतने पण्डित हो गये कि उन्होंने कुरान शरीफ का संस्कृत में अनुवाद कर डाला। अरबों ने अनेक विभिन्न विषयों का अध्ययन किया तथा अपने ज्ञान को बढ़ाया। चित्रकला, वास्तुकला, संगीत, विष-औषधि-विज्ञान, युद्धकला, धातु-शोधन-विद्या, तर्कशास्त्र एवं मंत्र-तंत्र इत्यादि अनेक विद्याएँ अरबों ने भारतीयों से सीखीं। जब मुगल नेता हलागू ने अब्बासिया-वंश का नाश किया तो भारत एवं अरब का सांस्कृतिक सम्बन्ध टूट गया। खिलाफत के नष्ट होते ही अरबों का आधिपत्य ढीला पड़ गया और सिन्ध के शासक प्रायः स्वतन्त्र हो गये। हिन्दू संस्कृति से सम्पर्क छूट जाने पर अरबी विद्वानों ने यूनानी-कला, साहित्य, दर्शन एवं विज्ञान का अध्ययन प्रारम्भ किया।

उन्नीसवाँ अध्याय

गजनवी वंश का उत्थान तथा पतन

तुर्कों का आगमन--अरबों का आक्रमण असफल रहा क्योंकि उन्होंने एक अनुर्वर रेगिस्तानी सूबे को ही प्रथम अधिकार में लाने की चेष्टा की। अतः कुछ दिनों के लिए इस्लाम-विजय स्थगित रही परन्तु दसवीं शताब्दी में बड़े उत्साह के साथ तुर्कों ने इसे पुनः प्रारम्भ किया तथा अफगानिस्तान की पहाड़ियों के उस पार से भारतवर्ष में आना प्रारम्भ किया। ७५० ई० में ओमैय्यद वंश के पश्चात् अब्बासिया वंश खिलाफत का उत्तराधिकारी हुआ और उसने डैमास्कस से हटाकर अलकूफा को राजधानी बनाया एवं अरबों तथा गैर-अरबों में अन्तर मिटा दिया। अतएव इस्लामी दुनिया से खिलाफत का नैतिक नेतृत्व का एकाधिकार हट गया तथा नवीन स्वतंत्र सत्ताओं ने इस नेतृत्व को अपने हाथ में ले लिया। अब तक अरब लोग आलसी एवं आराम-प्रिय हो चुके थे तथा जातीय अथवा वैयक्तिक स्वार्थों के सामने इस्लाम के स्वार्थों को भुला चुके थे। अब्बासिया वंश ने अरबों को उच्च पदों से वंचित रखकर उनके अवनति के इस क्रम को जारी रक्खा। जैसे जैसे केन्द्रीय शासन निर्बल होता गया वैसे ही वैसे प्रान्तीय शासक धीरे-धीरे स्वतंत्र होने लगे। जिन बर्बर तुर्कों को खिलाफत ने अपनी वैयक्तिक रक्षा के लिए नियुक्त किया था वे धीरे-धीरे इतने शक्तिशाली हो गये कि नियंत्रण के बाहर हो गये तथा उन्होंने अपने स्वामियों को अपने हाथ की कठपुतली बना लिया। मिस्र से लेकर समरकन्द तक तुर्क बहुत ही शक्तिशाली हो गये और जब समानी राज्य का उन्होंने नाश कर दिया तो उनकी अनेक छोटी-छोटी सत्ताएँ स्थापित हो गईं। इन छोटी-छोटी रियासतों के शासकों में से जो विशेष महत्त्वाकांक्षी थे वे अपनी रणकुशलता की परीक्षा एवं विजय-प्रेम के लिए भारत की ओर बढ़े। ९३३ ई० में अलप्तगीन ने गजनी पर कब्जा कर लिया जहाँ कि समानी-वंश के शासनकाल में उसका पिता प्रान्तीय शासक था। इस प्रकार उसने स्वतंत्र राजसत्ता स्थापित की।

अमीर सुबुक्तगीन—भारत पर प्रथम आक्रमण--९७६ ई० में अलप्तगीन के मरने के पश्चात् उसका गुलाम सुबुक्तगीन उसका उत्तराधिकारी हुआ। चूँकि वह होनहार मनुष्य मालूम हुआ अतः अलप्तगीन ने क्रमशः उसे एक विश्वस्त पद से दूसरे पर तथा दूसरे से तीसरे पर क्रमश बढ़ाया और अन्त में उसे अमीरुल-उमरा की उपाधि दी। सूबुक्तगीन एक प्रतिभासम्पन्न तथा महत्त्वाकांक्षी शासक था। अपने स्वामी के छोटे-से राज्य से उसे सन्तोष न हुआ अतः उसने अफगानों को एक सूत्र में बाँधा तथा लमगान एवं सीस्तान पर उनकी सहायता से अधिकार कर अपनी प्रभुता का क्षेत्र बढ़ाया। समानी राजशक्ति पर बार बार तुर्की आक्रमणों में उसे भी ९९४ ई० में अपने पुत्र महमूद के लिए खुरासान पर अधिकार करने का अवसर मिल गया।

धार्मिक गौरव प्राप्त करने के लिए सुबुक्तगीन ने मूर्तिपूजकों एवं काफिरों के देश भारतवर्ष पर आक्रमण किया। सरहिन्द से लमगान तक एवं काश्मीर से मुल्तान तक के प्रदेश पर शासन करनेवाला जयपाल ही प्रथम भारतीय राजा था जो कि उसके इन आक्रमणों को रोक सकता था परन्तु जब अफगानों ने लमगान प्रान्त की सीमा के पास आकर अपने शिविर डाल दिये तो जयपाल इस सहसा आई हुई विपत्ति को देखकर इतना घबड़ा गया कि उसने सन्धि के लिए प्रयत्न किया एवं अपने विजेता की अधीनता स्वीकार करके उसे कर देना स्वीकार किया। महमूद ने अपने पिता से कहा था कि वह सन्धि की इन शर्तों को स्वीकार न करें वरन् इस्लाम-धर्म एवं मुसलमानों के लिए युद्ध करें। परन्तु जयपाल ने भी अपना इरादा बदल दिया और सुबुक्तगीन को निम्न संदेश भेजा :—

"इस समय की तरह जब कभी कोई विपत्ति पड़ती है तब हिन्दू कितना साहस दिखाते हैं एवं कितना मृत्यु से उदासीन हो जाते हैं यह तुम देख चुके हो। इसलिए अगर तुम लूट के विचार से एवं कैदी, हाथी एवं खिराज पाने की आशा से सन्धि की शर्तों पर तैयार नहीं होते तो हमारे लिए भी इसके अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नहीं कि हम भी अपनी सम्पत्ति नष्ट करने, हाथियों की आँखें निकालने, अपने बच्चों को आग में फेंक देने तथा एक दूसरे को

तलवार एवं भालों द्वारा नष्ट कर देने का दृढ़ निश्चय कर लें ताकि तुम्हें धूल, पत्थर, मृत शरीर एवं बिखरी हुई हड्डियों के अतिरिक्त कुछ न मिल सके।"

इस पर संधि हो गई तथा जयपाल ने उसकी अधीनता स्वीकार कर उसे १० लाख दिरम, ५० हाथी तथा राज्य के कुछ शहर एवं किले भेंट-स्वरूप देना स्वीकार किया। परन्तु शीघ्र ही उसने अपना विचार बदल दिया तथा जिन दो उच्च पदाधिकारियों को सुबुक्तगीन ने शर्तों को पूरा करा लाने के लिए भेजा था, उनको उसने कैद कर लिया। जब अमीर को यह मालूम हुआ तो उसने उसकी दुष्टता एवं विश्वासघात का दण्ड देने के लिए भारत की ओर प्रस्थान किया। परन्तु जयपाल को अब पड़ोस के अजमेर, दिल्ली, कालिंजर एवं कन्नौज के शासकों की सहायता प्राप्त हो चुकी थी अतः वह एक लाख सेना लेकर उसी युद्धक्षेत्र में शत्रु का मुकाबला करने के लिए पहुँचा।

द्वितीय आक्रमण—युद्ध का परिणाम पहले से ही निश्चित था। सुबुक्तगीन ने मजहब की उन्नति के उत्साह से अपने सिपाहियों को भर रक्खा था और कह रक्खा था कि उन्हें उसके लिए जान की बाजी लगा देनी चाहिए। अतः एक भीषण लड़ाई हुई जिसमें हिन्दू परास्त हुए। सुबुक्तगीन को अतुल धनराशि लूट में मिली तथा अब उसने पहले से कहीं अधिक कर लगाया। उसकी अधीनता स्वीकार की गई और उसने अपने एक राजपदाधिकारी को पेशावर का शासन सौंप दिया। भारतवर्ष जीता न जा सका परन्तु अब मुसलमानों को उसके उपजाऊ मैदानों का मार्ग मालूम हो चुका था। बीस वर्ष तक बुद्धिमानी एवं उदारता के साथ अपनी प्रजा पर शासन कर सुबुक्तगीन अगस्त ९९७ ई० में परलोकवासी हुआ तथा अपने पुत्र महमूद के लिए एक विशाल एवं सुसंगठित राज्य छोड़ दिया।

महमूद गजनवी—उसकी प्रारम्भिक महत्त्वाकाँक्षा—सुबुक्तगीन की मृत्यु के पश्चात् गजनी के शासन की बागडोर उसके बड़े लड़के महमूद के हाथ में आई जो कि शीघ्र ही एशिया का सबसे अधिक शक्तिशाली सम्राट् हो गया और दूर दूर तक अपने पराक्रम, धन एवं न्याय के लिए प्रसिद्ध हो गया। एक जन्मजात सैनिक के गुणों के साथ ही उसमें मजहबी जोश भी इतना अधिक था कि वह धीरे-धीरे इस्लाम के नेताओं में गिना जाने लगा। वास्तव में महमूद

एक बहुत ही भयंकर एवं कट्टर मुसलमान था जिसमें शक्ति एवं धन की पिपासा बहुत ही प्रबल थी। जीवन के प्रारम्भ काल ही में उसने अपने धर्म को फैलाने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली थी तथा समय आने पर खलीफा के अधिकारों को प्राप्त करके उसका उत्साह और भी बढ़ गया। ऐसे लालची मूर्तिभंजक के लिए अनेक मतों एवं अनन्त सम्पत्ति का देश भारत उसकी राजनैतिक एवं धार्मिक महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति का बहुत ही उपयुक्त क्षेत्र सिद्ध हुआ। बारम्बार उसने हिन्दुओं के विरुद्ध जिहाद का नेतृत्व किया तथा अपनी तुर्की सेना द्वारा लूटी हुई सम्पत्ति को लौटकर अपने साथ ले गया।

महमूद का प्रथम आक्रमण—सीमान्त नगरों पर—अपने राज्य की व्यवस्था ठीक करके महमूद ने हिन्दुस्तान की तरफ अपना ध्यान आर्कषित किया और १००० ई० से १०२६ ई० के अन्दर उसने भारत पर सत्रह बार आक्रमण किया। १००० ई० के प्रथम आक्रमण के फलस्वरूप सीमान्त-प्रदेश के अनेकों किले उसके कब्जे में आ गये जिनको उसने अपने शासकों के सिपुर्द कर दिया।

भटिण्डा के राजा जयपाल पर पुनः आक्रमण—दूसरे वर्ष दस हजार चुने हुए अश्वारोही लेकर वह पुनः चल पड़ा। इस पर भटिण्डा के शाही राजा जयपाल ने अपनी सेना को इकट्ठा कर आठवें मुहर्रम ३०२ हिजरी को (२८ नवम्बर १००१ ई०) उसका सामना किया। भीषण संग्राम हुआ परन्तु हिन्दू परास्त हुए। जयपाल अपने सम्बन्धियों के साथ कैद कर लिया गया तथा लूट में बहुत सी सम्पत्ति मुसलमानों के हाथ लगी। जयपाल ने पचास हाथी तथा शान्ति एवं सुलह की शर्तों की पूर्ति के जमानत-स्वरूप अपने पुत्र एवं प्रपौत्र को देना स्वीकार किया। परन्तु फिर उसने इस अपकीर्ति की अपेक्षा मृत्यु को उत्तम समझा तथा अपने को इस अपमान से बचाने के लिए अग्नि की शरण ली।[१]

१—फरिश्ता लिखता है कि हिन्दुओं में यह प्रथा थी कि यदि कोई राजा किसी भी अपरिचित शत्रु से परास्त हो जाय तो वह शासन के योग्य नहीं समझा जाता था (ब्रिग्स १. पृष्ठ ३८) उतबी ने भी कुछ भिन्नता के साथ इसी प्रथा का उल्लेख किया है (इलियट, द्वितीय पृष्ठ २७)।

भीरा तथा अन्य नगरों पर आक्रमण—तीसरा आक्रमण झेलम के बायें किनारे पर स्थित, नमक की पेटी के नीचे भीरा नगरी पर हुआ। (१००४-५ ई०)। इसे जीतकर गजनी के राज्य में मिला लिया गया। पेशावर के पास जयपाल के पुत्र आनन्दपाल की पराजय का समाचार सुनकर मुलतान के नास्तिक शासक अबुल फतह दाऊद ने बीस हजार सोने के दिरम का प्रतिवर्ष कर देने का वचन देकर अपने लिए अभयदान माँग लिया। एक इस्लाम धर्म स्वीकार करनेवाले हिन्दू सेवकपाल को अपने भारत में विजय किये हुए देश को सौंपकर महमूद गजनी लौट गया। परन्तु उसका लौटकर जाना था कि सेवकपाल ने इस्लाम धर्म का परित्याग कर गजनी की अधीनता मानने से इनकार किया। इस पर महमूद ने उस पर आक्रमण कर उसे परास्त किया उसको विवश होकर अपने विश्वासघात के दण्डस्वरूप चार लाख दिरम देने पड़े।

आनन्दपाल के विरुद्ध—छठा आक्रमण (१००८–९ ई०) आनन्दपाल पर हुआ क्योंकि उसने मुल्तान के दाऊद को विश्वासघात की योजना में सहायता दी। मेवाड़ के वीर राणा साँगा की भाँति आनन्दपाल ने उज्जैन, कालिंजर, ग्वालियर, कन्नौज, दिल्ली तथा अजमेर के राजाओं का संघ बनाया। फिर इसके बाद शत्रु का सामना करने के लिए पंजाब की ओर बढ़ा। इन सब राजाओं को उसकी प्रार्थना को स्वीकार कर संघ में सम्मिलित होना इस बात का द्योतक है कि वे राजपूत सभ्यता के इस भावी आपत्ति से अपरिचित न थे। क्या छोटे और क्या बड़े तथा क्या धनी और क्या निर्धन सभी देश रक्षा के वीर भाव से भर गये। एक मुसलमान इतिहासकार लिखता है कि 'हिन्दू स्त्रियों ने अपने आभूषणों को बेचकर दूर दूर से रुपया भेजा कि यह मुसलमानों के साथ युद्ध करने में व्यय किया जाय। दीन स्त्रियों ने दिन दिन भर चर्खा कातकर या मजूरी करके सिपाहियों की सहायता के लिए रुपया भेजा। खोखरों ने भी हिन्दुओं का साथ दिया।

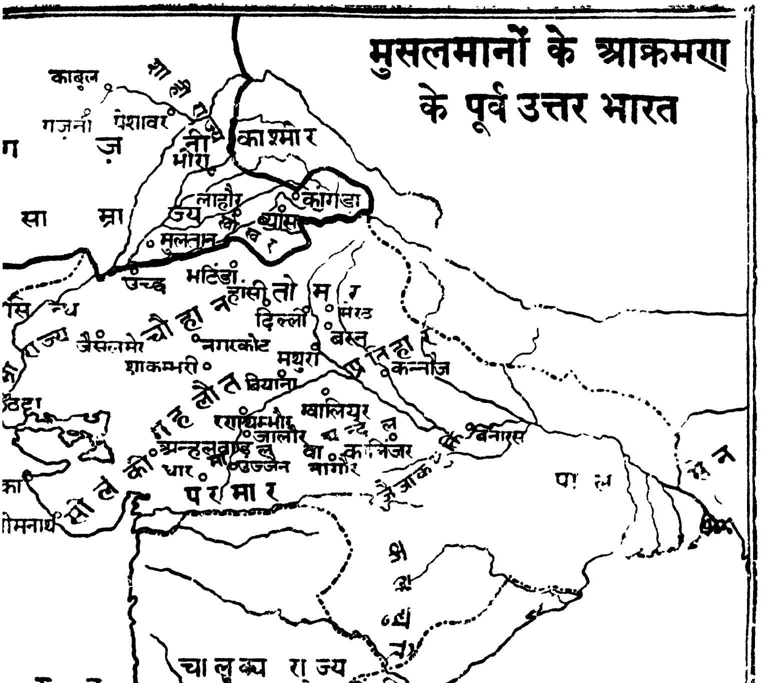
नंगे सर एवं नंगे पैरवाले खोखरों ने महमूद के तीरन्दाजों को मार भगाया तथा निर्भय होकर युद्ध-क्षेत्र के भीतर घुस गये एवं तीन या चार हजार मुसलमानों को तलवार के घाट उतार दिया। इस भीषण आक्रमण को देखकर

सुल्तान अवाक् रह गया और वह लड़ाई बन्द करने ही जा रहा था कि अचानक आनन्दपाल का हाथी रण-क्षेत्र से बिगड़कर भाग खड़ा हुआ। हिन्दू सेना में आतंक छा गया तथा गजनी की सेना ने दो दिन रात तक उसका पीछा किया। बहुतों को तलवार के घाट उतार दिया गया तथा विजयी पक्ष को लूट में अतुल सम्पत्ति हाथ लगी।

नगरकोट की विजय—१००८—९ ई०—अपनी इस विजय से उत्साहित होकर महमूद ने काँगड़ा के दुर्ग पर आक्रमण कर दिया जो कि नगरकोट या भीमनगर के नाम से भी प्रसिद्ध है। ऐसा प्रसिद्ध था कि इस दुर्ग के अन्दर हिन्दू देवताओं की सेवा में बहुत बड़ा खजाना लगा हुआ है। जब मुसलमानों ने इस दुर्ग के चारों ओर घेरा डाला तो हिन्दुओं ने डर के मारे किले के फाटक खोल दिये। इस प्रकार मुहम्मद सरलतापूर्वक विजयी हो गया तथा उसके हाथ बहुत-सी सम्पत्ति लगी। अनेक जवाहिरात को अपने साथ लेकर विजय समारोह के साथ सुल्तान गजनी लौटा। संसार के बड़े से बड़े सम्राट् के कोष में भी इतनी सम्पत्ति न थी जितना कि वह लूटकर अपने साथ लाया था।

उसकी शीघ्र उन्नति के कारण—महमूद को अपने साथ इतनी अतुल सम्पत्ति लाते हुए देखकर उसके अनुयायियों की धन-लिप्सा एवं क्रूरता और भी बढ़ गई तथा वह अब शीघ्र ही एक के बाद दूसरा आक्रमण करने लगे। संख्या में अधिक होते हुए भी हिन्दुओं के मत-वैभिन्य ने आक्रमणकारियों का कार्य और भी सरल कर दिया। देश में राष्ट्रीय सेवा का भाव भी बहुत कम मात्रा में था तथा जन-साधारण राजनैतिक क्रान्तियों के प्रति उदासीन थे। जब कभी किसी राजसंघ का निर्माण हुआ तो उसके सदस्य आपस में लड़ बैठे तथा साम्प्रदायिक अथवा जातीय अभिमान की भावना ने संघ के अनुशासन को तोड़ दिया तथा संगठन करनेवालों की योजना को निष्फल कर दिया। देश-सेवा के भाव की अपेक्षा स्वार्थ-सिद्धि की भावना प्रधान थी। परन्तु इसके विपरीत मुसलमानों में अनन्य धार्मिक उत्साह था तथा इस धर्म-युद्ध में स्वेच्छा से भर्ती होनेवाले सैनिकों की उन्हें कमी न प्रतीत हुई।

गोर की विजय के पश्चात् १०१० ई० में महमूद मुल्तान की ओर बढ़ा


मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व उत्तर भारत
काबुल
गज़नी
पेशावर
काश्मीर
लाहौर
कांगड़ा
मुलतान
व्यास
भटिंडा
हांसी
तोमर
मेरठ
दिल्ली
बरन
जैसलमेर
नगरकोट
मथुरा
कन्नौज
शाकम्भरी
बियाना
ग्वालियर
रणथम्भौर
जालौर
कालिंजर
बनारस
अन्हलवाड़
उज्जैन
धार
परमार
सोमनाथ
पाल
चालुक्य राज्य
मलखेद
वेंगी
चोल
काञ्ची
पांड्य
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी

तथा विद्रोही दाऊद को परास्त कर दण्ड दिया। तीन वर्ष के पश्चात् उसने भीमपाल पर आक्रमण कर उसके दुर्ग पर अधिकार कर लिया तथा लूट में बहुत सी सम्पत्ति उसके हाथ लगी। मुसलमानों ने राजा का पीछा किया और वह काश्मीर भाग गया। मुहम्मद ने अपना निजी शासक वहाँ नियुक्त करके काश्मीर को लूटा और अनेक मनुष्यों को इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए विवश किया। इसके बाद वह गजनी लौट गया।

थानेश्वर पर आक्रमण—परन्तु इन सभी आक्रमणों की अपेक्षा १०१४ ई० में थानेश्वर पर उसका आक्रमण अधिक महत्त्वपूर्ण था। हिन्दुओं ने जी तोड़कर मुसलमानों के विरुद्ध युद्ध किया पर वे परास्त हुए। थानेश्वर का दुर्ग शत्रुओं के हाथ में चला गया तथा पर्याप्त धन भी लूट में उन्हें मिला।

कन्नौज-विजय—काफिरों के विरुद्ध लड़ने के लिए महमूद गजनवी की सेना में अनेक मुसलमान स्वेच्छा से भर्ती हुए और इस भाँति उसकी सेना का आकार बहुत बढ़ गया। महमूद ने अब कन्नौज पर आक्रमण करने का निश्चय किया, जो कि पूर्व में हिन्दुस्तान के क्षत्रिय सम्राटों की राजधानी थी। १०१८ ई० में उसने गजनी से प्रस्थान किया तथा २ दिसम्बर १०१८ ई० में उसने जमुना को पार किया। रास्ते में जिन किलों ने उसका मार्ग रोका उन पर उसने अधिकार कर लिया। वरन् (बुलन्दशहर) के राजा ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली और एक मुसलमान इतिहासकार के अनुसार उसने दस हजार आदमियों के साथ इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लिया। इसके बाद जमुना के किनारे स्थित महावन के शासक पर महमूद गजनवी ने हमला किया। हिन्दुओं ने डटकर उसका सामना किया पर वे परास्त हुए। राजा ने अपमान से बचने के लिए आत्महत्या कर ली। बहुत बड़ी सम्पत्ति सुल्तान के हाथ लगी। अब वह हिन्दुओं के तीर्थस्थान मथुरा नगर की ओर बढ़ा जिसके लिए कि एक मुस्लिम इतिहासकार ने कहा है कि वह जनसंख्या एवं भव्य प्रासादों में अद्वितीय था और उसमें अनेक ऐसी आश्चर्यजनक वस्तुएँ थीं जिन्हें कि मनुष्य अपनी जिह्वा से वर्णन नहीं कर सकता। तुर्कों की मूर्तिखंडन-वृत्ति से उसके रक्षक उसकी रक्षा न कर सके तथा विजेता का आदेश होते ही अनेक भव्य मन्दिर भूमिसात कर दिये गये।

इसके पश्चात् महमूद कन्नौज की ओर बढ़ा और उसके दुर्ग-द्वार तक जनवरी सन् १०१९ ई० तक जा पहुँचा। परन्तु कन्नौज के प्रतिहारवंशी राजा राज्यपाल ने बिना युद्ध किये हुए ही उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। सुल्तान ने सारे नगर को लूटा, मन्दिरों को नष्ट कर दिया और अतुल सम्पत्ति को अपने अधिकार में कर बुन्देलखण्ड से होता हुआ विजयी होकर अपने देश गजनी लौट गया।

चन्देल शासक की पराजय—राज्यपाल के कायरतापूर्वक इस अधीनता को स्वीकार करने से दूसरे राजपूत शासक उससे अप्रसन्न हो गये और कालिंजर के चन्देल शासक के पुत्र विद्याधर ने राज्यपाल पर आक्रमण कर उसे युद्ध-क्षेत्र में मार डाला। अपने अधीन शासक के कत्ल का हाल सुनकर महमूद बहुत क्रुद्ध हुआ और कालिंजर से चन्देल शासक को दण्ड देने के लिए १०१९ ई० में गजनी से चल पड़ा। चन्देल शासक विशाल सेना लिये हुए उससे लड़ने को पहले ही से तैयार था परन्तु महमूद के सौभाग्य से वह डरकर युद्धस्थल से भाग खड़ा हुआ तथा अपना सारा सामान आक्रमणकारियों के हाथ में छोड़ गया। १०२१-२२ ई० में महमूद भारतवर्ष में फिर आया और ग्वालियर के शासक को अपनी अधीनता मानने के लिए विवश कर कालिंजर की ओर पुनः बढ़ा। चन्देल शासक ने सुल्तान से संधि करने का निश्चय किया। धन तथा जवाहिरात की विशाल सम्पत्ति को लेकर महमूद विजयी होकर गजनी लौट गया।

सोमनाथ पर आक्रमण—परन्तु सबसे प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण आक्रमण ४१६-१७ हिजरी (१०२५-२६ ई०) में सोमनाथ पर हुआ। इस मन्दिर की अपार सम्पत्ति के विषय में जब महमूद ने सुना तो उसने इस पर आक्रमण करने का निश्चय किया। अनेक कठिन मार्गों को तय कर अजमेर के मार्ग से होते हुए कुछ दिनों में ही महमूद सोमनाथ के फाटक तक जा पहुँचा।[१] समुद्र के किनारे बने हुए इस मन्दिर को उसने चारों ओर से घेर

१—सोमनाथ का मन्दिर, गुजरात में काठियावाड़ प्रदेश में स्थित था। पुराने मन्दिर के केवल भग्नावशेष बच गये हैं और उसके पास ही अहिल्याबाई

लिया परन्तु लहरें उसे बहा ले गईं। दूर दूर से राजपूत अपने इष्टदेव की रक्षा के लिए एकत्र हुए। जब मुसलमानों ने आक्रमण किया तो हिन्दुओं ने वीरता के साथ उन्हें पीछे हटा दिया और दूसरे दिन जब आक्रमणकारियों ने दीवाल पर चढ़ने की कोशिश की तो रक्षकों ने उन्हें बड़े साहस के साथ नीचे गिरा दिया। महमूद नैराश्य से भर गया परन्तु जब उसने दिल भरकर अल्लाह से प्रार्थना की कि वह उसकी मदद करे। उसके सैनिकों का हृदय बहुत ही प्रभावित हुआ। उन्होंने एक स्वर से इस बात की घोषणा की कि वे अन्त तक उसके साथ लड़ने एवं मरने को तैयार हैं।

अतः भीषण युद्ध हुआ जिसमें भयानक रक्तपात एवं हत्या हुई तथा पाँच हजार हिन्दू काम आये। इसके पश्चात् महमूद मन्दिर में घुसा तथा मूर्ति के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। उसने आज्ञा दी कि मूर्ति के कुछ टुकड़े गजनी ले जाये जायँ जहाँ पर उसने उनको एक विशाल मस्जिद की नींव में डलवाकर सच्चे इस्लाम धर्म के अनुयायियों को सन्तोष दिया। ऐसा कहा जाता है कि जब महमूद इस प्रकार मूर्ति तोड़ रहा था तो पुजारियों ने उससे कहा कि वह देवता की मूर्ति को यदि न तोड़े तो वे उसे मनचाही अतुल सम्पत्ति देने को तैयार हैं, तो उसने यह क्रूर उत्तर दिया कि वह संसार में मूर्ति तोड़नेवाला प्रसिद्ध होना चाहता है मूर्ति बेचनेवाला नहीं।[१] धन देने का वचन एवं दया की प्रार्थना सब व्यर्थ हुई और महमूद पर उनका कोई प्रभाव न पड़ा। उसने दूसरे प्रहार से ही पवित्र लिंग के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। महमूद के सिपाहियों ने बर्बरतापूर्वक मन्दिर को नष्ट करना एवं लूटना प्रारम्भ

का नवीन मन्दिर बना हुआ है। परन्तु भग्नावशेषों को भी देखकर उसके पुराने ऐश्वर्य की कल्पना की जा सकती है।

१—प्रोफेसर हबीब का कहना है कि ब्राह्मणों का यह धन देने का वचन एवं महमूद का उसको न मानना एक काल्पनिक कथा है। जो कि आगे चलकर गढ़ ली गई है क्योंकि मुस्लिम इतिहासकारों में इसका समर्थन नहीं मिलता। (हबीब-सुल्तान महमूद गजनवी, पृष्ठ ५३)।

कर दिया और असंख्य अमूल्य हीरों, लालों एवं मोतियों के ढेर उनके हाथ लगे।[१]

इस प्रकार अपने अनुयायियों की दृष्टि में महमूद अपने धर्म का सच्चा पालक था। अतः जहाँ भी उनको उसने जाने का आदेश दिया उन्होंने उस आदेश का बिना आनाकानी के पालन किया। सोमनाथ की रक्षा में भाग लेने के कारण दूसरा आक्रमण नेहरवाल के राजा पर हुआ। वह भाग गया और उसके प्रान्त पर आसानी से अधिकार हो गया। इसके पश्चात् उसने भट्टि राजपूतों को परास्त किया। लौटते समय रास्ते में गुजरात के शासक भीमदेव ने उसे बहुत परेशान किया और कच्छ के रण में उसकी सेना को काफी क्षति पहुँची। अतः उसने और भी पश्चिमी मार्ग का अनुसरण किया और सिन्ध के मार्ग से गजनी पहुँचा।

जाटों के विरुद्ध—महमूद का अन्तिम आक्रमण जाटों पर हुआ क्योंकि उन्होंने सोमनाथ से लौटते समय मुसलमानी सेना को परेशान किया था। जाट परास्त हुए तथा उनमें से अधिकांश तलवार के घाट उतारे गये।

महमूद का चरित्र—बहुत बड़ा विजेता होते हुए भी महमूद असभ्य था। यद्यपि वह स्वयं पढ़ा-लिखा न था फिर भी कला का आदर करता था। अपनी उदारता से उसने अपने दरबार में अनेक सिद्ध विद्वानों एवं कवियों को आश्रय दिया जिनमें से कुछ तो पूर्व साहित्य-संसार के प्रमुख नेता हैं, जैसे सर्वतोमुखी प्रतिभाशाली अलबरूनी, जो गणितज्ञ, दार्शनिक, ज्योतिषी एवं संस्कृत का अद्भुत विद्वान् था। इसके अतिरिक्त इतिहासकार उतवी, दार्शनिक फराबी एवं वैहाकी भी उसके दरबार में थे। वैहाकी को तो स्टैनली लेन पूल ने पूर्वी पैपिस कहा है। यह कविता का युग था। महमूद के दरबार में रहनेवाले, कुछ कवि तो समस्त एशिया में प्रसिद्ध थे। इनमें से गजनी का राजकवि, उन्सुरी, फर्रुखी तथा असजदी थे जिसने कि निम्न प्रसिद्ध शेर लिखा है :—

१—फरिश्ता का यह कथन कि मूर्ति पोली थी गलत मालूम होता है। अलबरूनी कहता है कि लिंग ठोस सोने का था।

"मैं शराब की चर्चा भी करता हूँ तथा उसके कारण पश्चात्ताप भी करता हूँ। सुन्दर रजत से चमकती हुई ठुड्डीवाली मूर्तियों की भी चर्चा करता हूँ। परन्तु हृदय में लिप्सा है और ओठों पर पश्चात्ताप। हे खुदा! मेरे पश्चात्ताप के लिए मुझे क्षमा कर।"

परन्तु इन सबमें संसार-प्रसिद्ध शाहनामा का लेखक फिरदौसी सबसे प्रसिद्ध था, जिसके प्रसिद्ध महाकाव्य ने महमूद को इतिहास में अमर बना दिया है। परन्तु शाहनामा के पूरा हो जाने पर महमूद ने उसे केवल ६० हजार चाँदी के दिरहम दिये हालाँकि उसने वादा किया था कि वह ६० हजार सोने के मिश्काल देगा। इस पर फिरदौसी इतना असंतुष्ट हुआ कि उसने सदा के लिए गजनी को छोड़ दिया और एक व्यंग-काव्य लिखा।[1] महमूद ने अपनी गलती स्वीकार की और प्रायश्चित्त-स्वरूप उसने ७० हजार सोने के सिक्के उसके पास भेजे। परन्तु जब ये सोने के सिक्के पहुँचे उस समय उसका जानाजा कब्र में दफनाये जाने के लिए ले जाया जा रहा था।

महमूद न्याय करने में बहुत ही कठोर एवं दृढ़ विचार का था वह अपनी

१—अपने 'फारस के साहित्य के इतिहास' में ब्राउन ने फिरदौसी के 'व्यंग्य काव्य' का इस प्रकार अनुवाद किया है :—

'इस शाहनामा को पूरा करने में कई वर्ष मैंने परिश्रम किया। आशा थी कि बादशाह मुझे उचित पुरस्कार देगा। परन्तु उसके झूठे वादों से निराशा एवं दुःख के अतिरिक्त हृदय को मिला क्या? यदि बादशाह के पिता की ख्याति एवं प्रतिष्ठा इतनी ही होती तो उसने अपना मुकुट मुझे दे दिया होता। यदि इसकी माँ एक अभिजात वंश की महिला होती, तो मैं घुटनों तक स्वर्ण तथा रजत से लद जाता। परन्तु चूंकि जन्मतः यह युवराज न होकर केवल असभ्य, जंगली है, अतः वह इस बड़प्पन की प्रशंसा को सहन न कर सका।

फिरदौसी खुरासान के तूस नामक नगर में ९५० ई० में उत्पन्न हुआ तथा १०२० ई० में मर गया। महमूद ने उसे बहुत सा पारितोषिक देने का वचन दिया था; परन्तु महमूद के एक कृपापात्र दरबारी अयाज ने, जो कि फिरदौसी से जलता था, कूटनीति का प्रयोग कर उसे पारितोषिक न पाने दिया।

प्रजा की तथा उसकी सम्पत्ति की रक्षा के लिए हमेशा तैयार रहता था। इस बात के दुहराने की आवश्यकता नहीं तथा इसे गलत भी साबित नहीं किया जा सकता कि वह लालची था। महमूद धन बहुत चाहता था तथा उसे खर्च भी खूब करता था। विद्या की उन्नति के लिए उसने गजनी में एक विश्व-विद्यालय, एक पुस्तकालय तथा एक अजायबघर खोला जिसमें उसने विजित देश से लाई हुई लड़ाई की ढालें रक्खीं। यह उसकी उदारता का ही फल था कि गजनी में अनेक भव्य प्रासाद बन गये और वह एशिया के बसे सुन्दर नगरों में हो गया।

इतिहास में महमूद का क्या स्थान है---इसका निर्णय करना अधिक कठिन नहीं। उसके समकालीन मुसलमान उसे गाजी समझते थे जिसने कि काफिरों के देश से कुफ्र हटाने की कोशिश की। हिन्दुओं के लिए आज भी वह एक हूण ही है जिसने उनकी धार्मिक भावनाओं का असम्मान कर उनकी मूर्तियों एवं मन्दिरों को तोड़ा। एक तटस्थ पर्यवेक्षक का कुछ दूसरा ही निर्णय होगा। उसके लिए सुल्तान जन्म से ही मनुष्यों का नेता, सच्चा तथा ईमानदार शासक निर्भय एवं प्रतिभावान सैनिक, न्यायी, साहित्य-प्रेमी था, जो कि संसार के बहुत बड़े-बड़े महापुरुषों की श्रेणी में आता है।

परन्तु उसकी विजय ज्यादा दिन न टिक सकी। उसके निर्बल उत्तरा-धिकारियों के हाथ में शासन की बागडोर जाते ही साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया क्योंकि विजय के साथ ही शासन की स्थिरता पर ध्यान न दिया गया था।

केवल तलवार के बल पर जीते हुए देशों में महमूद शान्ति एवं व्यवस्था न स्थापित कर सका। आन्तरिक शासन एवं व्यवस्था के लिए तथा अपराधों को रोकने के लिए पुलिस की कोई व्यवस्था न थी। अपनी प्रजा की भलाई के लिए उसने नियमों या प्रथाओं की व्यवस्था न की। स्थानीय स्वतन्त्रता का दमन किया गया तथा केवल शस्त्र के बल पर विभिन्न देशों में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की गई। इन विभिन्न देशों में कोई एकता का बन्धन न था सिवाय इसके कि वे एक ही शासक के अधीन थे। महमूद के पदाधिकारी भी उसी की तरह राजसत्तावादी थे तथा उन्होंने भी अपने स्वामी की भाँति केवल राज्य-विस्तार की ओर ध्यान दिया, उसे सुचारु रूप से चलाने एवं

प्रबंध करने का नहीं। अतः ऐसी राजसत्ता जैसी कि महमूद की थी बहुत दिनों तक न टिक सकती थी और जैसे ही उसे मृत्यु ने उठा लिया तो चारों ओर उपद्रव होने लगे जिन्हें कि उसके उत्तराधिकारियों के निर्बल हाथ न रोक सके। जैसा कि श्री हबीब कहते हैं कि जब सावजुकों ने इसका नाश किया तो उसके भाग्य पर रोनेवाला कोई न था।

अलबरूनी—अबू रिहान जो कि अलबरूनी के नाम से विशेष प्रसिद्ध है ९७३ ई० में आधुनिक रखीवा प्रान्त में उत्पन्न हुआ था तथा जब १०१७ ई० में यह प्रदेश महमूद ने जीता तो उसे पकड़ ले गया। वह महमूद के साथ भारतवर्ष आया तथा यहाँ कुछ दिनों बना रहा। उसने सहानुभूति के दृष्टिकोण से यहाँ के हिन्दुओं से रीति-रिवाजों, व्यवहारों एवं प्रथाओं का अध्ययन किया तथा उनका उल्लेख अपनी एक पुस्तक में छोड़ गया है जो कि उस समय की सामाजिक स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। वह लिखता है कि "देश छोटे छोटे भागों में विभाजित था जिनके शासक पूर्ण स्वतन्त्र थे तथा परस्पर युद्ध करते थे। वह प्रसिद्ध राज्यों में काश्मीर, मालवा, सिन्ध, गुजरात, बंगाल तथा कन्नौज का उल्लेख करता है। हिन्दुओं की सामाजिक दशा के बारे में वह लिखता है कि उनके बाल-विवाह की प्रथा थी एवं विधवाओं को पुनः विवाह करने की आज्ञा न थी तथा सती-प्रथा का भी प्रचलन था। मूर्ति-पूजा सारे देश में प्रचलित थी तथा देश की विशाल संपत्ति मन्दिरों में जमा हो चली थी जिसके कारण कि मुसलमान आक्रमणकारियों की धन-लिप्सा और भी बढ़ गई। अलबरूनी ने उपनिषद् के दर्शन का अध्ययन किया तथा उसने उनकी बड़ी प्रशंसा की है। वह लिखता है कि सामान्य जन बहुदेववादी हैं परन्तु सभ्य एवं संस्कृत वर्ग एक परमात्मा को मानता है जो कि अनन्त, अनादि, सर्व-कालीन, सर्वशक्तिमान् जीता-जागता, जीवन देनेवाला, शासन करनेवाला तथा जीवन-रक्षा करनेवाला है और स्वेच्छा से काम करता है।"

न्याय-वितरण की प्रणाली यद्यपि आदिम एवं कुछ भद्दी थी फिर भी वह उदार एवं मानवीय भावनाओं से प्रेरित थी। लिखित मुकदमे दायर किये जाते थे तथा उनका निर्णय गवाहों के बल पर होता था। फौजदारी

के कानून नर्म थे। अलबरूनी ने हिन्दुओं की नर्मी एवं ईसाइयों की उदारता की तुलना की है। ब्राह्मणों को प्राणदण्ड नहीं दिया जाता था। चोरी की सजा चुराई हुई चीज के मूल्य के अनुरूप ही होती थी तथा कुछ विशेष अपराधों के लिए अंग-भंग का दण्ड उचित समझा जाता था। कर भी बहुत कम था। राज्य केवल पैदावार का छठा भाग कर-स्वरूप लेता था परन्तु ब्राह्मण इस कर से भी मुक्त थे।

अलबरूनी के पृष्ठों में भारत की अवनति एवं पतन के अनेक प्रमाण मिलते हैं। राजनैतिक दृष्टि से उसकी एकता नष्ट हो चुकी थी तथा राष्ट्रीय हितों को ध्यान में न रख प्रतिस्पर्धी राज्य आपस में लड़ा करते थे। संभवतः राष्ट्रीय शब्द का उनके लिए कोई अर्थ ही न था। धर्म पर अन्ध-विश्वास ने अधिकार कर लिया था तथा समाज कठिन जाति-प्रथा की शृंखलाओं से जकड़ा हुआ था जिसके कारण भिन्न वर्गों का एकीकरण और भी असम्भव-सा हो गया था। वास्तव में अनेक बातों में मध्यकालीन योरुप से बिलकुल मिलता-जुलता था जैसा कि एक विशेषज्ञ ने कहा है कि प्रत्येक वस्तु पतन एवं विनाश की ओर अग्रसर थी तथा राष्ट्रीय जीवन मृत हो चुका था।

महमूद के उत्तराधिकारी—१०३१ ई० में पिता की मृत्यु के पश्चात अपने भाई को अलग कर मसऊद ने अपने को बादशाह—घोषित किया। वह अपने पिता की भाँति महत्त्वाकांक्षी, उत्साही एवं सैनिक था। इस समय गजनी के दरबार का ऐश्वर्य अद्वितीय था और बैहाकी ने संस्मरणों में लिखा है कि किस प्रकार सुल्तान ऐश्वर्य एवं सज-धज में रहता था। यद्यपि महमूद के समय में भी मदिरा का प्रयोग कम न था परन्तु मसऊद ने तो हद कर दी तथा स्वयं मद्यप एवं दुश्चरित्रों का नेता बन गया।

हिन्दुस्तान का गजनवी शासक अरियारक अब निरंकुश हो चला था तथा अपने राजा की आज्ञाओं की कोई परवाह न करता था। मसऊद यद्यपि मदिरा एवं विलास में मग्न रहता था फिर भी अपनी आज्ञा के भंग होने पर जानता था कि किस प्रकार अपने आत्म-सम्मान की रक्षा की जाय। हिन्द के शासक को गजनी बुलाया गया जहाँ पर उसे कारागार में डाल दिया गया और संभवतः जहर दे दिया गया। भारत में मुसलमानी प्रदेश का शासक

बनाकर नियाल्तगी को भेजा गया तथा बहाना करके उसके पुत्र को बतौर जमानत गजनी में रख लिया गया। यह नया शासक भी अपने पूर्वाधिकारी से कम महत्त्वाकांक्षी न था और जैसा कि वैहाकी लिखता है वह भी सन्मार्ग छोड़कर कुमार्गगामी हुआ।

अहमद नियाल्तगीन का राज-विद्रोह—भारत में आकर नियाल्तगीन ने देखा कि उसके सह-पदाधिकारी काजी शीराज के साथ काम करना कठिन है क्योंकि अपने कर्तव्यों के पालन में वह उसकी अनुमति न माँगता था। अतः दोनों में शीघ्र ही झगड़ा हो गया। परन्तु जब यह मामला गजनी गया तो काजी पर डाँट पड़ी और उसे आज्ञा दी गई कि वह सैनिक मामलों में हस्तक्षेप न करे। इस पर हिन्दुओं के प्राचीन एवं पवित्र नगर काशी के धन लूटने की इच्छा से उसने आक्रमण किया और उसे इसमें बड़ी सफलता मिली। परन्तु काजी अपने प्रतिद्वंद्वी की इस सफलता को न देख सका। अब उसने सुल्तान के पास गुप्तचरों द्वारा यह सन्देश भेजा कि नियाल्तगीन अपने को महमूद का पुत्र कहता है और स्वतन्त्र देश चाहता है। हर प्रकार से नियाल्तगीन के शत्रुओं ने उसके विरुद्ध सुल्तान के कान भर दिये तथा उसे यह विश्वास दिलाया कि शीघ्र ही हस्तक्षेप करना बहुत आवश्यक है।

एक के पश्चात् एक पदाधिकारियों ने हिन्दुस्तान में शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित करने के लिए जाना स्वीकार किया परन्तु अन्त में एक निम्न जाति-वाला हिन्दू तिलक नियुक्त किया गया जो कि बड़ा योग्य एवं साहसी मनुष्य था। जब वह लाहौर पहुँचा तो उसके पहुँचते ही नियाल्तगीन के अनुगामी भयभीत होकर प्राण-भय से उसे छोड़ गये। वह एक भीषण संग्राम में पराजित हुआ और भाग निकला। उसके सर की कीमत ५ लाख दिरहम रखी गई। जाटों ने जो कि उस जंगल एवं मरुस्थल से परिचित थे, उसे पकड़ लिया और उसका सिर काट लिया। मसऊद इस विजय को सुनकर प्रसन्न हुआ। उत्साहित होकर उसने हाँसी[१] के किले को जीतने के पुराने प्रण का पालन करने का निश्चय किया। उसके मन्त्रियों ने उसे ऐसा करने से रोका

१—हिसार के ११ मील पूर्व हाँसी एक नगर है जहाँ कि टूटा हुआ एक महल है।

परन्तु उसने उत्तर दिया—"यह प्रण का बोझ मेरी गर्दन पर लदा हुआ है और इसे मैं स्वयं ही पूरा करूँगा।" मन्त्रियों ने उसकी इस इच्छा के सामने सर झुका दिये तथा ख्वाजा के हाथ में गजनी के शासन के पूर्ण अधिकार दे दिये गये।

हांसी विजय—सुल्तान अक्टूबर सन् १०३७ ई०—गजनी से चला तथा लम्बा मार्ग तय करने के पश्चात् हाँसी नगर पहुँचा। जिस किले को हिन्दू अजेय समझ रहे थे उस पर आक्रमणकारियों ने घेरा डाल दिया। यद्यपि दुर्ग-स्थिति सेना ने साहस के साथ आक्रमणकारियों का सामना किया परन्तु मुसलमानों ने अचानक उस पर अधिकार कर लिया तथा विशाल सम्पत्ति लूट में उनके हाथ लगी। दुर्ग को एक विश्वस्त पदाधिकारी के संरक्षण में सौंप कर दिल्ली के पास स्थित सोनपत की ओर सुल्तान बढ़ा। मुसलमानों ने सरलता से इस पर अधिकार कर लिया क्योंकि इसके शासक ने उनका विरोध न किया। विजयी सुल्तान अब गजनी की तरफ लौटा।

हिन्दुस्तान पर यह आक्रमण एक बहुत बड़ी गलती साबित हुई। सुल्तान की अनुपस्थिति से लाभ उठाकर सालजुक तुर्कों ने गजनी प्रदेश पर आक्रमण कर राजधानी के कुछ भाग को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला था। मसऊद ने आक्रमणकारियों पर हमला किया परन्तु मर्व के पास दन्दानकन नामक स्थान पर २४ मार्च, १०४० ई० को वह परास्त हुआ। सालजुक तुर्कों द्वारा हारकर गजनियों को हिन्दुस्तान की ओर लौट आना पड़ा।

मसऊद का हिन्दुस्तान को भागना—मन्त्रियों की गजनी में रहने की सलाह को न मानकर पराजित सुल्तान हिन्दुस्तान भाग आया। जब शाही दल भारगिलह[१] में पहुँचा तो तुर्कों एवं हिन्दू गुलामों ने विद्रोह कर दिया तथा सुल्तान के छोटे भाई महम्मद को सिंहासन पर बिठाया। १०४१ ई० में मसऊद कैदखाने में डाल दिया गया तथा मार डाला गया।

मसऊद के निर्बल उत्तराधिकारी—मसऊद की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र मौदूद सिंहासन पर बैठा तथा अपने चचा मुहम्मद को एक युद्ध में परास्त कर अपने पिता की मृत्यु का बदला लिया। मौदूद के पश्चात् कई एक

१—हसन अब्दाल के कुछ मील पूर्व की ओर अडक तथा रावलपिंडी के बीच का एक दर्रा।

निर्बल शासकों के हाथ में शासन की बागडोर गई जिनके अघटनात्मक जीवन का वर्णन करना व्यर्थ है। सालजूकों की शक्ति बढ़ती रही और गजनवियों के साम्राज्य का अधिकांश भाग उनके हाथ से चला गया। सालजुकों ने आगे चलकर गजनवियों को बुरी तरह हराया जिसके फलस्वरूप अन्तिम स्वतन्त्र गजनवी शासक अररकान हिन्दुस्तान भाग गया जहाँ पर १११७ ई० में बुरी दशा में वह मृत्यु को प्राप्त हुआ। इस प्रकार सालजुकों का प्रभुत्व गजनी में स्थापित हो गया तथा नाम-मात्र का गजनवी शासक बहराम जिसका कि ताज सालजुकों की दया पर निर्भर था, उनके हाथ में कठपुतली बन गया। बहराम का शासन सम्भवतः ऐश्वर्य के साथ समाप्त होता यदि उसका गजनी तथा हिरात के बीच के प्रदेश गोर के मलिकों से झगड़ा न हो गया होता। ये युद्ध-प्रेमी अफगान महमूद के झण्डे के नीचे लड़े थे परन्तु जब शासन की बागडोर निर्बल हाथों में आ गई तो उन्होंने उनकी अधीनता मानने से इनकार किया। जब बहराम की आज्ञा से सूरी वंश का एक युवराज मार डाला गया तो परिस्थिति और भी खराब हो गई। मृत युवराज के भाई ने गजनी पर आक्रमण किया पर वह परास्त हुआ एवं मारा गया। दूसरे भाई अलाउद्दीन हुसैन ने गजनवियों से बदला लेने का प्रण किया। उसने एक विशाल सेना लेकर गजनी पर आक्रमण किया तथा ११५० ई० में उस पर विजय पाई। बहराम भारत भाग गया परन्तु वह गजनी फिर न लौटा तथा उसने अपनी खोई हुई राजसत्ता पुनः प्राप्त कर ली।

११५२ ई० में बहराम मर गया तथा उसके पश्चात् उसका पुत्र खुशरो शाह की गद्दी पर बैठा परन्तु वह इस नई परिस्थिति का सामना करने में बिलकुल असमर्थ था। जब तुर्कमान गजनी की ओर बढ़े तब वह हिन्दुस्तान भाग गया। दृढ़ प्रतिज्ञ अलाउद्दीन ने नगर की सुन्दर इमारतें नष्ट कर दीं तथा बहुत से लोगों को तलवार के घाट उतार दिया। ११६० ई० में लाहौर में निर्वासित खुसरो शाह मर गया।

साम्राज्य की दशा और भी गिरती गई तथा गजनी के नवीन विलासप्रिय शासक खुसरो मलिक के शासन-काल में शासन-पद्धति बिलकुल ही अव्यवस्थित हो गई। गजनी की शक्ति शीघ्रता के साथ कम होने लगी तथा गोर का राजवंश सशक्त होने लगा। अलाउद्दीन के भतीजे

गयासुद्दीन ने ११७३ ई० में गजनी पर अधिकार कर लिया और उसे उसकी अधीनस्थ रियासतों तथा काबुल के साथ अपने भाई मुईजुद्दीन के संरक्षण में सौंप दिया जिसे कि इतिहास में लोग मुहम्मद गोरी के नाम से जानते हैं। मुईजुद्दीन में साहस एवं नैसर्गिक युद्ध-कुशलता थी अतः उसने बार-बार हिन्दुस्तान पर आक्रमण किया तथा मलिक को सन्धि करने एवं सन्धि की शर्तों की पूर्ति के जमानत के स्वरूप अपने पुत्र को सौंप देने पर विवश किया। बाद में षड्यंत्र एवं झूठे वादों द्वारा खुसरो कैद भी कर लिया गया और १२०१ ई० में मार डाला गया। उसके पुत्र बहराम शाह की भी वही दशा हुई। इस प्रकार सुबुक्तगीन वंश का अन्त हो गया। गजनी के शासन की बागडोर गोरी वंश के हाथ में चली गई।

साम्राज्य का पतन—इस प्रकार दो शताब्दियों बाद गजनी के साम्राज्य का इतिहास लोप हो गया। केवल शस्त्र-बल पर टिका हुआ साम्राज्य सबल एवं सैनिक-शासन के बिना अधिक दिनों न टिक सकता था। महमूद ने किसी ऐसी संस्था का निर्माण न किया जो कि उसके विशाल साम्राज्य को एक सूत्र में बाँधे रहती। इस विशाल साम्राज्य का जोड़नेवाला कोई संगठन या एकता का सूत्र न था, अतः उसके मरते ही यह छिन्न-भिन्न हो गया। भारतवर्ष में लूट में पाई हुई विशाल सम्पत्ति ने उसके निर्बल उत्तराधिकारियों को विलासप्रिय बना दिया। अतः वह युद्ध के कठिन कर्तव्यों के योग्य न रह गये। जैसे ही साम्राज्य की राजनैतिक निर्बलता का पता चला, चारों ओर विद्रोह एवं अव्यवस्था होने लगी। चरित्रहीन एवं विलासी गजनवी शासक अपने शत्रुओं का सामना न कर सके। अतः वे गजनी साम्राज्य के भागों को धीरे-धीरे छीनते रहे। जैसे ही अफगान प्रदेश में अव्यवस्था फैली, भारतवर्ष में भी असन्तोष की मात्रा बढ़ गई। गजनी की नित्य नई समस्याओं एवं उपद्रवों के कारण गजनवी शासकों को इतना अवकाश ही न मिल सका कि वे भारतीय समस्याओं की ओर उचित ध्यान दे सकें। परन्तु गोरी के शासक दूसरे प्रकार के थे। वे उपद्रवी तुर्कों का संचालन एवं पथ-प्रदर्शन अच्छी तरह कर सकते थे तथा आत्म-वैभव तथा आत्म-गौरव के लिए उनकी शक्ति एवं उत्साह का सफलतापूर्वक प्रयोग कर सकते थे।

बीसवाँ अध्याय

हिन्दुस्तान की विजय

महम्मद गोरी का भारत पर आक्रमण—हिन्दुस्तान के मुसलमानी प्रदेश छीनने में मुहम्मद गोरी पूर्णतया सफल हुआ। उच्छ का आक्रमण विश्वासघात के कारण सफल हुआ। ११७४ ई० में कर्मत नास्तिकों से उसने मुल्तान छीन लिया। परन्तु नेहरवाल के राजा भीमदेव ने आक्रमणकारियों को बुरी तरह से परास्त किया। अतः गोरी ने पेशावर पर कब्जा कर नीचे समुद्रतट की ओर सिन्ध के पूरे प्रान्त को अपने अधीन कर लिया। लाहौर के किले पर कब्जा न कर पाने पर उसने खुसरो मलिक से सुलह कर ली और गजनी लौट गया। उसके जाने के पश्चात् खसरो मलिक ने खोखर जाति की सहायता पाकर स्यालकोट के किले के चारों ओर घेरा डाल दिया पर उस पर अधिकार करने में असफल रहा। जब यह खबर सुल्तान के पास पहुँची तो उसने दुबारा लाहौर पर आक्रमण किया और षड्यन्त्र द्वारा खुसरो मलिक को ११८६ ई० में पकड़वा लिया तथा सुबुक्तगीन के राजवंश का अन्त कर दिया। लाहौर अब तक विजयी सुल्तान के हाथ में था।

मुहम्मद अब भी हिन्दुस्तान का अधिपति न हो पाया था। अनेक राजपूत राज्य थे जो कि धनी तथा शक्तिमान् थे एवं बाहरी आक्रमणकारी को लड़कर मार भगाने को तैयार थे। गजनी के सैनिकों ने राजपूत जैसे वीर एवं निर्भय लोगों का सामना न किया था। परन्तु राजपूत समाज की सामन्त-प्रथा ही उसकी निर्बलता का विशिष्ट कारण थी। पारस्परिक विद्वेष एवं आये दिन उनके संघर्षों के कारण उनका आपस में मिलकर लड़ना असम्भव था। इसके अतिरिक्त जाति-प्रथा के बन्धन द्वारा ऊँचे तथा नीचे राजपूतों का भेद इतना बढ़ गया था कि वे आपस में झूठे सम्मान के कारण न मिल पाते थे। केवल अभिजात कुल के राजपूत ही जागीरों के अधिकारी हो सकते

थे जिसके फलस्वरूप उच्चवंशीय राजपूत स्वार्थी हो गये तथा कुल-श्रेष्ठता एक वंशपरम्परागत वस्तु हो गई। अब जागीर प्रथा पर अवलम्बित इन राजपूत रियासतों का अधिक दिन टिकना असम्भव था अतः इसमें आश्चर्य ही क्या कि मुसलमान आक्रमणों का प्रथम आघात लगते ही राजपूती भारत की नींव हिल गई।

अपनी सेना की व्यवस्था कर मुहम्मद सीमान्त नगर सरहिन्द की ओर बढ़ा, जिसकी कि स्थिति मध्य-काल में सुरक्षा की दृष्टि से बहुत अच्छी मानी जाती थी, उसने सरहिन्द पर अधिकार कर लिया। सबसे शक्तिशाली राजपूत वंश जिनकी उत्तरी भारत में धाक थी निम्न थे :—(१) गहरवार जो बाद में कन्नौज के राठौर कहलाये, (२) अजमेर तथा दिल्ली के चौहान, (३) बिहार एवं बंगाल के पाल तथा सेन, (४) गुजरात के बघेल तथा (५) बुन्देलखण्ड के चन्देल[१]। इनमें सबसे अधिक शक्तिशाली दिल्ली तथा कन्नौज के शासक थे परन्तु उनकी आपस की ईर्ष्या एवं द्वेष ने उनका आपस में मिलकर विदेशी आक्रमणकारी को परास्त करना असम्भव कर दिया।

पृथ्वीराज चौहान—अजमेर तथा दिल्ली के सिंहासन पर पृथ्वीराज बैठा जो कि अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध था। उसने मुहम्मद गोरी की सेना का ११९१ ई० में तराइन[२] के मैदान में सामना किया। तराइन थानेश्वर से १४ मील दूर एक गाँव है। राठौर-नरेश जयचन्द ही एक ऐसा राजा था जो युद्ध में सम्मिलित न हुआ।

पृथ्वीराज ने उसकी बेटी का अपहरण कर उसका अपमान किया था। सुल्तान ने दक्षिण, वाम एवं मध्य तीन भागों में सेना को विभाजित किया तथा स्वयं सेना के मध्य में रहा। राजपूतों ने मुसलमानी सेना के दोनों पार्श्वों पर भीषण आक्रमण कर उन्हें तितर-बितर कर दिया और राजा के भाई गोविंदराय ने सुल्तान को बुरी तरह घायल कर दिया परन्तु भाग्यवश उसका

१—उत्तरी भारत के राजपूत-वंशों का विस्तृत वर्णन एक पिछले अध्याय में दिया जा चुका है।

२—अनेक ऐतिहासिक पुस्तकों में नराइन लिखा है पर यह नाम अशुद्ध है लेन पूल ने भी इसी अशुद्ध नाम को लिखा है। मध्यकालीन भारत पृ० ५१

एक स्वामिभक्त खिलजी सैनिक उसे युद्धक्षेत्र से बचा ले गया। इससे मुसलमान सेना में आतंक फैल गया और वह मैदान छोड़कर चारों ओर भागी। अभी तक पहले कभी इतनी बुरी तरह मुसलमान हिन्दुओं से परास्त न हुए थे। जब सुल्तान गोर पहुँचा तो उसने लड़ाई से भागे हुए अफसरों को सार्वजनिक रूप से दण्ड दिया।

पृथ्वीराज की पराजय—सन् ११९२ ई० में पुनः अपनी सेना को संगठित एवं व्यवस्थित कर सुल्तान गजनी से हिन्दुस्तान की ओर चला ताकि राजपूत शासकों से बदला ले। सुल्तान की सेना ने पुनः तराइन के पास अपने तम्बू डाल दिये। भारतवर्ष की रक्षा के लिए पृथ्वीराज ने पुनः राजपूत राजाओं से प्रार्थना की कि वे उसके झण्डे के नीचे आकर तुर्कों से लड़ें। उसकी इस प्रार्थना का सबने स्वागत किया और प्रायः १५० राजपूत शासक झण्डे के नीचे लड़ने के लिए एकत्र हो गये।

सुबह से शाम तक घमासान युद्ध होता रहा। जब शत्रु थक चुके थे तब सुल्तान ने बारह हजार अश्वारोहियों को लेकर पुनः अन्तिम आक्रमण किया तथा हिन्दू सेना में मार-काट मचा दी। राजपूत शक्ति इन घुड़सवारों एवं तीरन्दाजों के विरुद्ध कुछ सफल न हो सकी। चारों ओर रक्त की नदियाँ बह निकलीं। युद्ध का परिणाम पहले से ही निश्चित था। अधिक संख्या में होते हुए भी हिन्दू मुसलमानों द्वारा परास्त हुए। मुस्लिम इतिहासकार लिखता है कि पृथ्वीराज युद्ध-क्षेत्र से भाग निकला परन्तु सरस्वती[1] के पास पकड़ा गया और मार डाला गया।

"पृथ्वीराज की पराजय से राजपूत शक्ति को बड़ा धक्का पहुँचा। पराजय के पश्चात् उनका नैतिक पतन हो गया अतः मुसलमानों ने सरलतापूर्वक सरस्वती, सामाना, कुहराम तथा हाँसी पर अधिकार कर लिया। सुल्तान अजमेर की ओर बढ़ा और उसे लूटना प्रारम्भ कर दिया। सहस्रों मनुष्य तलवार के घाट उतार दिये गये। पृथ्वीराज के औरस पुत्र को यह नगर इस

१—प्राचीन सरस्वती के किनारे यह एक नगर था। अकबर के समय में सरसुती सरकार सम्भल का महल था।

शर्त पर दे दिया गया कि वह सुल्तान को वार्षिक कर देता रहे। जीते हुए भारतीय प्रदेश अपने स्वामिभक्त सैनिक कुतुबुद्दीन के हाथ सौंप दिये। उसने थोड़े ही समय में (मेरठ) कोल[१] तथा दिल्ली जीत लिया। इसके बाद उसने दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया।

कन्नौज-विजय—दिल्ली के पश्चात् दोआबा के बीच में राठौर वंश की राजधानी कनौज थी जहाँ के सैनिक प्रसिद्ध थे। कथानक एवं इतिहास में प्रसिद्ध यहाँ का शासक जयचन्द था जो कि अपने समय का बहुत ही शक्तिशाली राजा समझा जाता था। पृथ्वीराज की पराजय के पश्चात् संभवतः जयचन्द ने यह समझा रक्खा था कि सारे भारतवर्ष का एकछत्र राजा हो जायगा परन्तु उसे निराश होना पड़ा। ११९४ ई० में सुल्तान कन्नौज पर आक्रमण करने के लिए गजनी से चला। मुस्लिम आक्रमण का सामना करने के लिए जयचन्द ने किसी संघ का निर्माण न किया। शायद पृथ्वीराज की पराजय से राजपूतों के हौसले पस्त हो चले थे, नहीं तो बहुत संभव था कि वह पुनः उसके झण्डे के नीचे एकत्र होते। चन्दवार के मैदानों में पड़ी हुई राजपूत सेना मुसलमानों द्वारा बुरी तरह परास्त हुई। जयचन्द को एक बाण द्वारा मर्मान्तिक घाव लगा और पृथ्वी पर गिर पड़ा। राठौर-वंशी राजपूत इस पराजय के पचात् राजपूताना की ओर चले गये जहाँ उन्होंने जोधपुर की रियासत स्थापित की। विजयी सुल्तान ने अब बनारस पर आक्रमण किया जहाँ पर उसने मन्दिरों को गिरवाकर मस्जिदों के बनवाने की आज्ञा दी। इसके पश्चात् वह युद्ध में लूटे हुए माल को लदवाकर कोल के किले में गया और वहाँ से गजनी को प्रस्थान किया।

अन्य विजय—हिन्दुस्तान में कुतुबुद्दीन ऐबक ने अपने जीवन में लगातार अनेक विजय प्राप्त कीं। उसने अजमेर पर आक्रमण किया और उसके सिंहासन पर गजनी की अधीनता माननेवाले सच्चे हकदार को बिठाया तथा उसके नियन्त्रण् के लिए एक मुसलमान अफसर को नियुक्त किया। अजमेर के पश्चात् ऐबक ने नहरवाला के शासक भीमदेव पर

१—कोल अलीगढ़ के पास एक स्थान है। यहाँ पर एक प्राचीन किला है जो अब भी मौजूद है।

आक्रमण किया और उसे परास्त किया। ग्वालिर, पियाना आदि अन्य प्रदेशों को भी गजनी की अधीनता मानने पर विवश किया।

बिहार-विजय—एक निर्भय, वीर एवं बुद्धिमान् सेनापति मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी ने आश्चर्यजनक सरलता के साथ बिहार पर विजय प्राप्त कर ली। संभवतः ११९७ ई० में एक छोटी-सी २०० घुड़सवारों की टोली लेकर उसने प्रायः सभी खास-खास किलों पर अधिकार कर लिया। आक्रमणकारियों ने अनेक बौद्ध-विहारों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया तथा बहुत सी पुस्तकों को इधर-उधर फेंक दिया। एक मुस्लिम इतिहासकार लिखता है कि अनेक मुण्डित मस्तकवाले ब्राह्मण तलवार के घाट उतार दिये गये। उत्तरकालीन बौद्ध-धर्म की मूर्ति-पूजा ने मुसलमानों के धार्मिक उत्साह को और भी बढ़ा दिया और आज दिन पाये जानेवाले बौद्ध स्तूपों एवं विहारों के भग्नावशेषों में उनके मूर्ति-खण्डन के उत्साह के प्रमाण मिलते हैं। मुस्लिमों के बिहार पर आक्रमण करने से बौद्ध-धर्म को बड़ी क्षति पहुँची परन्तु संवत् १२७६ (सन् १२१९ ई०) विक्रमीय के लिखे हुए विद्याधर के एक शिलालेख से इस बात का पता चलता है कि बौद्ध-धर्म इसके पश्चात् भी उत्तरी भारत से एकदम समाप्त नहीं हुआ।

बंगाल-विजय—बिहार की विजय के पश्चात् बंगाल की विजय का नम्बर आया। मुहम्मद बिन बख्तियार की सेना में फरगाना के एक सैनिक के विवरण पर विश्वास करते हुए एक मुस्लिम इतिहासकार ने लिखा है कि निर्भय सेनापति ने केवल अठारह घुड़सवार लेकर नदिया के नगर में प्रवेश किया और उसके आने की खबर सुनकर वहाँ का वृद्ध शासक लक्ष्मण सेन अपने महल के पिछले दरवाजे से भाग खड़ा हुआ तथा सुनारगाँव के पास विक्रमपुर में शरण ली जहाँ कि गौड़ के सभी असन्तुष्ट आदमी प्रायः जाया करते थे।[१] यह वास्तविक घटना का अतिशयोक्तिमय विवरण है। मुहम्मद ने नदिया नगर को नष्ट

१—तबकात-नासिरी का यह विवरण जिसे कि विन्सेन्ट स्मिथ ने बिलकुल ठीक मान लिया है, अतिशयोक्तिपूर्ण है। भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास, नवीन एवं संशोधित संस्करण में इस प्रचीन विचार में परिवर्तन कर दिया गया है।

कर दिया। तथा लखनौती या गौड़ को अपनी राजधानी बनाया। खुतबा पढ़ा गया एवं सुल्तान मुईजुद्दीन के नाम पर सिक्के जारी किये गये। लूट में मिली हुई विशाल संपत्ति का अधिकांश भाग मुहम्मद ने कुतुबुद्दीन के पास भेज दिया।

कालिंजर-विजय—१२०२ ई० में बुन्देलखण्ड के चन्देल शासक परमर्दिन (परमाल) पर कुतुबुद्दीन ने हमला किया। परमर्दिन मुसलमानों के आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना न कर सका जिसके फलस्वरूप कालिंजर का किला विजयी पक्ष के हाथ में चला गया। इसके बाद कालपी एवं बदायूँ के किले जीते गये और इस प्रकार कुतुबुद्दीन ने समस्त उत्तर भारत पर गजनी का आधिपत्य जमा लिया।

पांसे का पलटना—गजनी के बादशाह भारत में जीते हुए प्रदेशों से सन्तुष्ट न हुए। उनकी ललचाई हुई दृष्टि आमू नदी के प्रदेश पर लगी हुई थी जिसे गजनी के बादशाह महमूद के समय से आधिपत्य में करने का असफल प्रयास करते रहे थे। मुहम्मद ने भी वैसा ही किया और १२०४ ई० में एक बड़ी सेना लेकर ख्वारिज्म पर आक्रमण किया। परन्तु ख्वारिज्म के शाह तथा उसके मित्रों ने सुल्तान की सेना को बुरी तरह परास्त किया और बड़ी मुश्किल से जान बचाकर मुहम्मद गोरी निकल सका। जैसे ही इस पराजय का समाचार फैला, चारों ओर उपद्रव होने लगे। गजनी का एक राजपदाधिकारी हिन्दुस्तान पहुँचा। वहाँ पर एक जाली शाही हुक्मनामा दिखाकर उसने अपने को मुल्तान का शासक घोषित कर दिया और सेना ने उसकी बात मान ली। अभागे सुल्तान के लिए गजनी के फाटक बन्द हो गये। उपद्रवी खोखरों ने विप्लव मचा दिया और पंजाब के जिलों की ओर शीघ्रता से बढ़े। परन्तु सुल्तान ने इस विपत्ति में भी हिम्मत न हारी। उसने शीघ्र ही मुल्तान तथा गजनी पर अधिकार कर लिया। फिर खोखरों को दण्ड देने के लिए हिन्दुस्तान की ओर बढ़ा। झेलम के तट पर उसने उन्हें बुरी तरह परास्त किया। इस विजय के पश्चात् सुल्तान लाहौर लौट गया।

खोखररूपी सर्प कुचला तो अवश्य जा चुका था परन्तु अभी पूर्णतया मरा नहीं था। सामने युद्ध में परास्त होकर खोखरों ने छल-युद्ध प्रारंभ किया। कुछ खोखर सामन्तों ने जो कि अपने मृत संबंधियों के खून का बदला

लेना चाहते थे, यह निश्चय किया कि सुल्तान को मार डाला जाय। लाहौर से गजनी लौटते समय झेलम जिले में सुल्तान धमियक में रुका। यहाँ पर मार्च, १२०६ ई० में एक विपक्षी ने उसकी हत्या कर दी।

मुहम्मद का चरित्र—मुहम्मद महमूद की भाँति पक्षपाती न था परन्तु उससे ऊँचा राजनीतिज्ञ था। उसने भारत की गिरी हुई राजनैतिक अवस्था को भली भाँति समझ लिया था अतः उसने वहाँ पर एक स्थायी साम्राज्य स्थापित करने की कोशिश की। महमूद की धन-लिप्सा ने उसे इस महत्त्वपूर्ण राजनैतिक महत्त्वाकांक्षा की ओर से अन्धा बना दिया था। मुहम्मद गोरी ने प्रारम्भ ही से अपना दृष्टिकोण दूसरा रक्खा। उसने अपनी विजय को स्थायी रूप देने का प्रयास किया और इस प्रयास में उसे उसके सेनापति कुतुबुद्दीन ने महत्त्वपूर्ण सहायता दी जिसने कि आगे चलकर स्वयं दिल्ली में एक राजवंश की स्थापना की।

महमूद ने स्थायी विजय प्राप्त करने का उद्देश्य कभी सामने न रक्खा। वह अपने देश में एक बवन्डर की भाँति आया तथा लूट में अतुल सम्पत्ति साथ लेकर स्वदेश लौट गया। धन एवं मूर्ति-खण्डन ही उसके आक्रमणों के प्रधान उद्देश्य थे परन्तु मुहम्मद एक सच्चा विजेता था। उसने दिल्ली को विजय कर एक स्थायी साम्राज्य की नींव डालने का प्रयास किया। जब तक राजपूतों की धमनियों में अपने पूर्वजों का वीर-रक्त था, तब तक समस्त भारत को विजय करना असम्भव था परन्तु प्रथम बार मुसलमानों ने एक विशाल प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया। कुतुबुद्दीन भारत में वाइसराय बनाया गया तथा उसे इस्लाम साम्राज्य को और बढ़ाने की आज्ञा दी गई। इससे मुहम्मद का अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। यह सत्य है कि साम्राज्य-विस्तार के लिए उसकी दृष्टि पश्चिम की ओर लगी हुई थी परन्तु प्राचीन परम्परागत राजनैतिक दृष्टिकोण के लिए उसे दोषी ठहराना अनुचित होगा। उसकी भारत-विजय विशेष स्थायी सिद्ध हुई। ज्यों ज्यों समय बीतता गया, उसका भारतीय साम्राज्य बढ़ता गया यहाँ तक कि दिल्ली के छोटे से राज्य से प्रारम्भ होकर वह आगे चलकर पूर्व का सबसे सम्पत्तिशाली साम्राज्य बन गया। यह इस्लाम के गौरव बढ़ाने का साधारण प्रयास न था।

इक्कीसवाँ अध्याय

गुलाम वंश*

(१२०६ से १२९० ई० तक)

कुतुबुद्दीन का सिंहासनारोहण—मुहम्मद के मरते समय उसका उत्तराधिकारी कोई न था। मिनहाजुस्सिराज लिखता है कि एक बार जब सुल्तान के एक दरबारी ने उसका इस ओर ध्यान आकर्षित किया तो उसने बिल्कुल ही उदासीन उत्तर दिया। "दूसरे मुसलमानों के एक पुत्र होता है, दो होते हैं। मेरे तो हजारों तुर्की गुलाम पुत्र हैं जो मेरे बाद साम्राज्य के उत्तराधिकारी होंगे तथा समस्त विजित प्रदेशों के खुतबों में मेरे नाम को बनाये रखने का प्रयास करेंगे। अपने स्वामी के मर जाने पर कुतुबुद्दीन सामने आया तथा भारतवर्ष का शासक बनकर उसने एक राजवंश की स्थापना की जो आगे चलकर उसके नाम से प्रसिद्ध हुआ। प्रारम्भ में ऐबक एक गुलाम था। उसको निशापुर के काजी ने खरीदा था, और उसके द्वारा वह अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध हो गया। काजी के मरने के पश्चात् वह सुल्तान मुईजुद्दीन के हाथ में चला गया। यद्यपि वह देखने में भद्दा था परन्तु उसमें अनेक अच्छे गुण थे और केवल अपने गुणों के बल पर ही वह अमीर आखुर (घुड़साल का अफसर) बन गया। सुल्तान की भारत-विजय के समय उसने उसकी बड़ी सेवा की जिसके फलस्वरूप वह हिन्दुस्तान का शासक बना दिया गया। भारत में सुल्तान के प्रतिनिधि की हैसियत से उसने उसके जीते हुए प्रदेशों को बढ़ाया। उसने ताजुद्दीन इल्दौज की लड़की से ब्याह कर अपनी शक्ति को बढ़ाया। अपनी बहन की शादी कुवैचा से कर दी और बिहार के शासक अपने गुलाम ईल्तुतमिश के साथ अपनी लड़की की शादी कर अपनी स्थिति को दृढ़ किया।

* इस वंश का नाम 'गुलाम-वंश' गलत रखा गया ह। जिन गुलामों ने सिंहासन पर अधिकार किया वे पहले तो गुलाम जरूर थे परन्तु बाद में उनके स्वामियों ने उन्हें दासता से मुक्त कर स्वतंत्र बना दिया था।

उसकी विजय—मुहम्मद के सेनापति की हैसियत से ऐबक ने झाँसी, मेरठ, दिल्ली, रणथम्भौर तथा कोल पर अधिकार कर लिया था। बनारस तक के प्रदेश को वह विजय कर चुका था। ११९७ ई० में उसने नेहरवाला पर आक्रमण किया। एक भीषण संग्राम हुआ जिसमें वहाँ का शासक परास्त हुआ तथा मुसलमानों ने उस प्रदेश को लूट-मार से वीरान कर दिया। सन् ११९६ ई० से १२०२ ई० तक छः वर्ष भारत में युद्ध बन्द रहा। परन्तु १२०२ ई० में ऐबक ने कालिंजर के किले पर आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में कर लिया। यहाँ पर उसे लूट में पर्याप्त धन मिला। इसके पश्चात् उसने महोबा पर अधिकार किया। बंगाल तथा बिहार पर पहले से ही मुहम्मद खिलजी अधिकार कर चुका था। जो कि बख्तियार खिलजी का पुत्र एवं कुतुबुद्दीन का सामन्त था। दिल्ली से कालिंजर एवं गुजरात तक तथा लखनौती से लाहौर तक सारा हिन्दुस्तान मुसलमानों के आतंक में था। यद्यपि दूर के प्रदेशों पर अभी मुसलमानों का आधिपत्य पूर्ण रीति से स्थापित नहीं हुआ था।

कुतुबुद्दीन का चरित्र—एक मुस्लिम इतिहासकार का कथन है कि कुतुबुद्दीन साहसी एवं उदार व्यक्ति था। उसने देश पर अच्छी तरह शासन किया, सबके साथ समान न्याय किया तथा देश की शान्ति एवं समृद्धि बढ़ाने का प्रयास किया। अब सड़कों पर डाकुओं का डर कम हो गया था। हिन्दुओं के साथ दयालुता का व्यवहार होता था यद्यपि युद्ध के समय सुल्तान ने 'दैवी-मार्ग के वीर सैनिक' की भाँति हजारों को दास बना लिया था। उसकी उदारता की सभी लेखकों ने प्रशंसा की है। उदारता के कारण लोनों ने उसे 'लाख बख्श' की उपाधि दी थी।

ऐबक एक शक्तिशाली तथा वीर शासक था जिसने अपना चरित्र सदा ऊँचा रक्खा। मुसलमानों के कथनानुसार वह बहादुर, तेजस्वी, बुद्धिमान्, न्यायी तथा धर्म का माननेवाला था और एक ऐसी विदेशी भूमि पर, जहाँ के निवासी अपनी सैनिक-शक्ति के लिए प्रसिद्ध थे, राज्य स्थापित करने की दृष्टि से वह मुस्लिम विजेताओं में अग्रणीय कहा जा सकता है। दिल्ली तथा अजमेर में दो मसजिदें बनवाकर उसने अपनी धार्मिक अवस्था का परिचय

दिया। सन् १२१० ई० में चौगान खेलते समय घोड़े से गिरकर वह मर गया और अपना विशाल साम्राज्य अपने उत्तराधिकारी के लिए छोड़ गया।

बंगाल तथा बिहार में अपनी विजय से प्रोत्साहित होकर मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी ने तिब्बत विजय करने का प्रयास किया। परन्तु उस देश के जल-वायु एवं प्राकृतिक स्थिति के अनुकूल न होने के कारण मुस्लिम सेना को बड़ी क्षति पहुँची। जब सेना एक नदी पार करने का प्रयास कर रही थी तो सैकड़ों उसमें डूब गये तथा उनका नेता बड़ी कठिनाई से दूसरे किनारे तक पहुँच सका। मुहम्मद बहुत लज्जित हुआ और कुछ ही दिन बाद (१२०५-६) वह मृत्यु को प्राप्त हुआ।

ऐबक की मृत्यु के पश्चात् विप्लव—अपने पिता की मृत्यु के बाद आराम गद्दी पर बैठा परन्तु एक वर्ष के संक्षिप्त शासन के पश्चात् ही बदायूँ के शासक ईल्तुतमिश ने उसे परास्त कर गद्दी से उतार दिया। आराम की मृत्यु के समय हिन्दुस्तान चार प्रमुख भागों में बँट गया। सिंध कुवैचा के अधिकार में था, दिल्ली तथा उसके पास का प्रदेश ईल्तुतमिश के अधिकार में थे, लखनौती खिलजी मलिकों के अधीन था; और लाहौर कभी कुवैचा के अधिकार में हो जाता था और कभी गजनी के प्रधान शासक इल्दौज के हाथ में।

ईल्तुतमिश का सिंहासनारोहण—ईल्तुतमिश गुलाम-वंश का सबसे बड़ा शासक था जो १२१० ई० में गद्दी पर बैठा। वह एक गुलाम का गुलाम[१] था जो केवल अपने गुणों के बल पर इतना बढ़ा। केवल अपनी योग्यता के कारण ही वह खानदानी अधिकार को निष्फल करने में सफल हो सका। परन्तु उसे दिल्ली के सिंहासन ने चैन न लेने दिया। उसको अनेक विकट परिस्थितियों का सामना करना पड़ा क्योंकि इल्दौज एवं कुवैचा उसके प्रतिस्पर्धी थे जो स्वयं एकछत्र साम्राज्य स्थापित करना चाहते थे। इसके अतिरिक्त मुइज्जी एवं कुतुबी अमीर उससे अप्रसन्न थे क्योंकि एक गुलाम होकर उसने ऐबक के सिंहासन पर अधिकार कर लिया था जो कि वस्तुतः उसके

१—एक जमालुद्दीन नामक सौदागर ने ईल्तुतमिश को खरीदा था। खरीदकर वह उसे गजनी ले आया जहाँ से वह दिल्ली ले जाया गया तथा एक दूसरे गुलाम वाक के साथ कुतुबुद्दीन को बेच दिया गया।

वंशजों का था। इसके अतिरिक्त अनेक हिन्दू शासक भी थे जिन्होंने मुसलमानों की राजसत्ता केवल नाममात्र के लिए स्वीकार की थी। परन्तु ईल्तुतमिश विपत्तियों से डरनेवाला पुरुष न था। अतः उसने जी-जान के साथ परिस्थिति का दृढ़ता एवं वहादुरी के साथ सामना करने का इरादा कर लिया।

प्रतिस्पर्धियों का दमन—विद्रोही अमीरों का दमन करके उसने दिल्ली के प्रदेश को पूर्णतः अपने अधिकार में कर लिया। परन्तु उसकी सुरक्षा भली भाँति तभी हो सकती थी जव कि वह अपने प्रतिस्पर्धियों को पूर्णतः परास्त कर ले। अतः उसने इसी दिशा में अपनी सारी शक्ति लगा दी। इल्दौज, जो कि अपने बाल्यकाल में ही सुल्तान मुहम्मद द्वारा खरीदा गया था, अपनी योग्यता एवं वीरता के कारण सुल्तान का विश्वासपात्र बन गया तथा अपने स्वामी के मरने के पश्चात् गजनी का स्वयं शासक बन बैठा। परन्तु उसे कुतुबुद्दीन ने निकाल बाहर किया और स्वयं उस देश का शासक वन गया। परन्तु शीघ्र ही गजनी की प्रजा कुतुबुद्दीन के अत्याचारों से असन्तुष्ट हो गई अतः उसने राज्य पर अधिकार करने के लिए इल्दौज को निमंत्रण दिया। इल्दौज एक वहादुर सिपाही था। उसने सिंध के शासक कुवैचा को हराकर पंजाब पर अधिकार जमा लिया। ईल्तुतमिश इतने बड़े प्रतिस्पर्धी को उत्तरी सीमा के पास देख आशंकित हुआ। अतः उसने उस पर आक्रमण कर दिया तथा १२१५ ई० में तराइन के पास उसे बुरी तरह हराया। इल्दौज बन्दी हुआ तथा मार डाला गया। इल्दौज को परास्त करने के पश्चात् कुवैचा पर आक्रमण हुआ। उसने युद्ध में अपनी असफलता देखकर १२१७ ई० में ईल्तुतमिश की अधीनता स्वीकार कर ली। परन्तु १२२७ ई० के पहले उसे अच्छी तरह पराजित नहीं किया जा सका।

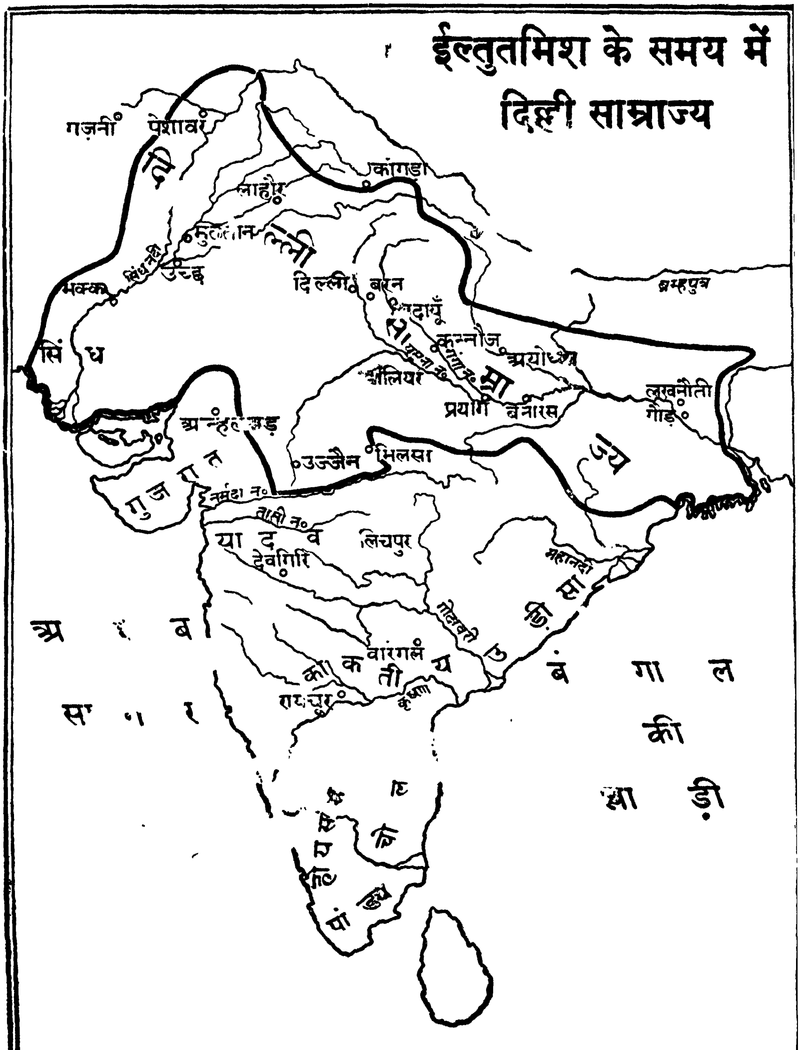
चंगेजखाँ का आक्रमण—१२२१ ई० में भारतवर्ष पर जो विपत्ति की आँधी आई उसकी तुलना में यह संकट कुछ न था। मध्य एशिया के पर्वतीय देश में चंगेजखाँ की अध्यक्षता में मंगोल[1] निकले तथा जो देश उनके मार्ग में पड़े उन्हें नष्ट-भ्रष्ट करते चले गये। मंगोल एक भयानक एवं खूँख्वार

१—मुगल या मंगोल दोनों एक ही जाति के नाम हैं। जब अपने प्राचीन जन्मस्थान से हटकर वे मध्य एशिया की पश्चिमी रियासतों के मुसल-

जाति थी। वस्तुतः मंगोल शब्द स्वयं मंग शब्द से बना है जिसके कि अर्थ हैं वीर एवं साहसी।

चंगेज एक विशिष्ट मुगल[1] सेनानी था जो कि ११५५ ई० में उमान नदी के पास दिलम बेल्दाक में पैदा हुआ था। उसका वास्तविक नाम तेमूचिन था। जब वह केवल तेरह वर्ष का था तब उसका पिता मर गया जिसके फलस्वरूप इस बालक को वर्षों तक विपत्तियों का सामना करना पड़ा। अन्त में १२०३ में जाकर वह खान् घोषित किया गया। विद्युत् गति के साथ वह सारे चीन पर आक्रमण करते हुए ह्यूम आया तथा पश्चिमी एशिया के सारे मुसलमान देशों को तहस-नसह कर डाला। बल्ख-बुखारा, समरकन्द, हिरात एवं गजनी इत्यादि सुन्दर नगर उसके आक्रमण एवं लूट-मार से तहस-नहस हो गये। जब चंगेज खाँ ने ख्वारिज्म के अन्तिम शाह जलालुद्दीन पर आक्रमण किया तो वह हिन्दुस्तान भाग खड़ा हुआ जहाँ पर आक्रमणकारियों ने उसका पीछा किया। उसने सिंध नदी के किनारे अपने शिविर लगा दिये तथा मंगोलों से युद्ध करने की तैयारी की। उसने ईल्तुतमिश के पास एक दूत भेजकर यह प्रार्थना की कि वह उसे कुछ दिन दिल्ली में रहने की आज्ञा दे परन्तु उसने यह बहाना बनाकर कि दिल्ली का जलवायू उनके अनुकूल न पड़ेगा, साफ इनकार कर दिया तथा उसके दूत को मरवा डाला। जलालुद्दीन मंगोलों के हाथ परास्त हुआ अतः कुछ अनुयायियों को साथ लेकर उसे अपनी जान की रक्षा के लिए भागना पड़ा। उसने खोखरों से मित्रता करके नासिरुद्दीन कुवैचा पर आक्रमण कर दिया तथा उसे मुल्तान के किले की ओर भगा दिया। परन्तु कुछ समय के पश्चात् वह फारस गया जहाँ उसे यह ज्ञात हुआ कि ईराक की सेना उसकी सहायता करने को तैयार है, परन्तु उसको एक आदमी ने मार डाला जिसके भाई को वह स्वयं पहले मार चुका था। मंगोलों को भारत की गर्मी असह्य मालूम पड़ी अतः वे सिन्ध् के पश्चिमी प्रदेश की ओर लौट गये जो उनको विशेष आकर्षक मालूम होता था। इस प्रकार भारतवर्ष एक भीषण विपत्ति से बच गया और ईल्तुतमिश की

मान निवासियों के सम्पर्क में आये तो उनके पड़ोसी उनके जातीय नाम को अशुद्ध रूप से उच्चारण करने लगे तथा उन्हें मुगल कहने लगे।



इल्तुतमिश के समय में दिल्ली साम्राज्य

स्थिति अब इतनी हो गई थी कि वह स्थानीय शत्रुओं से बदला सबल ले सका।

विजय—कुतुबुद्दीन की मृत्यु के उपरान्त खिलजी मलिकों ने उसकी अधीनता मानने से इनकार कर दिया था। उनमें से अलीमर्दान तथा गयासुद्दीन खिलजी इत्यादि ने अपने निजी सिक्के जारी किये थे और आज्ञा दी थी कि खुतबे में उनका नाम स्वतन्त्र शासकों में पढ़ा जाय। सन् १२२५ ई० में गयास पर आक्रमण करने के लिए ईल्तुतमिश ने एक सेना भेजी जिसने तुरन्त सन्धि कर ली और बहुत बड़ी भेंट दी। खुतबा पढ़ा गया तथा उसके नाम के सिक्के चलाये गये। जब सुल्तान की सेना लौट आई तो गयास ने बिहार के शासकों को निकालकर उसके सूबे पर स्वयं अधिकार कर लिया। नासिरुद्दीन मुहम्मद शाह ने, जो कि अवध का जागीरदार था, उस पर आक्रमण किया। गयास पराजित हुआ और मारा गया। बहुत से खिलजी अमीर बन्दी बना लिये गये। पूरा लखनौती इस शासक के कब्जे में आ गया। १२२६ ई० में रणथम्भौर पर भी अधिकार स्थापित हो गया। एक वर्ष पश्चात् सिवालिक की पहाड़ियों में स्थित मण्डौर भी अधिकार में आ गया।

कुबैचा का पतन—कुबैचा सुलतान मुईजुद्दीन का एक दूसरा गुलाम था जो अपनी प्रतिभा के कारण, तथा स्वामी का आश्रय लेकर महत्त्वपूर्ण पद पर पहुँच गया था वह उच्छ का शासक बना दिया गया। उसने शासन-कार्य में इतनी कुशलता दिखाई कि थोड़े ही समय में सरहिन्द, कुहराम तथा सरसुती तक फैले हुए समस्त सिन्ध-प्रदेश का अध्यक्ष बन बैठा। उसकी इस सफलता को देखकर गजनी में उसके प्रतिद्वन्द्वियों के हृदय में उसके प्रति ईर्ष्या उत्पन्न हो गई। लाहौर पर अधिकार करने की उसमें तथा इल्दौज में होड़ लगी हुई थी। जब खिलजी एवं ख्वारिज्म की शक्तियों ने कुबैचा को हरा दिया तो उन्होंने ईल्तुतमिश के यहाँ शरण ली तथा उसने उनके अधिकारों को उचित माना। वह उच्छ के लिए सरहिन्द होते हुए दिल्ली से रवाना हुआ तथा साथ में एक विशाल सेना ली। सुलतान को आक्रमण के लिए आते हुए सुनकर कुबैचा ने भक्कर के किले में अपने को बन्द कर लिया। शाही सेना उच्छ में घेरा डाले रही तथा २ माह २७ दिन के लगातार घेरा डाले रहने के पश्चात्

१२२७ ई० में यह किला सुलतान के कब्जे में आ गया। उच्छ के किले के अधिकार से निकल जाने पर कुवैचा का दिल टूट गया और वह अपनी जान बचाने के लिए नाव पर बैठकर चल दिया परन्तु सिन्धु में डूबकर मर गया।

खलीफा द्वारा खिताब का मिलना—१२२८ ई० में ईल्तुतमिश को बगदाद के खलीफा ने कुछ खिताब दिये जिससे भारत में मुसलमान शक्ति का सम्मान बढ़ गया। खलीफा ने उसके राज्याधिकार को उचित निर्दिष्ट किया जिसके फलस्वरूप उन लोगों की जबान बन्द हो गई जो उसको निम्न जन्म के कारण सिंहासन का वास्तविक अधिकारी न मानते थे। इसके अतिरिक्त उसने उसे एक ऐसी उपाधि दी जो सारी इस्लामी दुनिया में प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखी जाती थी। शाही टकसाल से निकले हुए सिक्के में खलीफा का नाम खुदा हुआ था तथा सुलतान को 'अमीरुल मोमनीन के सेनापति का सहायक' कहा गया था। अतः सिक्कों के मुद्रण की व्यवस्था नवीन योजना के अनुकूल की गई तथा ईल्तुतमिश ने प्रथम बार शुद्ध अरबी सिक्के बनवाये तथा १७५ ग्रेन वजन का चाँदी का सिक्का टंका सामान्य सिक्का हो गया।

अन्य विजय—बंगाल में लखनौती में खिलजी मलिकों ने विद्रोह किया परन्तु उनका दमन कर दिया गया। १२३१ ई० में ग्वालियर के किले पर कब्जा हो गया तथा राजा शरण पाने के लिए भाग निकला। एक वर्ष पश्चात् सुल्तान ने मालवा पर आक्रमण कर भिलसा के किले पर अधिकार कर लिया। उसके पश्चात् तुरन्त उज्जैन पहुँचकर उसने उस पर भी कब्जा कर लिया। इन विजयों से प्रोत्साहित होकर उसने नवीन आक्रमणों की योजना की परन्तु १२३५ ई० में बीमार होकर वह मर गया।

ईल्तुतमिश का चरित्र—निस्संदेह ईल्तुतमिश ही गुलामवंश का वास्तविक संस्थापक था। कुतुबुद्दीन ने जिन प्रदेशों पर विजय प्राप्त की थी उस विजय को स्थायी रूप इसी ने दिया। कुछ सीमा के प्रदेशों को छोड़कर उसने प्रायः समस्त हिन्दुस्तान पर अधिकार कर लिया तथा अपने शत्रुओं के साथ व्यवहार करने में उसने वीरता और निर्भयता से काम लिया। यद्यपि वह सदैव सैनिक कार्यों में व्यस्त रहता था परन्तु फिर भी पवित्र एवं विद्वान् पुरुषों का आदर करता था। वह बहुत ही धार्मिक था तथा उसकी धर्मनिष्ठा को देखकर

मुलाहियों ने उसे मारने के लिए षड्यन्त्र रचा। परन्तु उसके सौभाग्य से वे उसमें सफल न हुए। सुल्तान को इमारतें बनवाने का भी बड़ा शौक था और भारत की प्रसिद्ध इमारतों में अपना विशिष्ट स्थान रखनेवाली कुतुबमीनार आज भी उसकी महानता के स्मारकस्वरूप उपस्थित है। जब तक वह जीवित रहा तब तक उसने एक महान् शासक की भाँति व्यवहार किया। उसका समकालीन इतिहासकार मिनहाजुस्सिराज उसके गुणों की निम्न शब्दों में प्रशंसा करता है—"आज तक ऐसा कोई शासक नहीं हुआ जिसमें इतनी आदर्श धर्म-निष्ठा, दरवेशों एवं मौलवियों, मुल्लाओं के प्रति इतनी श्रद्धा रही हो।"

ईल्तुतमिश का निर्बल उत्तराधिकारी—ईल्तुतमिश भली भाँति जानता था कि उसके पुत्र शासन के अयोग्य हैं। अतः उसने अपनी बेटी रजिया को अपना उत्तराधिकारी बनाया। परन्तु अमीर लोग नहीं चाहते थे कि सिंहासन पर कोई स्त्री बैठे। अतः उन्होंने ईल्तुतमिश के पुत्र रुकुनुद्दीन को युवराज बनाया जो बहुत ही विलास-प्रिय एवं कामी था। इधर युवराज अपने भोग-विलास में संलग्न रहता था और उधर राज्य-कार्यों की देखभाल उसकी वीर एवं महत्त्वाकांक्षी माँ कर रही थी। परन्तु जब माँ और बेटे ने मिलकर राजवंश के एक दूसरे युवराज कुतुबुद्दीन का कत्ल करा दिया तो अमीर उनके विरुद्ध हो गये। अवध, बदायूँ, हाँसी, मुल्तान और लाहौर के शासकों ने आम विद्रोह कर दिया। परिस्थिति और भी भयंकर हो गई जब कि ईल्तुतमिश की उत्तराधिकारिणी ज्येष्ठ पुत्री रजिया को राजमाता ने मरवा डालने की चेष्टा की। परन्तु इस षड्यन्त्र का भेद खुल गया। अतः रुकुनुद्दीन को पकड़कर कारागार में डाल दिया गया जहाँ वह १२३६ ई० में मर गया। सारे अमीर रजिया के झण्डे के नीचे एकत्र हुए और उसे अपनी सुल्ताना स्वीकार किया।

रजिया की नीति—रजिया एक प्रतिभाशाली स्त्री थी। एक समकालीन इतिहासकार उसके विषय में लिखता है कि "वह बुद्धिमती, न्यायशालिनी, उदार एवं विद्वान् की संरक्षिका तथा योग्य शासिका थी। वह प्रजा का पालन करती, सबके साथ समान न्याय करती थी। इसके अतिरिक्त उसमें रण-कौशल इत्यादि वे सभी गुण थे जो कि एक योग्य शासक में होने चाहिए।

परन्तु चूंकि सृष्टि-विधान के कारण वह मनुष्यों की समकक्ष न हो सकी अतः इन उत्तम गुणों से कोई लाभ न उठा सकी। उसने शासक रूप धारण करने की बड़ी चेष्टा की, जनानी पोशाक उतार डाली, जनाने महलों का एकान्तवास छोड़ दिया, मर्दानी पगड़ी पहनना शुरू किया तथा खुले दरबार में राजकार्य करना प्रारम्भ किया। उसने हिन्दुओं एवं विपक्षी मुसलमान सामन्तों को दबाने की चेष्टा की तथा स्वयं लाहौर के शासक पर आक्रमण कर उसे अधीनता स्वीकार करने पर विवश किया। परन्तु उसका स्त्रीत्व ही उसकी सबसे बड़ी निर्बलता सिद्ध हुई जैसा कि एक इतिहासकार कहता है उसके सारे गुण उसे इस एक दुर्बलता से न बचा सके। उसने इस दुर्बलता का प्रदर्शन तब किया जब वह अपने अस्तबल के रक्षक एक हब्शी गुलाम जमालुद्दीन याकूत के साथ प्रेम करने लगी। स्वतन्त्र अमीरों ने बेगम के इस पक्षपात पर असन्तोष प्रकट किया क्योंकि तुर्की मामलूकों की सेना को जो 'चालीसी' के नाम से प्रसिद्ध थी, उनसे अधिक अधिकार दिये गये। यह असन्तोष की भावना तब और भी बढ़ गई जब कि खुलेआम उपस्थित होकर सुल्ताना ने कट्टर मुसलमानों की धार्मिक भावना को ठेस पहुँचाई।

अल्तूनियाँ का विद्रोह—सरहिन्द का विद्रोही शासक अल्तूनियाँ पहला आदमी था जिसने उसके विरुद्ध विद्रोह किया। विद्रोह का दमन करने के लिए रजिया राजधानी से चल पड़ी। जब वह तवरहिन्द पहुँची तो तुर्की अमीरों ने उसके प्रेमी याकूत को मार डाला तथा उसे दुर्ग में बन्दी बनाकर रख लिया। सुल्ताना अपने पकड़नेवालों की अपेक्षा ज्यादा चालाक निकली। उसने अल्तूनियाँ पर अपना जादू फेंका। उसने रजिया के खोये हुए साम्राज्य को वापस पाने के लिए दिल्ली पर आक्रमण किया। इसके भाई मुईजुद्दीन बहराम शाह ने जिसे कि अमीरों ने शासक घोषित किया था सुल्ताना एवं उसके पति का एक बड़ी सेना लेकर सामना किया और युद्ध में परास्त कर दिया। अल्तूनियाँ के साथियों ने उसे धोखा दिया। अतः वह अपनी पत्नी सहित हिन्दुओं के हाथ में पड़ गया जिन्होंने उन लोगों को १२४० ई० में मार डाला। रजिया केवल साढ़े तीन वर्ष शासन कर पाई।

नासिरुद्दीन महमूद—रजिया के पश्चात् उसके भाई बहराम तथा मसूद

गद्दी पर बैठे परन्तु वे दोनों ही इतने बड़े राज्य की बागडोर सँभालने में अयोग्य सिद्ध हुए। १२४६ में मसऊद की मृत्यु के पश्चात् ईल्तुतमिश का एक दूसरा पुत्र नासिरुद्दीन महमूद शाह गद्दी पर बैठा। वह ईश्वर से डरने-वाला, पाकदिल एवं दयालु शासक था और दीन-दुखियों के साथ सहानुभूति रखता था। विद्वानों को आश्रय देता था। यह एक दरवेश की भाँति एकान्त जीवन व्यतीत करता था तथा शाही भोग एवं आनन्द से उसे प्रेम न था। वह कुरान की नकल करके अपनी जीविका कमाता था। स्वभाव और चरित्र दोनों से ही वह ऐसे समय में दिल्ली का शासक होने के योग्य न था जबकि आन्तरिक कलह एवं हिन्दुओं के विद्रोह से साम्राज्य की नींव खोखली हो चुकी थी। मंगोल भारत के सीमा-द्वार पर आ चुके थे। परन्तु सौभाग्य से सुल्तान का मंत्री बलबन एक योग्य पुरुष था। उसने अपने स्वामी के जीवन भर उस राज्य की आन्तरिक एवं बाह्य नीति का सुचारु रूप से संचालन किया।

बलबन का प्रारम्भिक जीवन-काल—बलबन इलबरी जाति का एक तुर्क था। उसका बाप दस हजार कुटुम्बों का खान था। जब वह युवावस्था को प्राप्त हुआ तो उसे मंगोलों ने पकड़ लिया और बगदाद ले जाकर बसरा के ख्वाजा जमालुद्दीन के हाथ बेच दिया। ख्वाजा उसे दिल्ली ले आया जहाँ ईल्तुतमिश ने उसे खरीद लिया। बलबन सुल्तान का खासा बरदार नियुक्त किया गया। रजिया के समय में वह अमीर-शिकार बना दिया गया। शीघ्र ही वह चालीस गुलामों की प्रसिद्ध पलटन का सदस्य बन गया। बहराम ने उसे रवाड़ी की जागीर दी जिसमें आगे चलकर हाँसी का जिला और मिला दिया।

जब अपने नेता मंगू की अध्यक्षता में मंगोलों ने सिन्ध पर आक्रमण किया और १२४५ ई० में उच्छ के किले के चारों ओर घेरा डाल दिया तो बलबन ने उसे मार भगाने के लिए एक विशाल सेना का सगठन किया। अपनी रण-कुशलता एवं निर्भीकता द्वारा उसने मंगोलों को बुरी तरह परास्त किया और इस्लाम की विजय-पताका को फहराया। जब १२४६ ई० में नासिरुद्दीन सिंहासन पर बैठा तो वह राज्य का प्रधान मंत्री नियुक्त हुआ।

सन् १२४६ ई० में बलबन ने रावी नदी को पार कर, जूद और झेलम

की पहाड़ियों को छान डाला। खोखरों एवं अन्य विद्रोही सम्प्रदायों को दबाया। विद्रोही हिन्दू राजाओं का दमन करने के लिए उसने दोआब पर अनेक बार चढ़ाई की। कालिंजर और कड़ा के नीचे के प्रदेश मलाकी के राणा को उसने परास्त किया तथा मेवाड़ एवं रणथम्भौर लूटे गये। विद्रोही मुसलमान शासकों का दमन किया गया। ग्वालियर, चन्देरी, नरवर एवं मालवा पर भी उसका आतंक जम गया।

छः महीने पश्चात् जब सुल्तान ने उच्छ और मुल्तान पर आक्रमण किया तो बलबन से ईर्ष्या करनेवाले इमादुद्दीन रिहान ने उसके विरुद्ध सुल्तान के कान भरे। फलतः १२५३ ई० में वह दरबार से निकाल दिया गया और इमादुद्दीन को राजधानी में वकील-ए-दर[१] बनाया गया।

इमादुद्दीन एक धर्म-त्यागी हिन्दू था। अतः उसके इस पद से दरबार के अमीरों एवं मालिकों के स्वाभिमान को ठेस पहुँची जो कि सब शुद्ध रक्त के तुर्क एवं उच्च वंश के ताजिक थे। इन्होंने इमादुद्दीन की अधीनता में काम करना अपना अपमान समझा। फलस्वरूप शासन-व्यवस्था ढीली पड़ गई और चारों ओर से प्रार्थनाएँ आने लगीं कि सुल्तान उसे बर्खास्त कर दें। शक्तिशाली मलिकों ने रिहान को बर्खास्त करने पर सुल्तान को राजी कर लिया। उसे बदायूँ की जागीर दे दी गई और बलबन फरवरी सन् १२५४ ई० में पुनः राजधानी लौट आया।

विद्रोह-दमन—जब १२५५ ई० में अवध के शासक कुतलुग खाँ ने विद्रोह किया तो बलबन ने उस पर आक्रमण किया और पीछे हटने के लिए विवश किया। सभी असन्तुष्ट मलिकों तथा हिन्दुओं ने कुतलुग खाँ का साथ दिया तथा सिन्ध के शासक ईजुद्दीन बलबन कश्लू खाँ ने कुतलुग खाँ का अनुकरण कर विद्रोह किया और इस प्रकार उसका साथ दिया। दोनों मलिकों ने अपनी संयुक्त सेना को समाना के किनारे इकट्ठा किया और दिल्ली की ओर बढ़े। परन्तु वे अपनी

१—वकील-ए-दर राजा के महल के फाटक की कुंजियाँ अपने पास रखता था। यह पद मुगलों के समय में भी चलता रहा और उनकी दृष्टि में बहुत महत्त्वपूर्ण था।

इस योजना में सफल न हो पाये। १२५७ ई० के अन्त में मंगोलों ने पुनः सिन्ध पर आक्रमण किया परन्तु जब शाही सेना उसका सामना करने के लिए वहाँ पहुँची तो वे हट गये।

अन्तिम आक्रमण—अन्तिम आक्रमण १२५९ ई० में मेवात के पहाड़ी प्रदेश पर हुआ जहाँ पर विद्रोही अपने हिन्दू नेता मलका की अध्यक्षता में लूट-मार कर रहे थे और गाँवों को तहस-नहस कर हरियाना, सिवालिक एवं वियाना जिले के किसानों को परेशान कर रहे थे। उलुग खाँ ने विद्रोहियों को परास्त कर सारे प्रदेश की रक्षा की।

बलबन के महान् कार्य—प्रायः २० वर्ष तक बलबन ने राज्य की अनेक संकटों से रक्षा की तथा उपद्रवों को सख्ती के साथ दबाया। सीमान्त प्रदेशों में उसने पर्याप्त सेना रख छोड़ी थी। एक बड़ी सेना का संगठन कर उसने मंगोल आक्रमणकारियों को मार भगाया। हिन्दुओं के विद्रोह का उसने दमन किया और असन्तुष्ट अमीर एवं मलिकों को भी शृंखला में रक्खा। यदि बलबन की शक्ति न होती तो सम्भवतः दिल्ली का साम्राज्य इतने आन्तरिक झगड़ों एवं बाह्य आक्रमणों के धक्के को बर्दास्त न कर पाता।

बलबन का राजा बनना—सन् १२६६ ई० में नासिरुद्दीन की मृत्यु के पश्चात् बलबन राजा हुआ। उसका पहला काम था शासन-व्यवस्था का पुनर्संगठन तथा मंगोलों के आक्रमणों को रोकने के उपायों को ढूँढ़ निकालना। बर्नी लिखता है कि : "शासक का भय जो कि अच्छी शासन-व्यवस्था की जड़ है एवं राज्य के ऐश्वर्य एवं वैभव का मूल है, लोगों के हृदयों से निकल चुका था तथा देश की बुरी दशा थी।" सख्त सजाओं एवं कठिन नियमों द्वारा शासन-कला में निपुण नवीन सुल्तान ने विद्रोह-भावना का दमन किया। अन्य लोगों को राजा की आज्ञा पालन करने का पाठ पढ़ाया।

सुरक्षा एवं व्यवस्था—बलबन का सबसे महान् कार्य दिल्ली के पास-पड़ोस में एवं दोआब में व्यवस्था स्थापित करना था। उपद्रव करनेवाले मेवातियों का दमन किया गया तथा राज्यमार्गों पर फिरनेवाले डाकुओं को,

जिन्होंने यात्रा एवं वाणिज्य के कार्यों में उपद्रव मचा रक्खा था, पकड़ा गया तथा उन्हें दण्ड दिया गया। एक समकालीन इतिहासकार लिखता है कि "डाकुओं के स्थान रक्षा-गृह बन गये तथा अब डाकुओं के स्थान पर मुसलमान रक्षक नियुक्त किये गये।"

इसके पश्चात् सुल्तान ने जूद के पर्वतीय प्रदेश में फैली हुई अव्यवस्था की ओर ध्यान दिया। इस आक्रमण में बड़ी सफलता मिली परन्तु इससे सुल्तान को शम्शी राजभक्तों की अयोग्यता का पता चल गया जिन्हें राज्य की ओर से जागीरें मिली हुई थीं परन्तु जो स्वयं राज्य की कोई सेवा न करते थे। अतः इसकी जाँच की गई और उनकी पहले की शक्ति कम कर दी गई।

आन्तरिक शासन––बलबन ने आन्तरिक शासन-व्यवस्था को विशेष सुदृढ़ बनाया। इस व्यवस्था का रूप आधा सैनिक था। उसके हाथ में सारी शक्ति थी। वह अपनी आज्ञाओं का कठोरता के साथ पालन कराता था। उसने अपने पुत्रों तक को जो कि विभिन्न प्रान्तों के शासक थे, विशेष अधिकार न दिये थे। अतः सभी जटिल मामलों में उन्हें सुल्तान की राय लेनी पड़ती थी। उसकी आज्ञा का अक्षरशः पालन करना पड़ता था। न्याय करते समय वह अपने सम्बन्धियों तक का पक्षपात न करता था और जब कभी उसके सम्बन्धियों या मित्रों ने कोई अन्याय किया तो उसने तुरन्त सताये हुए मनुष्य का साथ दिया और उसके दुःख को कम करने का प्रयत्न किया। सुल्तान के न्याय का इतना आतंक एवं भय छाया हुआ था कि किसी को साहस न होता था कि वह अपने नौकर अथवा गुलाम तक के साथ दुर्व्यवहार करे। जब चार हजार मनसबवाले बदायूं के जागीरदार मलिक वरवक ने अपने एक नौकर को पीटते पीटते मार डाला तो उसकी विधवा ने सुल्तान के पास इसकी शिकायत की। सुल्तान ने मुद्दई के सामने उसी प्रकार मलिक के कोड़े लगवाने की आज्ञा दी तथा उन गुप्तचरों को सार्वजनिक रूप से प्राणदण्ड दिया जिन्होंने कि इसकी खबर तुरन्त उसके पास न दी थी। किसी भी निरंकुश शासन को ठीक प्रकार से चलाने के लिए कुशल गुप्तचरों का संगठन होना आवश्यक है। अतः बलबन ने अपनी इस

न्याय-व्यवस्था को पूर्णरूप से सफल बनाने के लिए जागीरों में गुप्तचर नियुक्त किये थे जो उसे सब अन्यायों की खबर देते थे। उसने प्रत्येक गुप्तचर का स्थान एवं सीमा नियत कर दी थी और जब उसे किसी अन्याय की खबर मिलती थी तो वह पद या वंश की पर्वाह नहीं करता था। यहाँ तक कि बुगरा खाँ तक के कार्यों का गुप्तचर निरीक्षण किया करते थे और ऐसा कहा जाता है कि उसकी गति-विधि का ज्ञान रखने के लिए सुल्तान सतत: प्रयासशील रहता था। निस्सन्देह इन गुप्तचरों के कारण अपराधों की मात्रा कम थी। शक्तिमानों के अत्याचार से गरीब लोग बच जाते थे, परन्तु अवश्य ही उनकी उपस्थिति से जाति के नैतिक चरित्र का पतन हुआ होगा और सामाजिक जीवन की अनेक न्याय्य एवं निर्दोष सुविधाओं की कमी हुई होगी।

मंगोल—परन्तु सुल्तान को सबसे अधिक भय था मंगोलों के द्वारा आक्रमण का। यद्यपि उसकी सेना विशाल एवं संगठित थी परन्तु वह दिल्ली छोड़कर कहीं न जाता था और वहीं से भगोड़े सम्प्रदायों के आक्रमण से साम्राज्य की रक्षा करने की व्यवस्था किया करता था। मंगोलों ने लाहौर पर अधिकार कर लिया था तथा आये दिन सिन्ध एवं पंजाब के प्रदेशों पर आक्रमण किया करते थे। सुल्तान कभी राजधानी से बाहर नहीं जाता था और वहीं से अपने साम्राज्य के निर्बल भागों का निरीक्षण करता था। उत्तरी सीमा-प्रदेश के पास के मुल्तान एवं सामाना के सूबों का उसने अपने ही लड़कों मुहम्मद और बुगरा खाँ को शासक बना रक्खा था क्योंकि इन पर हमेशा आक्रमण का भय रहता था। ये शासक मुगल आक्रमणकारियों का सामना करने के लिए सदा एक विशाल एवं रणकुशल सेना रखते थे। परन्तु मंगोलों के आक्रमण के इस निरन्तर भय से उसकी बाह्य नीति बहुत प्रभावित हुई। फलस्वरूप उसने सुदूर प्रदेशों पर विजय प्राप्त करने का कभी प्रयास नहीं किया। उसका पूरा ध्यान केवल एक ओर रहता था कि किस प्रकार से मंगोलों के आक्रमणों से वह अपनी तथा अपने साम्राज्य की रक्षा करे। यहाँ तक कि शासन-व्यवस्था का पुन: संगठन भी उसने केवल इसी दृष्टि से किया कि किस प्रकार साम्राज्य इतना सबल हो जाय कि वह इन विपत्तियों का

सफलतापूर्वक सामना कर सके। अमीर[1] खुसरो ने इस बर्बर[2] एवं भगोड़ी जाति का जो विवरण दिया है उससे हमें उनके आक्रमणों की भीषणता एवं रक्तपात का कुछ पता चल सकता है क्योंकि यह कवि स्वयं एक बार उनके हाथों में पड़ चुका था; अतः उसके इस विवरण में उसकी व्यक्तिगत भावना भरी हुई है। वह लिखता है—'ये तातार, काफिरों एवं अन्य जातियों के सैनिक एक हजार से अधिक थे जो कि लौह शरीरवाले युद्धों के वीर संचालक थे तथा ऊँटों पर चढ़ते थे। इनके मुख आग की तरह लाल थे तथा सिर मुँडे हुए जिन पर भेड़ की खाल की टोपियाँ थीं तथा शरीर पर सूती कपड़े। उनकी आँखें इतनी छोटी एवं तेज थीं कि मालूम होता था कि जैसे किसी ताँबे के बर्तन में कोई छेद कर दिया गया हो—उनके सिर बिलकुल उनके शरीर से जुड़े हुए मालूम होते थे जैसे कि उनके गर्दन ही न हो। अनेक झुर्रियों एवं बालोंवाले उनके गाल चमड़े की बोतलों की तरह मालूम होते थे। उनकी नाकें एक गाल से दूसरे गाल तक फैली हुई मालूम होती थीं तथा उनका मुँह एक गाल की हड्डी से दूसरे गाल की हड्डी तक। उनकी मूँछें बड़ी लम्बी थीं और उनकी ठुड्ढी के पास बहुत थोड़ी-सी दाढ़ी रहती थी। वे अनेक सफेद दैत्य की तरह मालूम होते थे जिन्हें देखकर डर से लोग भागते थे। हिन्दूकुश के

१—अबुलहसन जो कि अपने उपनाम अमीर खुसरो के नाम से विशेष प्रसिद्ध है भारतवर्ष का सबसे बड़ा मुसलमान कवि था जो कि पटियाली में ६५१ हिजरी (१२५३ ई०) में पैदा हुआ तथा दिल्ली में ७२५ हिजरी में मर गया (१३२४-१३२५ ई०)। जब वह लड़का ही था तो वह शेख निजामुद्दीन औलिया का शिष्य बन गया। वह बलबन की सेवा में उसके पुत्र शहजोद मुहम्मद के मुसाहिब के रूप में दाखिल हुआ जो कि विद्वानों की संगति पसन्द करता था। धीरे-धीरे वह बढ़ने लगा, यहाँ तक राज-कवि के पद को उसने प्राप्त कर लिया। अपने प्रिय फकीर निजामुद्दीन औलिया की मृत्यु के शोक में मर गया। उसने अनेक पुस्तकें लिखी हैं जिनका कि सूक्ष्म विवरण इलियट तृतीय, पृष्ठ ५६७-९२ तथा ५२३-६७ में दिया हुआ है।

२—इन बर्बर जातियों का अधिक विवरण जानने के लिए देखो, इलियट तृतीय, उपक्रमणिका, पृष्ठ ५२८-२९।

उस पर ठंढे प्रदेशों से आनेवाले ये साहसी एवं निर्दय आक्रमणकारी आसानी से न टाले जा सकते थे। अतः बलबन ने अन्य सब बातों को छोड़कर केवल पहले आत्म-रक्षा का उपाय सोचा और उनके रोज के आक्रमणों को रोकने के लिए सदा अपनी सेना तैयार रक्खी।

तुगरिल का उपद्रव—१२९७ ई०—बलवन के द्वारा नियुक्त किये हुए बंगाल के शासक तुगरिल खाँ को उसके मंत्रियों ने भड़का दिया और उसे यह सुझाया कि सुल्तान वृद्ध है, उसके दोनों लड़के मंगोलों का आक्रमण रोकने में तत्पर हैं। बिना नेतावाले अमीरों के पास न तो इतनी शक्ति है और न इतने साधन कि वह लखनौती आकर उसके स्वतन्त्र होने के प्रयास को विफल कर सके। तुगरिल[१] ने उनकी इन गलत एवं दुष्टताभरी सलाहों को मान लिया और इस महत्त्वाकांक्षा को हृदय में पालने लगा। उसने जाजनगर पर आक्रमण किया तथा अनेक बहुमूल्य वस्तुओं एवं हाथियों को लूटकर सब लूट के माल को स्वयं ही रख लिया। इस अवज्ञा के साथ ही उसने अपनी स्वतन्त्रता भी घोषित कर दी। सुल्तान मुगीसुद्दीन के शाही नाम को धारण कर अपने नाम के सिक्के ढलवाये तथा अपने ही नाम का खुतवा पढ़वाया। विशाल सम्पत्ति के अधिकार में आ जाने से उसने अपने मित्रों को भेंटें भी दीं। जैसा कि बर्नी लिखता है धन ने स्पष्टदर्शियों की आँखें बन्द कर दीं। तथा सोने के लालच के कारण अधिक बुद्धिमानों ने एकान्त ग्रहण कर लिया। राज-विद्रोह की भावना इतनी फैल चुकी थी कि क्या सिपाही और क्या नागरिक कोई राजसत्ता को मानने को तैयार न था। विद्रोही शासक का साथ देने को तैयार थे।

यह समाचार सुनकर सुल्तान बहुत ही व्यग्र हुआ। शाही सेना ने सरयू पार कर आक्रमण करने के लिए लखनौती की ओर प्रस्थान किया परन्तु बंगाल में तुगरिल ने उसका सामना कर उसे परास्त किया क्योंकि उसकी उदारता के

१—तुगरिल पहले एक तुर्की गुलाम था जिसको बलबन ने खरीदा था। एक वीर एवं रणकुशल आदमी होने के कारण उसने पास के प्रदेशों के राजाओं को परास्त किया एवं उन्हें कर देने के लिए विवश किया।

कारण बहुत से सहायक उसके झण्डे के नीचे आ गये थे। दिल्ली की सेना भाग खड़ी हुई उनमें से बहुतों ने तो अपना पक्ष छोड़कर विद्रोहियों के पक्ष को ग्रहण कर लिया।

दूसरे आक्रमण का भी यही परिणाम हुआ। अपनी सफलता से उत्साहित होकर तुगरिल लखनौती से निकलकर शाही सेना पर टूट पड़ा तथा उसे परास्त कर दिया। इस पराजय का हाल सुनकर सुल्तान लज्जा एवं क्रोध से भर गया और उसने विद्रोहियों से बदला लेने का प्रण किया। दिल्ली के शासन को मलिक फखरुद्दीन के हाथ में सौंपकर स्वयं सामाना एवं सुन्नम की ओर बढ़ा और अपने पुत्र बुगरा खाँ को बंगाल साथ चलने को कहा। शाहजादा मुहम्मद को उसने यह हिदायत की कि वह भाई के प्रान्त के शासन की देख-भाल रखे एवं मंगोलों के आक्रमणों के प्रति सतर्क रहे। एक विशाल सेना लेकर बरसात ही में सुल्तान लखनौती की ओर चल पड़ा। उसने अवध में आम-भर्ती का हुक्म दिया। तथा प्रायः दो लाख आदमी सेना में भर्ती किये। नावों का एक बहुत बड़ा बेड़ा बनाकर शाही सेना ने सरयू को पार किया परन्तु बरसात के कारण बंगाल के दलदल में उनकी शक्ति कम पड़ गई। जब शाही सेना कीचड़ तथा जल से होती हुई बंगाल की राजधानी पहुँची तो पता चला कि शाही सेना का मुकाबिला करने में अपने को असमर्थ समझकर शत्रु चुने हुए सैनिकों, हाथियों एवं खजाने को लेकर जाजनगर के जंगलों में भाग गया। शाही सेना ने उसका पीछा किया तब बहुत खोज के पश्चात् उसके शिविरों का पता लग सका। उसका सिर काट लिया गया तथा उसके अनुयायी बन्दी किये गये। जिन लोगों ने सुल्तान की सेवा में अपनी जान खतरे में डाली थी उन्हें उसने इनाम दिया।

बलबन लखनौती लौट आया जहाँ पर बाजार के दोनों ओर सूली-गृह बनाये गये जहाँ पर तुगरिल के सभी साथियों एवं सम्बन्धियों को फाँसी पर लटका दिया गया। यह भीषण दण्ड दो तीन दिन तक दिये जाते रहे और कहा जाता है कि काजियों तथा मुफ्तियों तक को बड़ी कठिनता के बाद क्षमा मिली। जब यह रक्तपात समाप्त हुआ तो बलबन ने इस प्रदेश में शान्ति एवं शासन-व्यवस्था स्थापित करने का प्रबन्ध किया। उसने इस प्रान्त

को अपने पुत्र बुगरा खाँ के सुपुर्द किया तथा उसे हिदायत की कि वह शेष बंगाल पर आधिपत्य एवं शान्ति स्थापित कर विद्रोही पक्षों को उखाड़ फेंके। इसके बाद एक तीक्ष्ण दृष्टि के साथ सुल्तान ने शाहजादे से पूछा—"तुमने देखा?" शाहजादा न समझ सका कि इस प्रश्न से उसके पिता का क्या अभिप्राय है। सुल्तान ने दुबारा कहा—"तुमने देखा?" शाहजादे ने कोई जवाब न दिया तो सुल्तान ने प्रश्न तीसरी बार दुहराया एवं कहा—"तुमने बाजार में मेरे दण्ड को देखा।" शाहजादे ने विनय से सर झुका लिया। तब उस निर्दय बाप ने इस प्रकार उसे सम्बोधित किया—"यदि कभी दुष्ट पुरुष तुमको भड़कावें कि तुम दिल्ली की अधीनता न मानों तथा स्वतंत्र हो जाओ, तब बाजार में लिये गये बदले के दृश्यों को याद रक्खो। मुझे समझो एवं इस बात को मत भूलो कि हिन्द या सिन्ध, मालवा या गुजरात, लखनौती या सुनारगाँव के शासक विद्रोह-भावना से प्रेरित होकर यदि दिल्ली के सिंहासन के विरुद्ध अपनी तलवार खींचने का कभी विचार करेंगे तो उनकी स्त्रियों, बच्चों एवं साथी सम्बन्धियों की वही दशा होगी जो कि तुगरिल और उसके साथियों की हुई। उसने बुगरा खाँ को दुबारा मुलाकात के लिए बुलाया तथा राजनैतिक मामलों पर उसे उपदेश दिया। चलते समय उसने उसे प्रेम से हृदय में लगाकर बिदा ली। दिल्ली पहुँचकर उसने उन दिल्ली निवासियों को फाँसी देने के लिए जिन्होंने पिछले विद्रोह में विद्रोहियों का साथ दिया था, अनेक फाँसीघरों के बनाने की आज्ञा दी। बड़ी कठिनाई से सेना का काजी सुल्तान की इस क्रूर आज्ञा को रोकने में सफल हो सका।

शाहजादा मुहम्मद की मृत्यु—उपद्रव तो सफलतापूर्वक शान्त कर दिया गया परन्तु सुल्तान को एक कौटुम्बिक मृत्यु का शोक उठाना पड़ा। १२८५ ई० में अपने नेता समर की अध्यक्षता में मंगोलों ने जब पंजाब पर चढ़ाई की तो उसका पुत्र मुहम्मद जो कि मुल्तान का शासक बनाया जा चुका था मंगोलों के आक्रमण का सामना करने के लिए दिपालपुर एवं लाहौर की ओर बढ़ा। परन्तु वह युद्ध में परास्त हुआ और मारा गया। इस प्राणोत्सर्ग के कारण वह मृत्यु के उपरान्त 'बलिदानी युवराज' कहलाया। सुल्तान को इससे इतना दुःख हुआ कि वह कुछ ही दिनों बाद १२८६ ई० में मर गया और मरते

समय एक वसीयत छोड़ गया जिसमें उसने अपने नाती कै-खुसरो को अपना उत्तराधिकारी नियत किया। जैसे ही उसकी मृत्यु हुई, उसके अमीरों ने उसकी इस अन्तिम वसीयत का विरोध किया तथा कैकुबाद को गद्दी पर बिठाया, परन्तु उनका यह निर्वाचन उत्तम न रहा जिसके फलस्वरूप थोड़े ही दिनों में गुलामवंश का अन्त हो गया।

बलबन का व्यक्तित्व—बलबन का जीवन मध्यकालीन भारत के इतिहास में एक अनोखी सी चीज है जिसमें हम चालीस वर्ष तक की निरन्तर एवं कठिन क्रियाशीलता पाते हैं। उसने सुल्तान-पद के गौरव को बढ़ाया तथा रक्त एवं अस्त्र की नीति से शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना की। उसका दरबार बहुत आलीशान था जहाँ पर सार्वजनिक अवसरों पर वह बहुत धूम-धाम से जाता था। वह हमेशा सुसंस्कृत पौर्वात्य, शासकों की तरह व्यवहार करता था। उसको राजकीय गौरव का इतना ध्यान रहता था कि वह अपने निजी नौकरों के सामने भी बिना पूरी पोशाक पहने न जाता था। वह स्वयं दरबार में कभी जोर से न हँसता था और न मजाक करता था और न किसी को यह आज्ञा ही थी कि वह उसकी उपस्थिति में हँस सके या मजाक कर सके। वह नीचे दर्जे के आदमियों से घृणा करता था तथा किसी भी मित्र से अथवा अपरिचित से वह आवश्यकता से अधिक घनिष्ठता न रखता था। वह अपने पद के गौरव की रक्षा के लिए इतना प्रयासशील रहता था कि एक बार उसने एक मनुष्य द्वारा की हुई लाखों की भेंट को स्वीकार करने से इनकार कर दिया क्योंकि वह उच्च वंश का न होकर एक साधारण मनुष्य था जो कि अचानक धनी हो गया था। किसी भी राजकीय पद के लिए सबसे बड़ी अयोग्यता निम्न कुल में जन्म था। अतएव राजपदाधिकारी एवं अमीर कभी भी कुलीनों को छोड़कर किसी की राजकीय पदों के लिए सिफारिश नहीं करते थे। अपने यौवन-काल में बलबन मदिरा पीता था परन्तु सुल्तान होते ही उसे उसने छोड़ दिया। वह शिकार का बड़ा शौकीन था तथा कभी कभी शिकार के लिए वह बहुत दूर निकल जाया करता था। अपने व्यक्तिगत जीवन में वह दयालु था। वह अपने सम्बन्धियों एवं पुत्रों से प्रेम करता था। यदि कोई अपरिचित भी आकर उसके दरबार में शरण लेते तो वह उनके

साथ उदारता का व्यवहार करता था। यद्यपि उसको अपने जीवन में अनेक उपद्रवों का सामना करना पड़ा परन्तु वह साहित्य का भी प्रेमी था तथा साहित्यिकों का संरक्षण करता था। सब बातों का ध्यान रखते हुए यह बात माननी पड़ेगी कि बलबन एक बहुत ही उच्च कोटि का शासक था जिसने भारत में मुस्लिम सत्ता के बाल्यकाल की मंगोलों के आक्रमण से रक्षा की एवं एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की जिसमे आगे चलकर अलाउद्दीन खिलजी शासन एवं सेना-संबंधी सुधार करने में सफल हो सका।

गुलाम-वंश का पतन—बलबन की मृत्यु के पश्चात् एक ऐसी कमी हो गई जिसकी पूर्ति होना असंभव था। उसके पश्चात् कोई ऐसा न रह गया था जो कि उसके बाद शासन की बागडोर अच्छी तरह सँभाल सके जिसे कि उसने बीस वर्ष तक सफलतापूर्वक चलाया था। मध्यकालीन युग में व्यक्तिगत योग्यता पर राजनैतिक सफलता बहुत कुछ निर्भर थी। जैसे ही मृत्यु के पश्चात् सुल्तान का मजबूत हाथ राजसत्ता से हटा वैसे ही सारे राज्य-प्रबंध में गड़बड़ी फैल गई तथा शासन व्यवस्था की शक्ति एवं न्याय-प्रियता से लोगों की आस्था उठ गई।

कैकुबाद जो कि केवल सत्रह वर्ष का था दिल्ली के कोतवाल के षड्यन्त्रों द्वारा सिंहासन पर बैठ गया। लड़कपन से ही वह इस प्रकार पाला गया था। उसे एक सुन्दरी युवती पर दृष्टि डालने या एक प्याला मदिरा पीने तक की आज्ञा न थी। दिन-रात उसके अध्यापक उसकी देखभाल करते एवं ललित कलाएँ तथा मनुष्योचित व्यायाम सिखलाते थे तथा उसे किसी अनुचित काम करने या भद्दा शब्द मुँह से निकालने का अवसर ही न दिया जाता था। ऐसा शाहजादा जब अचानक एक इतने बड़े साम्राज्य का अधिकारी हुआ तथा जब व्यक्तिगत आनन्द एवं उपभोग के लिए इतनी विशाल संपत्ति उसकी आँखों के सामने आई तो उसने आत्म-संयम एवं बुद्धिमत्ता के सब पाठ भुला दिये तथा भोग-विलास के जीवन में मग्न हो गया। अतः बलबन का किया कराया सब चौपट हो गया। दरबार के अमीरों एवं मन्त्रियों ने भी शासक के मार्ग को अपना लिया अतः सारा दरबार ही अपनी विलासिता के लिए बदनाम हो गया तथा सभी वर्गों के मनुष्यों ने भोग एवं विलास का मार्ग अपना लिया।

जब कैकुबाद नशे में चूर रहने लगा तो सारा शासन-प्रबंध प्रभावशाली दिल्ली के कोतवाल के दामाद निजामुद्दीन ने अपने हाथ में ले लिया। दिल्ली का कोतवाल अपनी चतुरता से सुल्तान का विश्वासपात्र भी बन गया। निजामुद्दीन बहुत ही महत्त्वाकांक्षी था। उसकी उन्नति एवं गर्व से खान बहुत ही असन्तुष्ट हुए जो कि ऐबक एवं इल्तुतमिश के समय से ही राज्य की स्वामिभक्ति के साथ सेवा करते आये थे। बंगाल के बुगरा खाँ की अनुपस्थिति, अमीरों की गिरती हुई शक्ति एवं सुल्तान की विलासिता देखकर निजामुद्दीन सिंहासन पर अधिकार करने के लिए उचित अवसर की राह देख रहा था। परन्तु यह योजना तब तक पूरी न हो सकती थी जब तक कि बलबन का नामजद किया हुआ उत्तराधिकारी कै-खुसरो को दृश्य से न हटा दिया जाय क्योंकि अब भी वह अमीरों की श्रद्धा एवं सम्मान का पात्र था। इस विचार से वह अपने बेहोश सुल्तान के पास पहुँचा एवं उस नशे की हालत में उससे कै-खुसरो की हत्या की अनुमति ले ली। भोला शाहजादा मुल्तान से बुलाया गया तथा दिल्ली आते समय रास्ते में रोहतक के पास मार डाला गया।

इस हत्या से सारे देश में आतंक छा गया। अनेक दल बन गये और इस विरोधी पक्ष का खिलजी अमीर जलालुद्दीन फीरोज नेता बन गया जो कि आरिज-ए-ममालिक के पद पर था। जलालुद्दीन की शक्ति धीरे-धीरे बढ़ने लगी तथा यह देखकर कि उसका सामना करना मुश्किल है कुछ तुर्की मलिक एवं अमीर भी उससे मिल गये। दो दिन बाद एक खिलजी मलिक ने सुल्तान कैकुबाद को उसके शीशे के महल में मार डाला तथा उसकी लाश को यमुना में फेंक दिया।

इस प्रकार दिल्ली के गुलाम-वंशी सुल्तानों का दयनीय अन्त हुआ। जलालुद्दीन फीरोज को अब मित्रों एवं शत्रुओं सभी की सहायता प्राप्त थी। अतः वह किलूगढ़ी में सिंहासन पर बैठा। परन्तु दिल्ली के निवासी खिलजियों के विरुद्ध थे, अतः उन्होंने फीरोज का स्वागत न किया और उनके द्वारा अपनी सत्ता स्वीकार करवाने में उसे काफी समय लगा।

दिल्ली में जो क्रान्ति हो गई थी उसको निष्फल करना गुलाम-वंशी सुल्तानों की शक्ति के बाहर था। उनका प्रभाव दोआब, पंजाब, बिहार,

बंगाल, सिन्ध तथा मध्य भारत एवं राजपूताना के कुछ भागों तक फैल चुका था। परन्तु यह आधिपत्य विपत्ति के समय उनके कुछ काम न आया। गुलाम-वंश के नाश तथा पतन के अनेक कारण थे जैसे राजप्रतिष्ठा की कमी, मंगोलों के आये दिन आक्रमण, सेना की निर्बलता, तुर्कों के आपसी मतभेद तथा राजशक्ति को हड़पने के लिए महत्त्वाकांक्षियों के षड्यन्त्र। शासन-व्यवस्था अभी तक सैनिक शक्ति के ही बल पर टिकी हुई थी और उसमें अभी तक कोई ऐसे सुधार न हुए थे जिससे वह किसी प्रकार सार्वजनिक सहायता की पात्र समझी जा सके। सिंहासन उसी का हो सकता था जिसकी तलवार में बल हो। अतः फीरोज को विलासियों के हाथ से राजसत्ता छीनने में विशेष कठिनता न हुई। जहाँ तक हिन्दुओं का सवाल था उनका दिल्ली में होनेवाले परिवर्तनों से कोई विशेष संबंध न था।

मुसलमानों की सफलता के कारण—मुसलमानों की हिन्दुस्तान में सफलता का कारण यह न था कि उनकी शक्ति हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक सबल थी वरन् यह कि हिन्दुओं में एकता का अभाव था। सारा देश छोटी छोटी रियासतों में बँटा हुआ था जो कि आपस में लड़ा करती थीं। ऐसे अवसर देखने में आये हैं जब हिन्दू नरेशों ने अपने सहधर्मियों के विरुद्ध मुसलमानों की सहायता की है। सत्य तो यह है कि हिन्दुओं की सहायता द्वारा ही विदेशी शक्तियों ने हिन्दुओं पर अधिकार जमाया। राजपूत संसार के सबसे वीर सिपाहियों में से थे जिनमें असीम साहस तथा बलिदान की भावना भरी हुई थी परन्तु देश की रक्षा के लिए एक सूत्र में बँधकर एक झण्डे के नीचे लड़ना उन्होंने सीखा ही न था। वे प्रायः अपनी जाति या वर्ग की ही रक्षा का ध्यान रखते थे। किसी भी तरह पृथ्वीराज के साथ शामिल होकर मुसलमानों का सामना करने के लिए जयचन्द राजी न हुआ और अन्त में मुसलमान शत्रुओं ने उन दोनों ही का अन्त कर दिया। मुसलमानों में अपेक्षाकृत व्यवस्था अधिक थी। उनके अन्दर धर्म-प्रचार का मजहबी जोश था जिसके लिए वे बड़े से बड़ा बलिदान कर सकते थे। इसके अतिरिक्त उनमें जाति-प्रथा या कोई अन्य ऐसी कृत्रिम दीवार न थी जो कि एक वर्ग के मनुष्यों एवं दूसरे मनुष्यों के बीच में परदा डाल सके। इस्लाम

के अन्दर सभी भाई थे। जो सिपाही युद्धक्षेत्र में अपने जीवन को संकट में डाल देता था उसे इस बात का विश्वास रहता था कि इस प्रकार वह उच्चतम धार्मिक गुणों का पात्र हो जावेगा। हिन्दुओं में ऐसी भावना न थी जिसके फलस्वरूप उनके सबसे वीर सेनापति एवं सैनिक विरोधी दलों में बट हुए थे और एक दूसरे को नष्ट करने के लिए प्रयासशील रहते थे।

हिन्दुओं ने अपने हाथियों पर आवश्यकता से अधिक भरोसा किया जब कि मुसलमान अच्छे अश्वारोही थे। इन पक्षपाती एवं भीषण आक्रमणकारियों को समय समय पर अफगान पहाड़ियों के उस पार ठण्डे प्रदेश से नये सैनिक मिल जाया करते थे। अतः इनके विरुद्ध युद्ध की प्राचीन प्रणालियों का सफल होना बहुत ही कठिन था। यद्यपि मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दू संख्या में अधिक रहते थे परन्तु नियन्त्रण एवं व्यवस्था की कमी और उनके कुछ सैनिकों के विश्वासघात के कारण वह अधिक संख्या से कोई लाभ न उठा पाते थे। जन-साधारण के अन्दर वह राष्ट्रीयता का भाव न था जिससे प्रेरित होकर एक विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के लिए लोग प्राण दे देते हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय इतिहास की यह विचित्र बात रही है कि जन-साधारण सदा राजनैतिक क्रान्तियों के प्रति उदासीन रहे हैं। अनेक विजेता आये और चले गये परन्तु वे सदा अपने दैनिक कार्यों में लगे रहे। उन्होंने कभी इस बात की आवश्यकता न समझी कि देश की प्रतिष्ठा एवं स्वाधीनता की रक्षा के लिए उन्हें शस्त्र उठाना चाहिए। वास्तव में युद्ध-कार्य एक विशिष्ट वर्ग का ही काम रह गया था और जब यह वर्ग उद्देश्य-प्राप्ति में विफल हो जाता तो कोई आशा न रहती थी।

ऐसा कहा जाता है कि तुर्कों में प्रचलित गुलाम-प्रथा ने राजनैतिक योजनाओं में उनकी बड़ी सहायता की। गुलाम प्रायः योग्य पुरुष होते थे जो अपनी असाधारण शासन-कुशलता एवं सैनिक स्फूर्ति के कारण अपने पद की रक्षा कर सकते थे जब कि प्रतिभाशाली पुरुषों के लड़के राज्य सँभालने में असफल रहते थे, ये गुलाम उसे अच्छी तरह चला ले जाते तथा अपने स्वामियों की देन अर्थात् दृढ़ शासन-व्यवस्था की परम्परा की रक्षा करते थे।

———

बाईसवाँ अध्याय

खिलजी साम्राज्य

जलालुद्दीन खिलजी—१२९०-९६ ई०—दिल्ली का सिंहासन खिलजी तुर्कों के हाथ में चला गया अतः किलूगढ़ी में एक सार्वजनिक दरबार हुआ जहाँ पर सभी सिपाहियों एवं नागरिकों ने नये सुल्तान के प्रति स्वामिभक्ति की शपथ ली। एक समकालीन इतिहासकार जियाबर्नी कहता है कि जलालुद्दीन तुर्कों से भिन्न एक अन्य जाति का मनुष्य था। अतः शुद्ध रक्तवाले तुर्कों ने उसके इस प्रकार सिंहासन पर अधिकार करने का कुछ विरोध किया। परन्तु क्रमशः उसने अपना प्रभुत्व जमा लिया और अपने चरित्र की उत्तमता, न्याय, उदारता तथा भक्ति द्वारा उसने अपने प्रति लोगों की घृणा को कम कर लिया तथा जागीरों की आशा से धीरे-धीरे लोग उसके समर्थक हो गये। फीरोज ७० वर्ष का सरल प्रकृति-वृद्ध पुरुष था जो आदमियों का खून बहाने के लिए कभी तैयार न होता था। परन्तु उसकी इस कोमलता एवं सहृदयता से उसके राज्य में राजद्रोह फैलने लगा। उसके शासन-काल के दूसरे वर्ष में ही कड़ा के जागीरदार बलबन के भतीजे मलिक छज्जू ने बगावत कर दी। वह एक बड़ी सेना लेकर दिल्ली की ओर बढ़ा परन्तु शाही सेना के आते ही उसके अनुयायियों ने भय के कारण उसे छोड़ दिया। जो बचे हुए पकड़े गये वे सुल्तान के सामने लाये गये और उसने उन्हें क्षमा-प्रदान कर दिया और अपने भतीजे तथा दामाद अलाउद्दीन को कड़ा का जागीरदार बनाया।

आन्तरिक नीति की तरह सुल्तान की वैदेशिक नीति भी निर्बल एवं भीरु थी। रणथम्भौर पर आक्रमण निष्फल हुआ और शाही सेना निराश होकर राजधानी लौट आई। परन्तु जब मंगोलों ने अपने नेता हलागू की अध्यक्षता में चढ़ाई की तो उसे विशेष सफलता मिली। वे परास्त हुए तथा काफी संख्या में तलवार के घाट उतार दिये गये। अन्त में उनके साथ सन्धि हो गई और उन्हें दिल्ली के पास बसने की आज्ञा दे दी गई। इस नीति का आगे चलकर

भीषण परिणाम हुआ क्योंकि मुगलपुर राजद्रोह एवं षड्यन्त्रों का केन्द्र हो गया जिससे दिल्ली के शासक को बड़ी चिन्ता रहने लगी।

देवगिरि पर अलाउद्दीन का आक्रमण, १२९४ ई०—सुल्तान का दामाद एवं भतीजा अलाउद्दीन कड़ा तथा अवध का जागीरदार बना दिया गया था। सुल्तान के नियन्त्रण से बाहर होते ही महत्त्वाकांक्षी अलाउद्दीन ने देवगिरि पर आक्रमण करने की योजना की जो कि मध्यकालीन भारत के इतिहास में सबसे अधिक स्मरणीय घटना है। उसने महाराष्ट्र के यादव राजाओं की राजधानी देवगिरि की अतुल संपत्ति के विषय में अनेक कहानियाँ सुन रक्खी थीं। अतः उस पर अधिकार करने की उसकी इच्छा बलवती हो चली थी।

आठ हजार अश्वारोही साथ लेकर उसने प्रस्थान किया और महाराष्ट्र प्रदेश की सीमा के पास एलिचपुर पहुँच गया। एलिचपुर से वह घाटील जौरा की ओर बढ़ा जो कि देवगिरि से केवल १२ मील के अन्तर पर थी और अब तक उसका कोई विरोध न हुआ। जब देवगिरि के राजा रामचन्द्र ने शत्रु के आने की खबर सुनी तो उसने अपने को दुर्ग में बन्द कर लिया और मुसलमानों के आक्रमण का विरोध करने का निश्चय किया। बीच में अलाउद्दीन की सेना ने नगर में प्रवेश कर व्यापारियों तथा महाजनों से अनेक भारी भारी कर वसूल किये। एक और किंवदन्ती रामचन्द्र ने सुनी कि बीस हजार अश्वारोहियों के साथ सुल्तान दक्षिण की ओर आ रहा है। अतः वह और भी भयभीत हुआ और उसने संधि की प्रार्थना की। उसने पचास मन सोना, सात मन मोती तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं के साथ चालीस हाथी तथा कुछ सहस्र घोड़े कर-स्वरूप दिये, इसके अतिरिक्त जो धन उसने लूट में नगर से वसूल किया था वह तो उसका था ही।

जब रामचन्द्र के पुत्र शंकरदेव ने इस संधि की शर्तों को सुना तो वह पिता की रक्षा के लिए शीघ्र वहाँ पहुँचा और उसने अलाउद्दीन से कहा कि सारे लूट के माल को छोड़कर चुपचाप वह उस प्रदेश से लौट जाय। अलाउद्दीन ने इस बात को अपना अपमान समझकर किले के लिए एक हजार घुड़सवारों को छोड़ शंकर पर आक्रमण किया। परन्तु युद्ध में मराठा सेना ने मुसलमानों को हराकर चारों ओर तितर-बितर कर दिया। परन्तु जो सेना

अलाउद्दीन किले में घेरा डालने के लिए पीछे छोड़ आया था वह आ पहुँची जिससे मुसलमानी सेना में नई आशा का संचार हुआ। हिन्दुओं में खलबली मच गई और वे बुरी तरह पराजित हुए। विजयी सेनापतियों के हाथ अतुल सम्पत्ति लगी। अलाउद्दीन ने इलिचपुर का किला माँगा ताकि वहाँ पर अपने पीछे वह अपनी सेना छोड़ जाय। रामचन्द्र द्वारा इन शर्तों के मान लेने पर अलाउद्दीन विजयी होकर कड़ा की ओर चल पड़ा।

सुलतान अपने भतीजे की इस सफलता से बहुत ही प्रसन्न हुआ, अतः केवल थोड़े से आत्मरक्षकों को लेकर उससे मिलने चल दिया। अहमदचप नामक व्यक्ति ने बादशाह से मना किया था कि ऐसा मत कीजिए परन्तु उसने न माना। कड़े के पास दोनों की गंगाजी में किश्ती पर भेंट हुई। जब कि बूढ़ा सुलतान प्रेम से अपने भतीजे-दामाद का आलिंगन कर रहा था तो अलाउद्दीन ने उसे मार डाला तथा सुलतान के अनुयायी तलवार के घाट उतार दिये गये। सुलतान का सिर सेना में घुमाया गया तथा अलाउद्दीन दिल्ली का शासक घोषित किया गया।

अलाउद्दीन की प्रारम्भिक कठिनाइयाँ—सिंहासन पर बैठते ही अलाउद्दीन को कठिन परिस्थिति का सामना करना पड़ा। जलाली अमीर अपने पुराने वृद्ध स्वामी की मृत्यु को भूले न थे। अतः उन्होंने चुपके से बदला लेने का निश्चय किया। राजमाता जहान, जिसको कि बर्नी ने 'मूर्खों में महामूर्ख' कहा है अपने पुत्र अरकाली खाँ तथा कद्रखाँ के अधिकार प्राप्त करने के लिए षड्यन्त्र करने लगी। विरोधी अमीर अनेक अमूल्य उपहारों एवं उच्च राजपदों के लोभ देकर मिला लिये गये तथा जनसाधारण को भी सोने की बखेर से सन्तुष्ट कर दिया गया। मलिका जहान ने कद्र खाँ को रुकुनुद्दीन इब्राहीम के नाम से सिंहासन पर बिठाया तथा अरकाली खाँ को मुलतान से दिल्ली आने के लिए लिख भेजा परन्तु उसने आने में असमर्थता प्रकट की और यह खबर भेजी कि अमीरों के विरोधीपक्ष में मिल जाने के कारण अब पुनः सिंहासन प्राप्त करना असंभव है। जब अलाउद्दीन राजधानी के निकट पहुँचा तो रुकुनुद्दीन उसका सामना करने के लिए शहर के बाहर आया परन्तु आधी रात के लगभग उसकी सेना का

वामपार्श्व शत्रु से जा मिला। अतः राजकुमार ने कुछ बोरे सोने के टंक लेकर तथा अस्तबल से कुछ घोड़े लेकर मुलतान के लिए प्रस्थान किया। उसके पश्चात् विजयी अलाउद्दीन ने सीरी के मैदान में प्रवेश किया जहाँ पर सब लोगों ने उसका स्वागत किया। बर्नी ने इन शब्दों में परिस्थिति का वर्णन किया है।

"अब सिंहासन सुरक्षित था। मालगुजारी वसूल करनेवाले राजपदाधिकारी, हाथियों को लेकर उनके रक्षक, किले की चाभी लेकर कोतवाल, काजी तथा नगर के प्रमुख जन अलाउद्दीन से मिलने आये और इस प्रकार एक नवीन व्यवस्था स्थापित हो गई। उसके पास अब शक्ति एवं धन दोनों ही पर्याप्त मात्रा में थे। अतः इसकी विशेष चिन्ता न थी कि लोग स्वामिभक्त हैं अथवा नहीं क्योंकि उसके नाम का खुतबा पढ़ा जाने लगा और सिक्के जारी होने लगे।

मंगोलों के विरुद्ध—अपनी राजसत्ता की स्थापना करके अलाउद्दीन ने नित्यप्रति होनेवाले मंगोलों के आक्रमणों के रोकने का प्रयास किया। उसने बलबन के अधूरे कार्य को पूरा किया और अपने राज्य के सीमान्त दुर्गों में इन आक्रमणों का सामना करने के लिए पर्याप्त सेना रक्खी। मंगोलों ने बार बार आक्रमण किया परन्तु उन्हें असफल हो लौटना पड़ा और बड़ी क्षति उठानी पड़ी। उसके शासन काल के द्वितीय वर्ष में ही मावराउन नहर (ट्रांसाक्सियाना) के शासक अमीर दाऊद ने मुलतान, पंजाब तथा सिन्ध पर अधिकार करने के लिए एक लाख मंगोल सेना लेकर आक्रमण किया परन्तु उलुग खाँ ने उन्हें मार भगाया और उन्हें बड़ी क्षति पहुँचाई। परन्तु मंगोल इस पराजय से हिम्मत न हारे और उन्होंने पुनः अपने नेता साल्दी की अध्यक्षता में आक्रमण किया। जफर खाँ ने उन पर आक्रमण किया। साल्दी अपने दो हजार साथियों के साथ बन्दी कर लिया गया। इसके बाद जंजीर बन्द कर वे दिल्ली भेज दिये गये। परन्तु मंगोलों का सबसे भीषण आक्रमण १२९८ ई० में हुआ जब कि कुतलुगख्वाजा ने एक विशालवाहिनी लेकर दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। सारी जनता में इस भावी विपत्ति के प्रति भय एवं आतंक फैल गया। अतः शत्रु के आक्रमण का सफल प्रतिरोध

करने के लिए सुलतान ने एक युद्ध-परिषद् बुलाई। जफर खाँ तथा उलुग खाँ उनका प्रतिरोध करने के लिए आगे बढ़े। सुलतान ने भी स्वयं बारह हजार रणकुशल सैनिकों को लेकर युद्धभूमि की ओर प्रस्थान किया। मंगोल परास्त होकर तितर-बितर हो गये, यद्यपि अपने समय का सबसे योग्य सेनापति जफर खाँ युद्ध में मारा गया। इसी समय एक बहुत बड़ी सेना लेकर एक अन्य मंगोल तातरगी आ पहुँचा परन्तु कहते हैं कि निजामुद्दीन औलिया के प्रयास से यह विपत्ति टल गई। अनेक बार पराजित होने पर भी मंगोलों के आक्रमण रुके नहीं और १३०४ ई० में अलीबेग तथा ख्वाजा ताश सिवालिक की पहाड़ियों के चारों ओर लाहौर तक चले आये तथा हिन्दुस्तान के अन्दर अमरोहा तक पहुँच गये। दिपालपुर के दुर्ग में स्थित सेना के नायक गाजी तुगलक ने उन पर आक्रमण कर उन्हें बड़ी क्षति पहुँचाई। पुनः आक्रमण हुआ परन्तु गाजी तुगलक ने वीरता के साथ सामना किया और आक्रमणकारियों को खदेड़ दिया। जब इकबालमन्दा एक बहुत बड़ी सेना के साथ आया, तो सुलतान ने उसके विरुद्ध सेना भेजी। वह परास्त हुआ; और मार डाला गया तथा सहस्रों मंगोल कत्ल कर डाले गये। मंगोल अमीरों में से कई जिनके नेतृत्व में एक सहस्र अथवा सौ सिपाही थे, जीवित ही बन्दी कर लिये गये और हाथियों के पैरों तले सुलतान की आज्ञा से कुचल दिये गये। उसने कई बार मंगोलों के देश पर आक्रमण किया और इन आक्रमणों से वे इतने भयभीत हो गये कि पुनः भारत में कभी नहीं आये। मंगोलों के आक्रमणों के विरुद्ध, अपने देश की रक्षा के लिए सुलतान ने बलबन की सीमान्त-नीति का आश्रय लिया। मंगोलों के मार्ग पर पड़नेवाले सभी प्राचीन दुर्गों का पुनर्निर्माण किया गया तथा उनकी देख-भाल के लिए कुशल एवं अनुभवी नायक नियुक्त किये गये। सामाना और दिपालपुर की चौकियाँ सैनिकों से सुसज्जित कर सुरक्षित की गईं। राजकीय सेना विशेष रूप से सुदृढ़ बनाई गई तथा राज्य की उद्योगशालाओं में शत्रु के विरुद्ध लड़ने के लिए, विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्र बनाने के लिए कारीगर नियुक्त किये गये।

सुलतान की उत्कट अभिलाषाएँ—इन भ्रमणशील आक्रमणकारियों

से मुक्ति पाकर अलाउद्दीन विदेश-विजय की ओर झुका। उलुग खाँ और नसरत खाँ ने गुजरात और नहरवाला को जीत लिया था और खंभात के व्यापारियों से उपहारस्वरूप बहुत-सा धन विवश करके लिया था। बघेला राजपूत कर्ण, सन् १२९७ ई० में अपनी स्त्री और बच्चों को आक्रमण-कारियों की दया पर छोड़कर, अपने राज्य से भाग गया। चारों ओर विजय के समाचार आने लगे और सुलतान का कोष लूट की अतुल संपत्ति से भरने लगा। बर्नी लिखता है :—इन सब सफलताओं से वह उन्मत्त हो गया। बड़ी इच्छाओं ने उसके मस्तिष्क में घर कर लिया और उसने उन कल्पनाओं को आविर्भूत किया जो उसके पहले के किसी राजा को स्वप्न में भी दृष्टिगोचर न हुई होगी। अपनी उन्नति, मोह और अज्ञानता में असंभव व्यवस्थाओं की कल्पना करते हुए तथा मुक्त-हस्त अभिलाषाओं की पुष्टि करते हुए, उसमें उच्छृंखलता आ गई। वह उद्दण्ड, हठी तथा पाषाण-हृदय व्यक्ति था। किन्तु संसार ने उसके प्रति सहानुभूति प्रकट की। भाग्य ने उसका साथ दिया और उसके कार्यक्रम में साधारणतया सफलता प्राप्त होती चली गई, इस प्रकार वह प्रमत्त तथा अहंकारी हो गया। वह इतना उद्दण्ड हो गया कि एक नये धर्म की स्थापना तथा महान् सिकन्दर की भाँति विश्व-विजय की कामना का स्वप्न देखने लगा। इन लालायित कल्पनाओं से प्रेरित होकर वह अपनी आकांक्षा को निम्नांकित भावों में प्रकट करता था :—

"सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर ने पवित्र नबी को चार मित्र दिये, जिनकी योग्यता और सामर्थ्य पर नियम और धर्म की स्थापना हुई तथा इस नियम और धर्म के संस्थापन द्वारा नबी का नाम प्रलय के दिन (कयामत) तक स्थायी रहेगा। ईश्वर ने मुझे भी चार मित्र दिये हैं—'उलुग खाँ, जफर खाँ, नुसरत खाँ और अलप खाँ' जो मेरे वैभव से राजकीय सत्ता और गौरव का उपभोग कर रहे हैं। यदि मैं चाहूँ, अपने इन चारों मित्रों के सहयोग से एक नये धर्म की स्थापना कर सकता हूँ। इस कार्य को सफलीभूत बनाने के लिए मेरी कृपाण तथा मेरे मित्रों की कृपाण जन-साधारण को, मेरे सिद्धांत को ग्रहण करने के लिए विवश कर देंगी। इस संस्थापित धर्म द्वारा मेरा तथा मेरे मित्रों का नाम, नबी तथा उनके मित्रों के नाम की भाँति

मनुष्य जाति में अन्तिम दिन तक जीवित रहेगा·····मेरे पास अतुल धन, अगणित हाथी तथा असामान्य सेना है। मेरी इच्छा है कि दिल्ली में एक उपपदाधिकारी नियुक्त करके सिकन्दर की भाँति विजय-कामना लेकर विश्व में भ्रमण करूँ, तथा संपूर्ण भूभाग को जहाँ कहीं भी मनुष्य जाति निवास करती हो अपने अधीन कर लूं।"

सुलतान ने काजी अलाउलमुल्क से परामर्श किया और उसने इस विषय पर अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये—"धर्म और नियम देव-विहित वस्तु हैं, वे मनुष्य की कल्पना तथा अभिलाषाओं से कदापि स्थापित नहीं हो सकते। आदम के दिनों से अब तक, उनका संचालन नबियों तथा पैगम्बरों द्वारा उसी भाँति होता चला आ रहा है जैसे राजकीय शासन-व्यवस्था तथा विधान का आयोजन राजाओं द्वारा प्रतिपादित होता है। दैवी कार्यों का संबंध राजाओं से कभी नहीं रहा है और न जब तक यह संसार विद्यमान है होगा यद्यपि कुछ नबियों ने राजकीय व्यवस्था के प्रतिपादन में सफलता प्राप्त कर ली है। मेरी यही सम्मति होगी कि श्रीमान् इन सब बात को चर्चा ही छोड़ दें। आप जानते हैं कि चंगेज खाँ ने मुगल-धर्म की स्थापना के लिए मुसलमान-नगरों में रक्त-सरिता बहा दी किन्तु फिर भी वह अपने इस कार्य में कभी सफल तथा कृतकार्य न हो सका। बहुत से मुगल मुसलमान हो गये किन्तु किसी भी मुसलमान ने मुगल-धर्म को स्वीकार न किया।" विजय के विषय में काजी ने अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया—"दूसरी अभिलाषा एक बहुत बड़े राजा के लिए शोभनीय हो सकती है क्योंकि साधारणतया सभी राजा सम्पूर्ण भूमण्डल को अपने प्रभुत्व में लाना चाहते हैं; किन्तु यह युग सिकन्दर का युग नहीं है जहाँ अरस्तू जैसे वजीर उपलब्ध हो सकें·····। आपके सामने दो महान् कार्य हैं जिनको और कार्यों से पहले, सुव्यवस्थित ढंग से करना होगा। पहला कार्य, पूर्व में सरयू तक, रणथम्भौर, चित्तौर, चन्देरी, मालवा, धार और उज्जैन तथा संपूर्ण भारत की विजय और दमन है, सिवालिका से जालौर, मुलतान से दमरीला, पालम से लाहौर और दिपालपुर तक ऐसे सुदृढ़ शासन की आवश्यकता है कि इन स्थानों में कोई भी विद्रोही न रह जाय। दूसरा अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य

यह है कि मुलतान की सड़क मुगलों से रोक दी जाय।" अपना कथन समाप्त करने के पहले काजी ने कहा—"मेरी यह सब प्रार्थना उस समय तक पूरी नहीं हो सकती जब तक आप अत्यधिक मद्यपान तथा मंगल-समारोह और प्रीतिभोज का परित्याग नहीं कर देते···। यदि बिना मद्यपान के आपका रहना असंभव है, तो अकेले में दिन के तृतीय प्रहर के पश्चात् आप मदिरा-सेवन कर सकते हैं।" सुलतान ने काजी की इस मन्त्रणा की बड़ी प्रशंसा की और उसे पारितोषिक प्रदान किया।

राजपूताना-विजय—अलाउद्दीन ने अपने मन्त्रियों और सेनापतियों की पूर्ण अनुमति से अब १२९९ ई० में रणथम्भौर के प्रसिद्ध दुर्ग को अपने अधीन करने का निश्चय किया। उलुग खाँ और नसरत खाँ एक बहुत बड़ी सेना लेकर अपनी अपनी जागीरों से राजपूताने की ओर बढ़े और आईन का दुर्ग सफलतापूर्वक जीत लिया। रणथम्भौर पर घेरा डाल दिया गया, शाही सेनापति नुसरत खाँ जिस समय अपनी सैनिक टुकड़ियों की देख-भाल कर रहा था उस समय किले में से किसी ने उस पर पत्थर मारे! चोट प्राणघातक सिद्ध हुई और वीर सैनिक ने दो दिनों के पश्चात् शरीर त्याग कर दिया। राना हमीर दो लाख सुसज्जित व्यक्तियों के साथ किले के बाहर आया और उसने मुसलमानों पर भीषण प्रहार किया। उलुग खाँ को बड़ी क्षति उठानी पड़ी और वह आईन वापस लौट गया। जब इस आपत्ति का समाचार सुलतान को मिला, तब वह स्वयं रणथम्भौर की ओर चल पड़ा किन्तु मार्ग ही में उसके भतीजे अकत खाँ ने, जो कुछ नव मुसलमानों की सहायता से सिंहासन ग्रहण करना चाहता था, उस पर आक्रमण कर दिया। किन्तु उसका उद्योग असफल रहा और उसे मृत्यु-दण्ड भोगना पड़ा। सुलतान को सिंहासन से च्युत करने के लिए अनेकानेक षड्यन्त्र काम में लाये गये किन्तु वे सब असफल रहे। इन आपत्तियों से मुक्त होकर, राज-भक्तों ने अपनी पूरी शक्ति रणथम्भौर पर लगा दी और एक वर्ष का अविराम घेरा डाल दिया गया। थैलों में रेत भर दिया गया और आक्रमणकारी इन्हीं थैलों की सहायता से किले की दीवालों पर चढ़ गये और उन्होंने बलपूर्वक दुर्ग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। हमीर की परिवार सहित हत्या कर डाली गई तथा दुर्ग-रक्षक जो

अपने नायक के लिए अन्त तक लड़े थे मौत के घाट उतार दिये गये। राना का मन्त्री रानमल, अपनी कर्तव्य-विमुखता के लिए कलंकित मृत्यु का भाजन बना। किन्तु इन रक्त-रंजित इतिहासों में भी हम समय समय पर उन व्यक्तियों से साक्षात्कार करते हैं, जिनका जीवन पवित्र वीरता तथा स्वामि-भक्ति से ओतप्रोत है। जब मंगोल सेनानायक मीर मुहम्मद, हमीर की रक्षा में घायल होकर युद्ध-भूमि में पड़ा हुआ था, तब अलाउद्दीन ने उससे पूछा कि यदि तुम्हारे घावों की मरहम-पट्टी कर दी जाय और तुम्हारा जीवन इस आपत्तिजनक स्थिति से बचा लिया जाय, तो तुम क्या करोगे? उसने उत्तर दिया, "यदि मैं स्वस्थ हो जाऊँ तो तुम्हें मार डालूँगा और हमीर देव के पुत्र को राजसिंहासन पर बिठाऊँगा।" सचमुच मुस्लिम शिविर में जहाँ षड्यन्त्र और स्वार्थ-साधन का ही वातावरण व्याप्त था ऐसी स्वामिभक्ति दुर्लभ थी और यद्यपि वीर सैनिक हाथी के पैरों के नीचे कुचल दिया गया किन्तु विजेता का हृदय भी उसकी वीरता से द्रवित हो गया और उसने उस वीर की अन्त्येष्ठिक्रिया बड़ी सहानुभूति तथा शान से प्रतिपादित करने की आज्ञा दी। १३०१ ई० के जुलाई मास में किले पर अधिकार हो गया और राजभवन एवं अन्य दुर्ग मिट्टी में मिला दिये गये। उलुग खाँ को रणथम्भौर और आईन का शासक नियुक्त कर सुलतान राजधानी लौट आया।

इस सफलता से प्रोत्साहित होकर, अलाउद्दीन ने, राजपूताना के मुख्य राज्य मेवाड़ की ओर अपनी सेना बढ़ाई। अभी तक किसी मुसलमान शासक ने लम्बी पर्वतमालाओं और घने जंगलों से सुरक्षित इस निर्जन प्रदेश में घुसने का साहस तक नहीं किया था। मेवाड़ की भौगोलिक स्थिति कुछ ऐसी थी कि किसी भी विजेता को उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना अत्यंत कठिन तथा विकट ज्ञात होता था। चित्तौर का दुर्ग प्रकृति द्वारा संरक्षित एक पहाड़ी के ऊपर स्थित होने के कारण सर्वदा बाह्य आक्रमण-कारियों को चुनौती दिया करता था। यह दुर्ग एक बड़ी चट्टान काटकर बनाया गया था और अपनी भयानक प्रतिभा का प्रदर्शन करता हुआ निम्नस्थित उस विशाल एवं विस्तृत क्षेत्र की उपेक्षा कर रहा था जहाँ हिन्दू और मुसलमान सेनाएँ एक दूसरे को जीवन-मरण के पाश में जकड़ने का प्रयास कर रही थीं।

किन्तु अभेद्य दुर्ग उत्सुक सुलतान के विजय-प्रयास में कोई अवरोध न पैदा कर सका और उसने १३०३ ई० में अपनी सेना सहित मेवाड़ की ओर कूच कर दिया। फिरिश्ता और टाड के अनुसार तात्कालिक आक्रमण का कारण राणा रतनसिंह की अद्वितीय रानी पद्मिनी का अनुपम सौन्दर्य तथा सुलतान की उसकी प्राप्ति की अदम्य अभिलाषा थी। रानी अपने सौन्दर्य के लिए संपूर्ण भारत में प्रसिद्ध थी और उसकी यह प्रसिद्धि मेवाड़ पर सुलतान के तात्कालिक आक्रमण का कारण बन गई। कहते हैं कि राणा अलाउद्दीन को दर्पण में पद्मिनी का प्रतिबिम्ब दिखलाने को सहमत हो गया। पद्मिनी के अद्वितीय रूप को देखकर अलाउद्दीन की इच्छा और अधिक बलवती हो गई। जब राणा उसे दुर्ग के द्वार तक पहुँचाने गया तो उसने उसे धोका देकर बन्दी बना लिया और रानी को कहला भेजा कि उसका पति तभी मुक्त किया जायगा जब वह उसके अन्तःपुर में जाना स्वीकार करेगी। किन्तु राजपूत अपने जातीय सम्मान पर यह अमिट कलंक कैसे सहन कर सकते थे? उनमें इस विषय पर विवाद हुआ कि कौन-सा मार्ग अपनाया जाय। एक वीर क्षत्राणी की भाँति, अपनी व्यक्तिगत रक्षा की अपेक्षा अपने जातीय सम्मान के लिए विशेष चिन्तित रानी ने उन लोगों के निर्णय के साथ दृढ़ रहने की अपनी इच्छा प्रकट की। उसने मुस्लिम डेरे में जाना स्वीकार कर लिया और अलाउद्दीन ने, जिसका विवेक कामुकता से आच्छादित हो गया था, रानी को आज्ञा दे दी कि वह अपने कुल और मर्यादा का ध्यान रखते हुए इच्छानुकूल कार्य कर सकती है। सात सौ ढके हुए डोलों में अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित राजपूत वीर सैनिक अत्यंत गुप्त रूप से शाही खेमे की ओर बढ़े। उन्होंने राणा को मुक्त किया और चित्तौर भेज दिया। दुर्ग के बाहरी द्वार पर घमासान युद्ध हुआ। राजपूतों ने आक्रमणकारियों का वीरतापूर्वक सामना किया किन्तु अन्त में पराजित हो गये। जब उन्होंने भागने की कोई आशा न देखी तब वे अपनी वंश-परंपरा के अनुसार मर जाने पर उद्यत् हो गये। जौहर की भयानक क्रिया प्रारंभ हुई और राजपरिवार की सुन्दर महिलाएँ लपटों में जल मरीं। अमीर खुसरो ने, जो युद्ध यात्रा में सुलतान के साथ था, घेरे का वर्णन दिया है, किन्तु मेवाड़ की रानी के बारे में एक शब्द

भी नहीं कहा। वह लिखता है—"चित्तौर का दुर्ग सोमवार मुहर्रम की ११ वीं तारीख ७०३ (अगस्त २६, १३०३ ई०) को जीत लिया गया। राय भाग गया। किन्तु फिर उसने आत्म-समर्पण कर दिया। तीस हजार हिन्दुओं की हत्याकाण्ड की आज्ञा के पश्चात् सुलतान ने अपने पुत्र खिज्र खाँ को चित्तौर का शासक बनाया और चित्तौर का नाम खिज्राबाद रखा गया। उसे एक लाल रंग का राजछत्र, स्वर्ण-मुद्रित एक राजवस्त्र और दो झण्डे एक हरा और दूसरा काला दिये गये और उस पर जवाहिरात फेंके गये। इसके बाद सुलतान दिल्ली की ओर लौटा। प्रायः सभी ऐतिहासिक वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है कि चित्तौर में बड़ा भयानक युद्ध हुआ।

कुछ आधुनिक लेखकों का विचार है कि पद्मिनी की गाथा एक कल्पित कथा है जिसे फिरिश्ता ने मलिक मुहम्मद जायसी के काव्य पद्मावत से लिया है। समकालीन लेखक इस अद्भुत कथा की कोई चर्चा ही नहीं करते, किन्तु उनके इस मौन से उक्त प्रमाण त्याज्य भी नहीं हो सकते। इस विषय में विशेष अन्वेषण की आवश्यकता है, जब तक कि हम किसी अन्तिम निर्णय पर नहीं पहुँच जाते।

दुर्ग खिज्र खाँ को सौंप दिया गया और नगर का नाम खिज्राबाद रख दिया गया। खिज्र खाँ कुछ दिनों तक चित्तौर में रहा किन्तु; १३११ ई० के आस-पास राजपूतों के दबाव से वह चित्तौर छोड़ने पर विवश हो गया। सुलतान ने तब सोनिगरा के नायक मालदेव को वहाँ भेजा, जो सात वर्ष तक वहाँ रहा। सातवें वर्ष के अन्त में राणा हमीर ने पुनः षड्यन्त्र और छल-छद्म द्वारा किले को अपने अधिकार में कर लिया। अमीर की अधीनता में चित्तौर ने पुनः अपना पूर्व गौरव प्राप्त किया तथा राजपूताने के मुख्य राज्यों में अग्रगण्य हो गया।

मालवा के राय के पराजित होने पर चित्तौर का पतन हुआ। मालवा का राय एक बड़ी सेना लेकर मुसलमान सेना के विरुद्ध युद्ध-भूमि में आ डटा, परन्तु वह युद्ध में मारा गया। मालवा में एक मुसलमान गवर्नर नियुक्त हुआ। इसके पश्चात् शीघ्र ही माण्डू, उज्जैन, धारा नगरी और चन्देरी के नगर जीत लिये गये और वहाँ के शासक खिलजी युद्ध-प्रभु की अधीनता स्वीकार

करने के लिए विवश हो गये। १३०५ ई० के अन्त तक प्रायः संपूर्ण उत्तरी भारत अलाउद्दीन के हाथ में आ गया और साम्राज्यवादी नीति जिसका वह जन्मदाता था, क्रमशः विजय पर विजय और नये राज्यों के संयोग से जोर पकड़ती गई।

दक्षिण—गुजरात की विजय—उत्तरी भारत विजय करके सुलतान का ध्यान दक्षिण की ओर आकृष्ट हुआ। देश की भौगोलिक स्थिति, हिन्दू राजाओं का विरोध, साम्राज्य की राजधानी से अत्यधिक दूर होना आदि कारणों से उस पर स्थायी आधिपत्य जमाना यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य था। किन्तु अलाद्दीन अपने लक्ष्य को छोड़नेवाला न था। उसने अपने गुलाम काफूर को राजकीय सेना का विशेषाधिकार देकर रवाना किया। दक्षिण जाते समय काफूर मालवा और गुजरात से होकर आगे बढ़ा और बघेला शासक कर्ण को बुरी तरह पराजित किया। सुलतान के भाई उलुग खाँ ने कर्ण की पुत्री देवलदेवी को बलात् पकड़ लिया। वह शाही अन्तःपुर में लाई गई और युवराज खिज्र खाँ के साथ बाद में उसका विवाह हो गया। काफूर ने सम्पूर्ण देश को उजाड़ डाला और रामचन्द्र यादव को अपनी प्रभुता स्वीकार करने पर विवश कर दिया तथा उसे दरबार में भेज दिया। सुलतान ने उसका भली भाँति स्वागत किया और रायरायान की उपाधि प्रदान की।

वरंगल विजय—देवगिरि के यादवों की पराजय ने दक्षिण के और हिन्दू राजाओं के ह्रास के लिए मार्ग निष्कण्टक कर दिया। १३०९ ई० में काफूर ने तेलंगाना में वरंगल के काकती राजाओं के विरुद्ध प्रस्थान किया। कठिन और दुर्गम प्रान्तों को पार करता हुआ वह वरंगल के दुर्ग के सामने जा पहुँचा। राजा प्रतापरुद्र देव ने निकट परिस्थिति का सामना किया। दीर्घ-कालीन घेरे के पश्चात् प्रतापरुद्र देव ने अधीनता स्वीकार कर ली और सन्धि की प्रार्थना की। वह वार्षिक कर देने के लिए सहमत हो गया और अपनी अधीनता प्रकट करने के लिए अपनी निजी सोने की प्रतिमा, जिसके कण्ठ में सोने की श्रृंखला लटक रही थी, भेजी। किन्तु काफूर ने उसके प्रस्ताव की ओर ध्यान न दिया। काकतीय राज के कुछ ब्राह्मण दूतों ने अपने स्वामी के त्राण के लिए व्यर्थ ही अनुनय विनय की। निर्दयी सेनापति इस दशा पर

साधारण हत्याकाण्ड रोकने के लिए सहमत हुआ कि राजा अपना सम्पूर्ण कोष उसे दे दे तथा वार्षिक कर भी दिल्ली भेजा करे।

अत्यन्त विवश होकर प्रतापरुद्र देव ने इस अपमानजनक शर्त को स्वीकार किया और अपनी सुरक्षा के लिए उसे बहुत-सा धन देना पड़ा। विजयोन्मत्त काफूर एक सहस्र ऊँटों के साथ, जो द्रव्य से लदे हुए थे, वरंगल से दिल्ली को मार्च १३१० ई० में देवगिरि, धार और झाईन होता हुआ वापस लौटा।

माबर-विजय—इस सफलता और असीम धन की प्राप्ति से अलाउद्दीन का साहस और बढ़ गया। अब उसने अपनी राज्य-सीमा को सुदूर दक्षिण तक फैलाने का निश्चय किया। द्वारसमुद्र और माबर अभी तक उसके साम्राज्य की सीमा के बाहर थे। नरसिंह के पुत्र वीर बल्लाल तृतीय की अधीनता में घाटों के ऊपर और नीचे के हौयसल उपनिवेशों का एकीकरण हो चुका था। इस शक्तिशाली शासक के प्रभुत्व में सम्पूर्ण कांग् और कोंकन का कुछ भाग तथा संपूर्ण मैसूर प्रदेश आ गया था। बल्लाल एक कुशल तथा योग्य राजा था, जिसने अपने समय के अन्य हिन्दू राजाओं की भाँति छोटे-मोटे राज्यकरों को हटाकर तथा दान-धर्म का आश्रय लेकर अपनी शक्ति प्रबल कर ली थी। हौयसल और यादवों में घोर वैमनस्य था। दोनों एक दूसरे को समूल नष्ट कर देने की चेष्टा में थे। अन्त में पारस्परिक कलह के कारण दोनों अशक्त हो गये और मुसलमानों के लिए वहाँ प्रवेश करना सुलभ हो गया। १८ नवम्बर, १३१० ई० में शाही सेना काफूर के नेतृत्व में गहरी नदियों, घाटियों और कन्दराओं को पार करती हुई माबर राज्य में जा पहुँची। वीर बल्लाल पराजित हुआ। काफूर ने राय को सूचित किया कि या तो वह इस्लाम-धर्म स्वीकार करे या जिम्मी की स्थिति में रहे अर्थात् इस्लाम स्वीकार न करने के बदले में पर्याप्त धन देकर ही प्राणदान प्राप्त करे। राय ने दूसरे मार्ग का अवलम्बन किया। उसने बहुत-सा धन युद्ध-क्षतिपूर्ति के लिए दिया तथा दिल्ली के अधीन होकर रहने लगा। मुसलमानों को लूट का बहुत-सा माल मिला, ३६ हाथी, बहुत-सा सोना, हीरा तथा मोती मुसलमानों के हाथ लगे। वीर बल्लाल हाथियों और घोड़ों के साथ दिल्ली भेज दिया गया। इसका पता उसके एक लेख से मिलता है।

काफ़ूर पुनः मदुरा के पांड्यों की ओर चला। मुसलमानों को अच्छा अवसर हाथ आया जब इस समय पाण्ड्य राजा के अयोग्य पुत्रों सुन्दर पाण्ड्य और वीर पाण्ड्य में वैमनस्य चल रहा था। अतः मुसलमानों का कार्य सुगम हो गया। एक बड़ी सेना लेकर काफ़ूर दक्षिण के लिए रवाना हुआ। अमीर खुसरो अपनी "तारीख-अलाई" में इस वीर सेनानायक की दूर और अगम्य दक्षिण प्रान्तों में से होकर आगे बढ़ने की प्रगति का बडा ही सुन्दर वर्णन करता है। मार्ग में उसने बहुत से हाथी पकड़वाये और कई स्थानों पर मन्दिरों को तुड़वाया। जब वह मदूरा पहुँचा तो राय अपना सब कुछ छोड़कर भाग गया। ऐसा ज्ञात होता है कि काफ़ूर हिन्दुओं की प्रसिद्ध तीर्थयात्रा का स्थान रामेश्वरम् तक पहुँच गया था। विशाल मन्दिर लूट लिया गया, मूर्ति तोड़ दी गई और इसके बाद १३११ ई० के अन्त तक काफ़ूर दिल्ली लौट आया। सम्पूर्ण देश को जीतकर काफ़ूर युद्ध की लूट के साथ दिल्ली लौटा और सुल्तान ने उसका हार्दिक स्वागत किया। राजसिंहासन से विजय की घोषणा की गई और बहुमूल्य पारितोषिक साम्राज्य के सुप्रतिष्ठित व्यक्तियों और कर्मचारियों को वितरित किये गये।

शंकरदेव की पराजय—रामदेव की मृत्यु के बाद उसके पुत्र शंकरदेव ने कर देना बन्द कर दिया था और जब काफ़ूर ने हौयसल नरेश के विरुद्ध प्रस्थान किया था, तब शंकरदेव ने उसकी कुछ भी मदद न की थी। इस व्यवहार से अलाउद्दीन क्रुद्ध हुआ और काफ़ूर १३१२ ई० में चौथी बार एक विशाल सेना के साथ दक्षिण भेजा गया। सम्पूर्ण महाराष्ट्र लूट लिया गया और यादव राजकुमार पराजित कर मार डाला गया। अब सम्पूर्ण दक्षिण भारत काफ़ूर के अधिकार में आ गया और चोल, चेर, पांड्य, हौयसल, काकतीय तथा यादव आदि प्राचीन राजवंश सिंहासन से च्युत कर दिये गये और दिल्ली के अधीन हो गये। सन् १३१२ ई० के अन्त तक अलाउद्दीन का साम्राज्य सम्पूर्ण उत्तर और दक्षिण भारत तक फैल चुका था और प्रायः सभी प्रमुख राजाओं ने उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया था।

अलाउद्दीन का राजत्व सिद्धान्त—राज्य के विषय में अलाउद्दीन का

सिद्धान्त "उलमा"* के विचारों से पूर्णतया असंगत था और दिल्ली के पूर्व शासकों की परम्परा से उसका मत भिन्न था। सुलतान का राजनीतिक सिद्धांत, "राज्य में सम्राट् को महान् शक्ति (विशेषाधिकार) का उचित स्थान" पर सम्मति देनेवाले काजी मुगीसुद्दीन पर सुलतान द्वारा व्यक्त किये गये शब्दों में पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। उसने इस बात का समर्थन किया कि सम्राट को दण्ड देने का विशेषाधिकार है। साथ ही इस बात को भी न्यायोचित बतलाया कि कुटिल और भ्रष्ट राज-कर्मचारियों को अंग-भंग का दंड दिया जाना चाहिए, यद्यपि काजी ने इसे धार्मिक नियमों के विरुद्ध बतलाया। तब सुलतान ने उससे पूछा कि जो धन मैंने देवगिरि में इतना रक्तपात करके प्राप्त किया है वह मेरा है या प्रजा का? काजी ने उत्तर दिया, "मैं सत्य कहने के लिए विवश हूँ। देवगिरि में जो कुछ प्राप्त हुआ है, वह प्रजा के कोष में जाना चाहिए। वैधानिक ढंग से बादशाह ने स्वयं इस धन को प्राप्त किया होता तो वह उसका होता।" इस पर सुलतान अत्यंत कुपित हो गया और काजी से पूछा कि यह कोष प्रजा का कैसे हो सकता है? काजी ने विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया, "हुजूर ने मुझसे नियम (कानून) के बारे में पूछा, यदि मैं यह सब न बतलाता, और मेरी राय की कसौटी के लिए आप यही बात किसी दूसरे विद्वान् से पूछते और उसका उत्तर मेरे उत्तर से भिन्न हो जाता तो आप यही समझते कि मैंने केवल प्रसन्न करने के लिए अपनी मिथ्या राय दी है। इस प्रकार आप मुझमें क्या विश्वास रखते और पुनः किस प्रकार शरअ के नियमों के बारे में मुझसे सम्मति लेते?"

काजी पुनः घबरा गया जब यह प्रश्न पूछा गया कि सम्राट् और उसके बच्चों का प्रजा के कोष (बैतुलमाल) पर क्या अधिकार है? सुलतान के कठोर बर्ताव से भयभीत होकर काजी उत्तर देने के लिए प्रस्तुत हुआ। उसने कहा, "यदि आप आदर्श खलीफाओं के चरित्र का अनुकरण करें और उच्च सिद्धांतों को व्यवहृत करें, तो आपको अपने निजी तथा पारिवारिक व्यय के

---

* उलमा आलिम का बहुवचन है। इसका प्रयोग धर्मज्ञान रखनेवाले मौलवियों के लिए किया जाता है।

लिए उतना ही लेने का अधिकार है जितना प्रत्येक लड़नेवाला सिपाही सरकारी खजाने से पाता है अर्थात् २३४ टंक। यदि आप मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हैं और एक साधारण सैनिक के समकक्ष वेतन से अपना तथा परिवार का पोषण करना अपमानजनक समझते हैं, तो आप उतना ले सकते हैं जितना आपने बड़े कर्मचारियों को दिया है। अगर आप राजनीतिज्ञों के विचारों से सहमत हैं तो अपनी मर्यादा तथा प्रतिष्ठा स्थापित रखने के लिए, जितना कोई बड़ा आदमी कोष से पाता है, उससे अधिक कोष से निकाल सकते हैं। तीन मार्ग मैंने आपके सामने रक्खे हैं और सम्पूर्ण कोष और बहुमूल्य वस्तुएँ जो आपने अपनी स्त्रियों को समर्पित कर दी हैं, उनके लिए आपको कयामत के दिन उत्तर देना पड़ेगा।" सुलतान क्रोध से आगबबूला हो गया और काजी को कठोर दण्ड देने की धमकी दी। जब उसने पुनः अपने कार्यों का विस्तारपूर्वक वर्णन आरंभ किया, तो काजी ने अपना मस्तक जमीन पर रख दिया और बड़े जोर से बोला, "बादशाह सलामत चाहे आप इस तुच्छ दास को बन्दीगृह में डाल दें चाहे इसके दो टुकड़े करा दें, यह सब अनुचित है तथा इसका समर्थन नबी या कोई विद्वान् पुरुष नहीं कर सकता।" परम्परागत नियमों का समर्थक काजी यह समझता था कि उसका भाग्य विपरीत हो गया है, किन्तु दूसरे दिन जब वह राज-सभा में पहुँचा तो सुलतान का व्यवहार उसके प्रति बड़ा ही मृदुल तथा सहानुभूतिपूर्ण था और उसे पर्याप्त पारितोषिक दिया गया। नम्रता के साथ उसने काजी से इन महत्त्वपूर्ण शब्दों में अपने राजत्व के सिद्धांत की व्याख्या की—"राजद्रोह, जिसमें सहस्रों मर मिटते हैं, रोकने के लिए मैं ऐसी आज्ञाएँ प्रकाशित करता हूँ जिन्हें मैं समझता हूँ कि उनसे राज्य तथा प्रजा की अधिक से अधिक भलाई होगी। मनुष्य विचारहीन हैं, अश्रद्धालु हैं तथा मेरी आज्ञा का उल्लंघन करते हैं। मैं तब उन्हें राजभक्ति की ओर मोड़ने के लिए विवश हो जाता हूँ। जो कुछ मैं राज्य की भलाई के लिए उचित है, वही करता हूँ। यह मैं नहीं जानता कि यह उचित है अथवा नहीं और मैं यह भी नहीं जानता कि इसके परिणामस्वरूप कयामत के दिन मेरा क्या होगा।" इस महान् सिद्धांत का जन्म, देश, काल और पात्र के अनुसार हुआ था। जनसमूह ने

तुरन्त ही इसका समर्थन किया और उलमा के अधिकारों की कुछ भी परवाह न की।

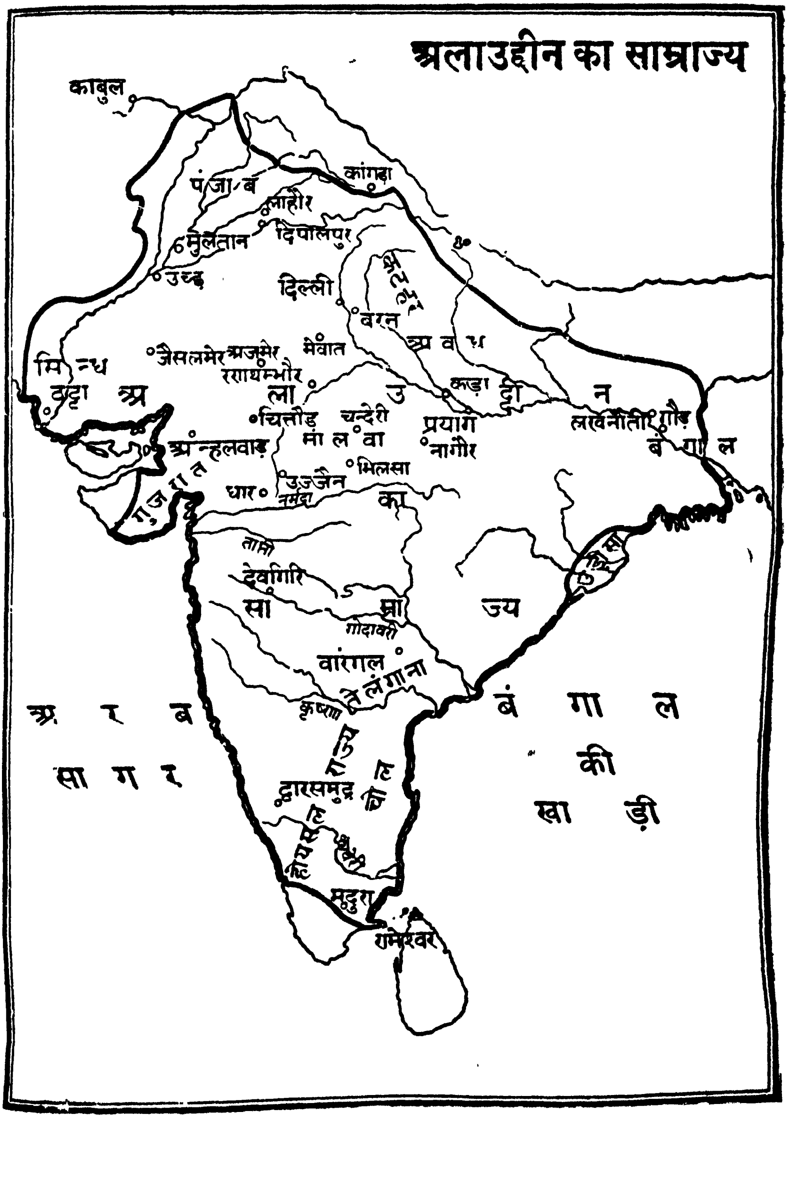
विद्रोह-दमन—अलाउद्दीन ने अपनी शासन-व्यवस्था में पूर्ण योग्यता और दूरदर्शिता का परिचय दिया, जिसकी आशा केवल एक योग्य सैनिक से नहीं की जा सकती। राजद्रोह और षड्यन्त्रों ने उसे निद्रा से जगा दिया और उसने राज्य में होनेवाले विद्रोह को रोकने के लिए कठोर साधनों का अनुसरण किया। उसने विचार किया कि राजनीतिक आन्दोलनों के कारण क्या हो सकते हैं। अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इसके केवल चार कारण हो सकते हैं: (१) सुलतान की राष्ट्रीय कार्यों के प्रति उदासीनता, (२) मद्य-पान, (३) मालिक, अमीर और राज्य के प्रतिष्ठित लोगों की मैत्री तथा उनका विशेष सहवास और (४) धन की बहुलता जिससे मनुष्यों का मस्तिष्क उन्मादपूर्ण हो गया था तथा जिसके कारण राजद्रोह देश में व्यापक हो रहा था।

इस छानबीन के पश्चात् दमन नीति से काम लिया गया और सुलतान ने संपत्ति छीन लेने की क्रिया प्रथम बार कार्यान्वित की। सभी से इनाम, जागीर इत्यादि छीन लिये गये और वे गाँव जो "मिल्क", "इनाम" अथवा "वक्फ" के तौर पर दिये गये थे फिर ले लिये गये और राज्य में मिला लिये गये। षड्यन्त्र और हत्या के भय से सुलतान सतर्क हो गया और जासूसों का बहुत ही उत्तम प्रबंध किया। इस प्रकार सरकारी कर्मचारियों तथा प्रजा के व्यवहारों का उसे यथार्थ ज्ञान हो जाता था। जो बात रईसों के घरों में होती थी उसकी सूचना सुलतान को दी जाती थी तथा सुलतान का विशेष कृपापात्र होने के लिए छोटी-मोटी बाजारू बातें भी गुप्तचरों द्वारा उसके कान तक पहुँच जाती थीं। मदिरा पीना मना कर दिया गया। सुलतान ने स्वयं मद्यपान बन्द कर लोगों को पथ-प्रदर्शित किया। सुलतान के भोजनालय में जितने चीनी और शीशे के बर्तन थे सब तोड़ डाले गये। शाही कोठरियों में से शराब के घड़े और पीपे उठा लाये गये और बदायूँ दरवाजे पर इतनी बड़ी मात्रा में उड़ेले गये कि वर्षा ऋतु की तरह कीचड़ ही कीचड़ हो गई। किन्तु यह विधान जनसाधारण को पसन्द न आया और शराब छिपे ढंग से नगर में

मँगाई जाने लगी। प्रतिष्ठित लोगों को घर पर अकेले मद्य-पान की आज्ञा दे दी गई, किन्तु सामाजिक अवसरों पर मद्यपान का कठोर निषेध जारी रहा। एकान्त में अथवा शराबघरों में हर प्रकार के खान-पान तथा राग-रंग बन्द कर दिये गये, क्योंकि इनसे सामाजिक प्रेम-व्यवहारों और सहिष्णुता में दोष पैदा हो जाये अथवा इनके पूर्ण लोप हो जाने की आशंका थी।

हिन्दुओं के साथ व्यवहार—हिन्दुओं के साथ विशेष कठोरता का व्यवहार किया गया। दोआबा में वे कुल उपज का ५० प्रतिशत बिना किसी काट-छाँट या निकासी के अदा करते थे और कर-निर्धारण विधि इतनी कठोर थी कि एक बिस्वा भूमि तक न बच सकी थी। पशुओं पर चराई-कर लगाया गया था। इसके साथ-साथ गृहकर (घरी) भी लोगों को देना पड़ता था। यही नियम "खूत" और "बलाहा" पर भी लागू किये गये। ऐसा कदाचित् गरीबों को कर के बोझ से बचाने के लिए किया गया था। ये नियम ऐसी कठोरता के साथ कार्यान्वित किये गये कि चौधरी खूत और मुकद्दम घोड़े की सवारी करने तथा पान खाने के सर्वथा अयोग्य हो गये और इन लोगों के लिए अस्त्र-शस्त्र धारण करना तथा उत्तम वस्त्र पहनना भी दुर्लभ हो गया। राज्य की यह नीति थी कि हिन्दुओं की आर्थिक दशा ऐसी रहे कि वे घोड़े पर न चढ़ सकें, उत्तम वस्त्र न पहन सकें तथा उत्तम प्रकार से जीवन व्यतीत न कर सकें। उनकी दशा ऐसी खराब हो गई कि खत और मुकद्दमों की स्त्रियाँ मुसलमानों के घर मजदूरी करने के लिए जाने लगीं। बर्नी साम्राज्य के वजीर के विषय में कहता है कि उसने सारे सूबों में मालगुजारी का एक ही नियम लागू किया, मानो संपूर्ण प्रान्त उसकी दृष्टि में एक गाँव था। उसने उन लोगों का पता लगाया जिन्होंने दूसरों की संपत्ति का छल-छद्म द्वारा अपहरण कर लिया था, और उन्हें कठोर दण्ड दिया। यदि पटवारी के कागज में एक जीतल भी किसी आमिल के नाम शेष रह जाता था, तो उसे कठोर दण्ड तथा कारावास का भागी होना पड़ता था। मालगुजारी महकमे के मुंशी का पद बड़ा भयावह समझा जाता था और केवल दुस्साहसी व्यक्ति ही उसके लिए उम्मीदवार होते थे।

हिन्दुओं के प्रति सुलतान की नीति का आभास उसके एक उत्तर से, जो


अलाउद्दीन का साम्राज्य
काबुल
पंजाब
कांगड़ा
लाहौर
मुलतान
दिपालपुर
उच्छ
दिल्ली
बरन
अवध
जैसलमेर
अजमेर
मेवात
रणथम्भौर
सिन्ध
कड़ा
चित्तौड़
चन्देरी
प्रयाग
लखनौती
गौड़
अन्हलवाड़
मालवा
नागौर
बंगाल
गुजरात
भिलसा
उज्जैन
धार
नर्मदा
ताप्ती
देवगिरि
गोदावरी
वारंगल
तेलंगाना
कृष्णा
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
द्वारसमुद्र
मदुरा
रामेश्वर

उसने काजी को दिया था, भली भाँति प्रकट हो जाता है—"और मुल्ला तुम विद्वान् पुरुष हो, किन्तु तुम अनुभव नहीं रखते, मैं एक अशिक्षित व्यक्ति हूँ किन्तु मैंने बहुत कुछ देखा है, हिन्दू जब तक दरिद्र नहीं कर दिये जायँगे, तब तक वे कभी आज्ञाकारी नहीं हो सकते। इसलिए मैंने आज्ञा दे दी है कि उन्हें प्रतिवर्ष के निर्वाह के लिए कुछ अन्न छोड़ दिया जाय, कहीं ऐसा न हो कि वे धन अथवा संपत्ति इकट्ठी कर सकें।"

सेना का संगठन तथा बाजार-नियन्त्रण—अलाउद्दीन स्वयं एक सैनिक था। उसने देखा कि बिना एक स्थायी सेना के साम्राज्य की रक्षा नहीं की जा सकती। इस दृष्टिकोण को लेकर उसने सैनिक सुधार आरंभ किया। उसने एक सिपाही का वार्षिक वेतन २३४ टंक रक्खा और उस आदमी का जिसके पास दो घोड़े थे ७८ टंक वेतन और बढ़ा दिया। किन्तु इतनी बड़ी सेना की व्यवस्था करना सर्वथा असंभव था जब तक कि जीवन की आवश्यक चीजें सस्ती न कर दी जायें। इसलिए सुलतान ने ऐसी वस्तुओं के निर्ख निर्धारित कर दिये। अन्न राजकीय धान्यागार में इकट्ठा होने लगा और खालसा के गाँवों में मालगुजारी (भूमिकर) रुपये, पैसे में नहीं किन्तु अन्न के रूप में वसूल की जाने लगी। खाद्य पदार्थों का भाव नियत कर दिया गया और दूकानदारों को, यदि वे नियम का पालन नहीं करते थे, कठोर दण्ड दिया जाता था। गुप्तचर और शहना बाजार की दशा सुलतान को सूचित करने के लिए नियुक्त किये गये। सभी व्यापारी चाहे वह हिन्दू हों या मुसलमान अपना पूरा विवरण देकर कार्य आरंभ कर सकते थे। उनको अपना सामान बदायूँ दरवाजे के भीतर 'सराय अदल' में लाकर बेचना पड़ता था। धनी और प्रतिष्ठित इन मुल्तानी व्यापारियों को अधिक मात्रा में सामान खरीदने के लिए सरकारी खजाने से पेशगी रुपया दे दिया जाता था। मलिक और अमीरों को मूल्यवान् वस्तुएँ खरीदने के लिए दीवान आज्ञा-पत्र देता था। इन उपायों से व्यापारियों को बाजार में सस्ते भाव पर चीजें खरीदने तथा ऊँचे दाम पर देश में विक्रय करने से रोका गया।

बाजार की देख-भाल का कार्य क्रमशः "दीवान रियासत" और "शहना मण्डी" नामक दो अधिकारियों को सौंपा गया। ये अधिकारी पवित्रता और

नियमपूर्वक अपने कर्त्तव्य का पालन करते थे। पशुओं का मूल्य भी निर्दिष्ट कर दिया गया और फलतः उनकी कीमत बहुत कम हो गई। प्रथम श्रेणी के घोड़े १०० से १२० टंक तक, द्वितीय श्रेणी के ८० से ९० टंक तक, तृतीय श्रेणी के ६५ से ७० टंक तक और छोटे-छोटे साधारण टट्टू १० से २५ टंक में खरीदे जा सकते थे। एक दूध देनेवाली गाय ३ या ४ टंक में और एक बकरी १०, १२ या १४ जीतल में खरीदी जा सकती थी। दासों और नौकरानियों का मूल्य भी बहुत नीचे गिर गया। निर्खनामे के नियम के भंग करने पर कठोर दण्ड की आज्ञा थी। यदि दूकानदार कम तौलता था, तो कमी पूरी करने के लिए उसके शरीर में से उतना ही गोश्त काट लिया जाता था। अनुचित व्यवहारों के फलस्वरूप दूकानदार ठोकर मारकर दूकान से नीचे गिरा दिये जाते थे। इन सबका परिणाम यह हुआ कि बाजार के आदमी नियमानुकूल चलने लगे। धूर्तता का व्यवहार नाममात्र भी न रह गया और भयभीत दूकानदार ग्राहकों को तौल में अधिक माल देने लगे।

सुधार का परिणाम—इन सुधारों को पर्याप्त सफलता मिली। सैनिक शक्ति की वृद्धि के कारण मंगोलों के आक्रमण का भय न रह गया और अविजित राजा और सरदार नियन्त्रण में आ गये। विद्रोह दबा दिये गये, और मनुष्यों का आचरण ऐसा सुधर गया कि बड़े अपराध बन्द हो गये। जीवन की जरूरी चीजों के सस्ते होने के कारण जनसाधारण के आनन्द की भी अभिवृद्धि हुई और वे सहर्ष राज्य के नियमों का पालन करने लगे। यद्यपि युद्ध के कारण राज्य का आर्थिक भार बहुत बढ़ गया था, फिर भी प्रजा के लाभार्थ अनेक कार्य किये गये। बादशाह ने विद्वान् तथा धार्मिक लोगों के प्रति विशेष सहिष्णुता प्रकट की। राज-कवि अमीर खुसरो और शेख निजामुद्दीन औलिया तथा शेख रुकुनुद्दीन सरीखे महान् पुरुषों ने उसके शासन के गौरव की वृद्धि की। साम्राज्य के अमीरों का दमन कर दिया गया और उन पर दृढ़ नियन्त्रण स्थापित किया गया। दूरस्थ प्रान्तों के शासक सुलतान की आज्ञा का पूर्णरूपेण पालन करते थे। राज्य के हाकिम स्वतन्त्र कार्य करने के लिए अबाध्य थे, परन्तु शाही इच्छा की अवहेलना करने पर उन्हें कठोर दण्ड दिया जाता था।

शासन की दुर्बलता—अलाउद्दीन के शासन की नींव दृढ़ नहीं थी। जिस नई पद्धति को उसने प्रजा पर विहित किया, उसके कारण क्षोभ तथा असन्तोष उत्पन्न हो गया। हिन्दू राजा जिनकी स्वतन्त्रता छीन ली गई थी अपनी क्षति की समय-समय पर याद किया करते थे तथा अवसर की प्रतीक्षा में थे कि कभी वे भी अपनी स्वतन्त्रता के लिए सुलतान के विरुद्ध खड़े हो सकते हैं। सरदार आमोद-प्रमोद का जीवन व्यतीत करने लगे थे, वे अनुशासन के घृणित विधान से क्षुब्ध हो गये थे। व्यापारी, बाजार-नियन्त्रण की नीति से अप्रसन्न थे तथा हिन्दू अपने ऊपर की गई अवहेलना को आह भरते हुए स्मरण करते थे। नये मुसलमान सर्वदा सुलतान के विरुद्ध षड्यन्त्र करने में निरत थे। अधिकाधिक केन्द्रीकरण, निरोध और गुप्तचर विभाग की नियुक्ति आदि ने राज्य-शक्ति में घुन का काम किया। ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया, त्यों-त्यों बादशाह की प्रवृत्ति हिंसात्मक तथा अनवस्थित होती गई और उसकी सन्देहशील प्रकृति ने बड़े-बड़े सरदारों के प्रति असहिष्णुता उत्पन्न कर दी। स्वेच्छा से राज-कर्मचारियों का दल बनाने के लिए उसने निम्नकोटि के व्यक्तियों को आदरणीय तथा उच्च पद दिये। उसने अपने पुत्रों की शिक्षा की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और काफूर के प्रभाव में आकर उनके साथ अमानुषिक व्यवहार किया। गुप्त रूप से काफूर ने शक्ति प्राप्त करने की चेष्टा भी की। उसने सुलतान से शाहजादा शहाबुद्दीन के पक्ष में एक वसीयतनामा लिखवाया। सुलतान की शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होने लगी और साम्राज्य के दूरस्थ प्रान्त में विद्रोह की आग भड़क उठी। एक मुसलमान इतिहासकार के शब्दों में, "ऐश्वर्य साधारण और परिवर्तनशील सिद्ध हुआ, भाग्य ने उसे नष्ट करने के लिये अपनी कटार खींची" और अलाउद्दीन क्रोधवश अपना ही मांस काटने लगा जब उसने देखा कि उसके जीवन के कार्य उसकी आँखों के सामने ही रद्द हो रहे हैं। सुलतान जो पहले से ही एक प्राणघातक रोग के पंजे में जकड़ गया था, ऐसी घोर परिस्थितियों के बीच सन् १३१६ ई० में इस असार संसार से कूच कर गया और जामा मस्जिद के सामने एक कब्र में दफन कर दिया गया।

अलाउद्दीन का चरित्र-चित्रण—अलाउद्दीन कठोर और निर्दय स्वभाव

का निरंकुश शासक था। धार्मिक मुल्ला-मौलवी यदि उसकी नीति में किसी प्रकार हस्तक्षेप करते थे तो उन्हें कठिन दण्ड देता था। वह संबंधियों के साथ भी समान व्यवहार करता था और बिना किसी भेद-भाव के दण्ड देता था। उसमें सैनिक नेता के स्वाभाविक गुण थे। वह योग्य प्रबन्धक के जन्म-जात गुणों से भी परिपूर्ण था और जब तक वह जीवित रहा, तब तक उसने अपने विशाल वैभव को दृढ़ नियन्त्रण में रक्खा। उसे अपने समय की भयानक स्थितियाँ स्पष्ट दिखलाई पड़ीं और उसने उनका भली भाँति दमन भी किया। उसे अपने सिपाहियों पर दृढ़ विश्वास था और सैनिकों को उसके उदाहरण से प्रोत्साहन मिलता था। नागरिक प्रबंध का उसने योग्यतापूर्वक संगठन किया और अपूर्व शक्ति और मानसिक बल का परिचय दिया। बाजार-नियन्त्रण मध्ययुग की राजनीति का एक ज्वलन्त प्रमाण तथा चमत्कार है। अलाउद्दीन ने दृढ़ता के साथ शासन किया और स्वयं राजकर्मचारियों के चाल-चलन का निरीक्षण किया। कृषकों से कोई एक पैसा भी अधिक नहीं ले सकता था। वह स्वयं अशिक्षित था, किन्तु विद्वान् और धार्मिक पुरुषों को आश्रय देता था और उनके सहायतार्थ वृत्ति तथा भूमिदान करता था। यह पहला मुसलमान शासक था, जो उलमा की परम्परागत नीति का विरोध करने में समर्थ हुआ। उसने इस्लाम की गरिमा को सच्चा विकास दिया।

अलाउद्दीन के उत्तराधिकारी—अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद विपक्षी दलों में युद्ध की तैयारी होने लगी। मलिक काफूर ने एक-एक करके राजकुमारों को हराकर अपना मार्ग साफ कर लिया और एक मिथ्या वसीयतनामा उपस्थित किया जिसमें स्वर्गीय सुलतान ने उमरखाँ को अपना उत्तराधिकारी बनाया था। उमर छः वर्ष का एक बच्चा था इसलिए मलिक काफूर स्वयं शासक बन बैठा। और राज्य-कार्य का संचालन करने लगा। अलाउद्दीन के उत्तरजीवियों को नष्ट करना उसका पहला काम था। मुबारक खाँ के अतिरिक्त शेष सब राजकुमार बन्दीगृह में डाल दिये गये या मार डाले गये और काफूर ने अपने हितैषियों को उच्च पदों पर नियुक्त किया। इस नीति से राज्य में और खिलजी वंश के समर्थकों में असंतोष फैल गया। षड्यन्त्र रचा गया और सेना की सहायता से अलाउद्दीन के गुलामों ने काफूर तथा उसके प्रमुख

साथियों को मार डाला। काफ़ूर की मृत्यु के अनन्तर मुबारकखाँ कुतुबुद्दीन मुबारकशाह के नाम से १३१६ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ।

कुतुबुद्दीन मुबारकशाह १३१६-१८—मुबारक ने भली भाँति अपना शासन प्रारंभ किया। उसने राजनीतिक कैदियों को मुक्त किया। अपहृत भूमि उनके स्वामियों को लौटा दी तथा उन अगणित करों को उठा दिया जिनके कारण व्यापार और व्यवसाय की उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो गया था। बर्नी लिखता है कि अलाउद्दीन के नियमों का लोप होने लगा और मनुष्य पुनः अपने पुराने तरीके पर चलने लगे। किन्तु कोई भयानक विद्रोह न हुआ, केवल १३१८ ई० में देवगिरि के राजा हरपालदेव ने विद्रोह किया जो शीघ्र ही दबा दिया गया तथा विद्रोही की खाल खिंचवाई गई। खुसरो नीच जाति का मनुष्य था और सुलतान का बहुत प्रिय था। उसने गुजरात से तेलिंगाना की ओर प्रस्थान किया तथा पर्याप्त सफलता प्राप्त की। राय ने अधीनता स्वीकार की और खुसरो को पाँच उपप्रान्त प्रदान किये तथा एक सौ बड़े-बड़े हाथी, १२,००० घोड़े और सोना, हीरा तथा जवाहर वार्षिक कर के रूप में देने की प्रतिज्ञा की।

विशाल वैभव ने मुबारक को नष्ट कर दिया। वह अभिमानी प्रतिशोधक तथा अत्याचारी हो गया और कुत्सित वासनाओं में लिप्त रहने लगा। शिष्टता और सदाचार को उसने तिलांजलि दे दी। साधारणतया वह वेश्याओं के सहवास में रहने लगा। नाचनेवाली लड़कियों की माँग बहुत हो गई। एक लड़के, मनोहर हिजड़े अथवा सुन्दर कुमारी का दाम ५०० से १००० और २००० टंक तक हो गया। सुलतान को उस समय शिष्टता का कुछ ध्यान न रहता था जब वह अपने मूर्ख साथियों के गन्दे शब्दों द्वारा दरबार के प्रतिष्ठित अमीरों की हँसी कराता था। खुसरो का प्रभाव दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा और अपने सजातियों की सहायता से उसने बादशाह को मार डालने का षड्यन्त्र रचा। सुलतान को खुसरो के विचारों की सूचना मिल गई, किन्तु उसने अपने शुभचिन्तकों के उपदेश पर कुछ भी ध्यान न दिया। षड्यन्त्रकारियों ने रात्रि के समय राज-भवन में प्रवेश किया और सुलतान को मार डाला। तत्काल ही

एक सभा की गई और खुसरो सरदारों और अधिकारियों की सम्मति से १३२० ई० में नासिरुद्दीन की उपाधि धारण करके गद्दी पर बैठा।

राज-वंशीय क्रान्ति—मुसलमान इतिहासकारों ने खुसरो के शासन को आतंक-काल के नाम से पुकारा है। उसने राज्य-कोष पर अपना अधिकार स्थापित किया और मनुष्यों को पर्याप्त धन देकर अपने पक्ष में किया। इस्लाम के साथ घृणित व्यवहार किया गया और पुराने सरदार तथा अधिकारी हटाकर उनके स्थान पर खुसरो के संबंधी बिठाये गये। उच्च कोटि के सरदार जिन्होंने पहले राज्य की सेवा की थी, इस कुप्रबन्ध के कारण अत्यंत दुःखी हुए। उनमें से एक ने खुसरो को सिंहासन से च्युत कराने का उपाय ढूँढ़ निकाला। उसका नाम फखरुद्दीन जूना था, जो बाद में मुहम्मद तुगलक के नाम से दिल्ली का बादशाह हुआ। उसने अपने पिता गाजी मलिक को जो दिपालपुर का सीमा-रक्षक था, प्रत्येक बात की सूचना भेज दी। वह वयोवृद्ध सैनिक रोष से उबल पड़ा। साम्राज्य के सभी सरदारों ने उसका साथ दिया, केवल मुल्तान का शासक जिसका उससे व्यक्तिगत मनमुटाव था, तटस्थ रहा।

गाजी मलिक के आगमन का समाचार पाते ही खुसरो भयभीत हो गया और अपनी सेना संगठित करने लगा। आलस्य और विलासिता से पतित दिल्ली की सेना गाजी मलिक के हृष्ट-पुष्ट मुसलमानों का सामना करने के सर्वथा अयोग्य थी। अयोग्य नेतृत्व के कारण सेना को सैनिक-नियमों का ज्ञान न था, इसलिए आरंभ ही से खुसरो के सामने नैराश्य-नीरद उमड़ने लगे। दोनों सेनाएँ आमने-सामने आ गईं, प्रत्येक ने एक दूसरे को पराजित करने के लिए कुशल युद्ध रीति का प्रदर्शन किया। खुसरो की अशिक्षित सेना में भग-दड़ मच गई और वह घबड़ाकर इधर-उधर भाग निकली।

खुसरो रणक्षेत्र से भाग निकला। किन्तु पकड़ा गया और उसका सिर काट लिया गया। उसके सहायकों को गिरफ्तार किया गया। दिल्ली पहुँचकर गाजी मलिक ने अलाउद्दीन के परिवार के उत्तरजीवियों का पता लगाया। एकत्रित सरदारों ने उत्तर दिया कि अलाउद्दीन का कोई वंशज बाकी नहीं है और एक स्वर से उससे राजकीय प्रभुत्व ग्रहण करने की प्रार्थना की। कट्टर सुन्नी इति-

हासकार जिया बर्नी अपनी प्रफुल्लित भावनाओं को इन शब्दों में व्यक्त करता है : "इस्लाम को नवजीवन प्रदान किया गया तथा उसमें नई शक्ति आई नास्तिकता की ध्वनि धराशायी हो गई। मनुष्यों के हृदय सन्तुष्ट हुए। सब अल्लाह् की दुआ करने लगे।" इस कथन में कितनी अतिशयोक्ति है इसका पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं।

तेईसवाँ अध्याय

तुगलक-वंश

(१३२०—१४१२ ई०)

गयासुद्दीन तुगलक १३२०—२५ ई०—सीमा संरक्षक गाजी मलिक गयासुद्दीन तुगलक के नाम से गद्दी पर बैठा। वह साधारण वंश का व्यक्ति था, उसका बाप करौना तुर्क और माता पंजाब की जाट स्त्री थी। उसने अपने व्यक्तिगत गुणों से उच्च पद प्राप्त किया था और अलाउद्दीन के समय में मंगोलों के विरुद्ध उसने युद्ध में बड़ी कुशलता दिखलाई थी तथा मंगोलों को कई बार देश के बाहर खदेड़ा था। जब उसने शासन की बागडोर सँभाली तब दिल्ली साम्राज्य बड़ी पतनावस्था को प्राप्त हो चला था। गया सुद्दीन ने कुशलता, बुद्धिमानी तथा दृढ़ता से राज्य-प्रतिष्ठा की रक्षा की और देश में सुव्यवस्थित शासन स्थापित किया। अलाउद्दीन के संबंधियों के साथ उसका व्यवहार उसकी महानुभावता का परिचय देता है। उसने उनको राज्य में उच्च पद दियें। किसी के उचित अधिकारों की उपेक्षा नहीं की तथा गत सेवाएँ विस्मृत न की गईं। श्रेणी और जन्म-स्वत्वों का आदर किया गया और उजड़े हुए परिवारों को पुनः प्राचीन स्थिति पर पहुँचने का अवसर दिया गया।

वारंगल के विरुद्ध प्रस्थान—साम्राज्य के कार्यों को व्यवस्थित करके, गयास ने तेलिंगाना काकेतय नरेशों की राजधानी वारंगल की ओर प्रस्थान किया। मुबारक खिलजी के शासन-काल में द्वितीय प्रताप रुद्रदेव ने अपनी शक्ति खूब बढ़ा ली थी। एक विशाल सेना के साथ युवराज उससे लड़ने भेजा गया। भयानक युद्ध के पश्चात् राजा ने हथियार डाल दिये और सम्पूर्ण देश सुलतान के अधिकार में आ गया। काकेतयों के ऐश्वर्य और प्रभुत्व का अन्त हो गया और इसके बाद दक्षिणी भारत में उनकी शक्ति नाममात्र को रह गई।

गयासुद्दीन का राज्य-प्रबन्ध—गयास का राज्य-प्रबंध न्याय और अनुशासन पर निर्भर था। भूमि-कर को व्यवस्थित कर सुल्तान ने दुर्व्यवहारों को

रोकने की ओर विशेष ध्यान दिया। खुसरो द्वारा दी गई जागीरें लौटा ली गईं, और राज्य की आर्थिक व्यवस्था में संशोधन किया गया। कृषकों के साथ उचित व्यवहार किया गया तथा राजकीय अफसरों को अनुचित व्यवहारों के लिए कठोरतापूर्वक दण्ड दिया जाने लगा। न्याय और रक्षा-विभाग में सफलतापूर्वक कार्य होने लगा तथा साम्राज्य के दूरस्थ भागों में भी शान्ति तथा सुरक्षा स्थापित थी। सेना संगठित थी। सैनिकों के साथ दया तथा उदारतापूर्ण व्यवहार किया जाता था। सैनिक तथा रण-शिक्षा का दृढ़ प्रतिपादन किया जाता था और लड़ाई के हथियारों की संख्या काफी थी।

गयास की मृत्यु—अपने शासन-काल के अन्त में सन १३२४ ई० में सुलतान बंगाल की ओर, लखनौती के राजकुमारों को जिन्हें उनके भाई बहादुर ने गद्दी से उतार दिया था, पुनः सिंहासन पर बिठाने के लिए प्रस्थान किया। बहादुर दण्डित किया गया और अधिकार-च्युत कुमार पुनः अपने राज्य के पूर्व पद पर बिठाये गये। सन् १३२५ ई० में जब सुलतान दिल्ली लौट रहा था, राजधानी से ६ मील की दूरी पर अफगानपुर के निकट वह एक मंडप के नीचे, जिसे उसके पुत्र राजकुमार जूना ने तैयार कराया था, दबकर मर गया। सम्राट् की मृत्यु के लिए राजकुमार पर सन्देह किया गया, परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सुलतान की हत्या के लिए जो षड्यन्त्र रचा गया था, उसमें युवराज का भी हाथ था।

मुहम्मद का चरित्र—गयासुद्दीन तुगलक के पश्चात् उसका पुत्र राजकुमार जूना मुहम्मद बिन तुगलक के नाम से १३२५ ई० में गद्दी पर बैठा। यह निर्विवाद है कि मध्यकालीन बादशाहों में वह सबसे योग्य व्यक्ति था। मुसलमानों की विजय से अब तक जितने राजा दिल्ली के सिंहासन पर बैठ चुके थे यह उन सबसे अधिक विद्वान तथा निपुण था। प्रकृति का कुछ ऐसा वरदान था कि उसकी स्मरण-शक्ति अद्भुत थी, उसकी बुद्धि तीव्र तथा सामयिक थी तथा वह अनेक प्रकार की विद्याओं को ग्रहण कर लेने की विलक्षण क्षमता रखता था। उसकी तीव्र बुद्धि से उसके समकालीन व्यक्ति आश्चर्यचकित हो जाते थे। वह ललित कलाओं का प्रेमी, संस्कृत का विद्वान् और निपुण कवि था तथा तर्क-शास्त्र, ज्योतिष, गणित, दर्शनशास्त्र और शरीर-विज्ञान का भी

अद्भुत पंडित था। रचना और सुन्दर तथा स्पष्ट लेखन-कला में वह अद्वितीय था। उसे फारसी की बहुत-सी कविताएँ याद थीं जिनका वह विस्तृत प्रयोग अपनी रचनाओं तथा भाषणों में किया करता था। वह उपमा और अलंकारों का प्रयोग बड़ी प्रवीणता से करता था और उसका साहित्यिक निर्माण फारसी के उच्च कोटि के ग्रन्थों के प्रभाव से परिपक्व हुआ करता था। बड़े-बड़े अलंकार-शास्त्रज्ञ भी सूक्ष्म तथा सुन्दर विषयों के विश्लेषण में उसकी कल्पना, अभिरुचि और अधिकार की प्रतिभा के सामने न ठहर सकते थे। वह तर्क-विद्या और अरस्तू के दर्शन-शास्त्र का प्रकाण्ड विद्वान् था, बड़े-बड़े अध्यात्मवादी तथा अलंकार-शास्त्र के विशेषज्ञ उससे विवाद करने में भय खाते थे। बर्नी उसका वर्णन इस प्रकार करता है कि वह उत्कृष्ट तथा गंभीर विद्वान्, सृष्टि का यथार्थ कौतूहल था, जिसकी योग्यता के सामने अरस्तू और आसफ तक आश्चर्यचकित हो जाते। वह अत्यंत उदार था। प्रायः सभी समकालीन लेखकों की सम्मति है कि वह निवेदकों को, जिनसे उसका द्वार सर्वदा घिरा रहता था, मुँहमाँगी वस्तुएँ प्रदान करता था। वह एक पाक मुसलमान था और कुरानशरीफ की आयतें तथा कानूनों को स्वतः मानता हुआ अन्य मुसलमानों को भी मानने के लिए बाध्य करता था। किन्तु वह अपने और पूर्वाधिकारियों की भाँति निर्दय तथा हठधर्मी नहीं था। उसकी उदारता की सूचना हमें इस बात से मिल जाती है कि वह हिन्दुओं के प्रति अत्यंत सहनशील था तथा उस समय में प्रचलित सती-प्रथा को रोककर उसने उन्नतिशील सुधार करने का प्रयास किया।

मूर यात्री इब्नबतूता जो १३३३ ई० में भारत आया था, सुल्तान के विषय में इस प्रकार लिखता है—"मुहम्मद दान देने तथा रक्तपात करने में सबसे आगे है। उसके द्वार पर सर्वदा कुछ दरिद्र मनुष्य धनवान् होते तथा कुछ प्राणदण्ड पाते देखे जाते हैं। अपने उदार और निर्भीक कार्यों तथा निर्दय और हिंसात्मक व्यवहारों के कारण जनसाधारण में उसकी बड़ी प्रसिद्धि है। यह सब होते हुए भी वह अत्यंत विनम्र तथा न्यायप्रिय व्यक्ति है। धार्मिक अवसरों के प्रति उसे असीम सहानुभूति है, प्रार्थना बड़ी सावधानी से करता है तथा उसके उल्लंघन के लिए कठोर दण्ड की आज्ञा देता है।

उसका वैभव विशाल तथा उसका आमोद-प्रमोद साधारण सीमा को लाँघ गया है, किन्तु उदारता उसका विशिष्ट गुण है। मैं उसकी उदारता के कुछ उदाहरण दूंगा जो निस्सन्देह आश्चर्यजनक थे तथा जिनकी समता में उसके पूर्वकालिक राजाओं के कार्य नहीं के बराबर थे।

साधारण विचार करने पर सुलतान कुतूहलवर्द्धक विभिन्नताओं का सम्मिश्रण प्रतीत होता है। किन्तु वास्तव में वह ऐसा नहीं है। रक्त पिपासिता तथा उन्मत्तता, जिसका वर्णन बाद के लेखकों ने किया है, प्रायः यथार्थ तथा प्रामाणिक नहीं है। सुलतान की उन्मत्तता का स्पष्ट वर्णन किसी सम-कालीन लेखक द्वारा नहीं मिलता। सुलतान पर रक्तपिपासिता का अभियोग लेखक-कर्मचारी-दल द्वारा, जिनकी प्रत्यक्ष अवहेलना की जाती थी, लगाया गया था। यह सत्य है कि मध्यकालीन और निरंकुश शासकों की भाँति क्रोधोन्मत्त होकर तथा समाज की श्रेणियों और पदों का आदर न करते हुए उसने उन लोगों को, जो उसकी इच्छा के विरुद्ध कार्य करते थे, कठिन दण्ड दिया, किन्तु यह कि वह जन्मजात अत्याचारी तथा मानव-रक्तपिपासु था, केवल उसे कलंकित करना है। ध्यानपूर्वक विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि साधारणतः, रक्तपात और क्रूरता के अभियोग जो सुलतान पर लादे गये हैं, निर्मूल तथा भ्रमात्मक हैं। ऐसा करने में सुलतान किसी आनन्द का अनुभव नहीं करता था। यथार्थता तो यह है कि सुलतान दृढ़तापूर्वक एक उन्नतिशील तथा आदर्श राज्य-प्रबन्ध की स्थापना करना चाहता था और जब देखता था कि जनता उसके प्रतिपादित नियमों के विरुद्ध जा रही है तब वह क्रोध में उमड़ पड़ता था। उसकी अधीरता का कारण प्रचलित उदासीनता थी, जो उसकी भयावह नवीन पद्धति का परिणाम थी।

दोआब में कर-वृद्धि—सुलतान का शासन-संबंधी पहला कार्य दोआब में कर-वृद्धि थी। बर्नी कहता है कि इससे देश तथा लोगों को अपार क्षति पहुँची। एक दूसरा इतिहासकार लिखता है कि जीवन की आवश्यकताओं पर जो कर लगाया गया था, उसकी वसूली इस कठोरता से होती थी कि व्याव-सायिक शक्ति का ह्रास हो गया। बर्नी के अनुसार मनुष्यों की आयु के अनुसार, उन पर कर लगाया गया। इसके अतिरिक्त कुछ घृणित स्थानीय कर जिन्हें आबवाब

कहते थे लगाये गये, जिनसे किसानों की दशा अत्यंत दयनीय हो गई। सभी इतिहासकार इस राजकीय कर योजना से उत्पन्न आपत्ति का उल्लेख करते हैं तथा स्वयं बर्नी, जिसके वीरान प्रदेश को भी कर-वृद्धि से पर्याप्त क्षति उठानी पड़ी थी, सुल्तान की निन्दा करता है। वह जनता के दुःख दारिद्रय का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करता है और कहता है कि जब दूरस्थ भागों की प्रजा ने दोआब की आपत्ति का समाचार सुना, तो विद्रोह के लिए खड़ी हो गई तथा उसने राजभक्ति को ठुकरा दिया। अभाग्यवश यह व्यवस्था उस समय कार्यान्वित की गई जब दोआब भयानक अकाल से पीड़ित था। परिणामस्वरूप जनता के पूर्व कष्ट में कई गुनी वृद्धि हो गई। सुलतान सर्वथा दोषमुक्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसके अधिकारियों ने बढ़े हुए कर पर भी नये करों को लगाया तथा अकाल के लिए कोई चेष्टा नहीं की। कुछ काल पश्चात् सुलतान ने अकाल पीड़ित क्षेत्र में कुएँ खोदने तथा कृषि को उन्नतिशील बनाने के लिए कृषकों को ऋण देने की आज्ञा दी। उपाय देर से किया गया, इसलिए दीर्घकाल से अकाल पीड़ित जनता को उससे कुछ लाभ न हो सका तथा उसे निराश और अकिंचन हो, बहुत क्षति उठानी पड़ी। मुहम्मद बिन तुगलक की परोपकार और सुधार की भावना दुर्भाग्य द्वारा कुचल दी गई।

राजधानी का परिवर्त्तन (१३२६-२७)—दूसरा आयोजन देवगिरि को, जिसका नाम दौलताबाद रक्खा गया, राजधानी बनाना था, जिसके कारण प्रजा को बहुत दुःख उठाना पड़ा। साम्राज्य का विस्तार, उत्तर में दोआब, पंजाब के मैदान, लाहौर तथा सिन्ध और गुजरात के समुद्री-तट तक, पूर्व में बंगाल तक तथा मध्य में मालवा, उज्जैन, महोबा और धार प्रदेश तक हो चुका था। दक्षिण भी जीता जा चुका था तथा वहाँ की बड़ी शक्तियों ने दिल्ली की प्रभुता स्वीकार कर ली थी। साम्राज्य की राजधानी के लिए दिल्ली को उचित न समझकर उसने दौलताबाद को जो केन्द्र में स्थित था, राजधानी बनाने का निर्णय किया। इसके अतिरिक्त यह मंगोलों के पथ से, जिनके कारण दिल्ली के आस-पास की स्थिति शंकाग्रस्त रहती थी, दूर सुरक्षित स्थान पर स्थित था। यह स्पष्ट है कि यह परिवर्तन केवल राजा की मानसिक चंचलता के कारण न था। उसने शान्त तथा सुव्यवस्थित शासन स्थापित करने की

उत्कंठा से ही इस आयोजन का प्रतिपादन करने की कोशिश की। भारत में अपने अधिकारों की सुरक्षा के निमित्त उसने उत्तर से दक्षिण तक पत्र-वाहकों का प्रबन्ध कर रक्खा था।

यदि सुलतान स्वयं अपने राज-कर्मचारियों के साथ दौलताबाद जाने में सन्तुष्ट रहता, तो इस परिवर्तन से संभवतः कोई विशेष कठिनाई कदापि न उपस्थित होती। किन्तु उसने दिल्ली के पुरुष, स्त्री और बच्चों सभी को अपनी सम्पूर्ण सामग्री के साथ दौलताबाद जाने की आज्ञा देकर बड़ी विलक्षण भूल की। सब प्रकार की सुविधाओं का प्रबन्ध किया गया। दिल्ली से दौलताबाद तक एक सड़क बनाई गई तथा मार्ग-प्रवासियों के लिए निःशल्क भोजन और निवास की व्यवस्था की गई। यात्रा के समय जिनके पास खाने-पीने को कुछ न था, उनके लिए सुलतान ने राज्य-कोष से यात्रा तक ही नहीं, वरन् वहाँ पहुँच जाने पर भी उनके भोजन का प्रबन्ध करके बड़ी उदारता दिखलाई। किन्तु इस सहायता से कुछ लाभ न हुआ। जो लोग दिल्ली में पीढ़ियों से रहते आये थे, उन्हें अपने प्रिय नगर को छोड़ते हुए बहुत दुःख हुआ। ७०० मील की लम्बी यात्रा अत्यंत कष्ट-साध्य थी। कितने चलते-चलते थक गये, कितनों ने गृह-प्रेम के कारण असहाय हो मार्ग में ही प्राण त्याग कर दिया और जो लोग वहाँ पहुँच भी गये, उन्होंने उस विचित्र, अपरिचित और अननुकूल प्रदेश में अपना निर्वासन समझा। बर्नी लिखता है कि बहुत से निराश मुसलमानों ने उस अशिष्ट प्रदेश में अपना सर झुका दिया तथा प्रवासियों में से बहुत कम अपने घर लौटने के लिए जीवित रह सके।

इब्नबतूता की यह अनुचित कल्पना, कि राजाज्ञा द्वारा इस बात का पता लगाया गया कि दिल्ली में कहीं कोई आदमी अपने घर में छिप तो नहीं गया है, और दो आदमी, एक लँगड़ा और दूसरा अन्धा, छिपे हुए थे, ढूँढ़ निकाले गये तथा दौलताबाद घसीटकर लाये गये, केवल गप्प है तथा सुलतान को कलंकित करने के लिए बाद में गढ़ ली गई है। यह सत्य है कि सुलतान की आज्ञा का कठोरतापूर्वक पालन किया गया किन्तु यह केवल आक्षेप मात्र है कि प्रजा को अकारण कष्ट देना उसका अभिप्राय था। उसका महत्त्व उसके इस कार्य से टपक पड़ता है कि जब उसने अपनी योजना को असफल होते देखा

तो निवासियों को दिल्ली लौट जाने की आज्ञा दी तथा उनकी यात्रा का उदारतापूर्ण प्रबन्ध किया और भली भाँति उनकी क्षतिपूर्ति की। किन्तु दिल्ली उजड़ चुकी थी। सुलतान ने निकट तथा दूर से विद्वान् पुरुष, व्यापारी तथा भूस्वामियों को लाकर उनके घरों में बसाना चाहा, किन्तु इस प्रलोभन से कुछ विशेष लाभ न हो सका। प्राचीन वैभव फिर न लौट सका, दिल्ली अपने पूर्व गौरव को न पहुँच सकी, क्योंकि मूर-यात्री ने १३३४ ई० में दिल्ली को स्थान-स्थान पर उजड़ा पाया।

लेन-पूल लिखता है कि दौलताबाद लक्ष्य-भ्रष्ट शक्ति के कीर्ति-स्तम्भ की भाँति शेष रह गया। परिवर्तन की आयोजना अभाग्यवश असफल रही। यह पूर्णतया संशय-ग्रस्त है कि वहाँ से साम्राज्य के विभिन्न भागों पर दृढ़ प्रबन्ध सफलतापूर्वक किया जा सकता था। वह यह विचार करना भूल ही गया कि दौलताबाद, साम्राज्य के उत्तरी सीमान्त प्रान्तों से, जिनकी रक्षा के लिए अत्यंत सावधानी की आवश्यकता थी, बहुत दूर स्थित था। उसने इस बात की ओर भी ध्यान न दिया कि उत्तर में हिन्दू राज्य-क्रान्ति तथा मंगोल-आक्रमण से राज्य की स्थिति डाँवाडोल हो सकती थी। ऐसी भयानक परिस्थिति के उत्पन्न हो जाने पर दक्षिण की अर्द्धविजित जातियों तथा मध्य एशिया के भ्रमणशील उपद्रवकारियों से आहत सुलतान के लिए अराजकता का दमन करना एक महान् दुष्कार्य था।

ताँबे का सिक्का—१३३०—मुहम्मद तुगलक को सिक्काकारों का राजा यथार्थ में ही कहा गया है। उसका पहला काम सम्पूर्ण मुद्रा-निर्माण-प्रथा का सुधार करना, बहुमूल्य धातुओं का अनुकूल मूल्य निर्धारित करना तथा सिक्के ढलवाना था, जो विनिमय को सुविधाजनक बना सके तथा प्रचलित साधन का कार्य संपादित कर सके, किन्तु उसका विशेष झुकाव सहायक सिक्कों को जन्म देना था। इतिहासकारों ने सुलतान की इस प्रवृत्ति का, जिससे प्रभावित होकर उसने इस अद्भुत कार्य को प्रारंभ किया, पता लगाने की चेष्टा की है। राजकोष का पानी की भाँति बहाना ही ताँबे का सिक्का प्रचलित करने का प्रधान कारण था। यह निर्विवाद है कि सुलतान की मुक्तहस्त उदारता, राजधानी परिवर्तन के कारण अतुल व्यय तथा सशस्त्र एवं सुसज्जित राजद्रोह को दमन करने की

यात्रा के कारण, राज-कोष कुछ रिक्त पड़ गया। किन्तु कुछ अन्य कारण भी थे जिनसे उसे पर्याप्त क्षति उठानी पड़ी। कर निर्धारण-नीति असफल हो चुकी थी, तथा राज्य के विभिन्न भागों में अकाल के कारण कृषि की दशा अत्यन्त चिन्ताजनक हो गई थी, जिससे राज्यकर का प्रत्यक्ष ह्रास हुआ। यह साहस के साथ नहीं कहा जा सकता कि सुलतान दिवालिया हो गया था। उसके कोष में सिक्के थे, क्योंकि वह बराबर नये सिक्कों के लिए पवित्र सिक्के चुकाता गया तथा अत्यंत संकटापन्न स्थिति का उसने आश्चर्यजनक सफलता के साथ सामना किया। अपने उच्चाभिलाषी स्वभाव से प्रेरित हो अपने साधन की वृद्धि द्वारा उसने उच्च विजय कामना तथा शासन-सुधार को कार्यान्वित करना चाहा था। एक और भी कारण था, सुलतान प्रतिभाशाली व्यक्ति था, अपूर्व कलाओं तथा प्रयोगों से उसे बड़ी अभिरुचि थी। चीन और फारस के शासकों के उदाहरणों को सामने रखकर उसने ऐसे प्रयोगों की परीक्षा करने का निर्णय किया जिससे प्रजा को किसी प्रकार का धोखा न दिया जा सके। इसकी पुष्टि स्वयं उसके सिक्कों पर की अंकित कथाओं से हो जाती है। ताँबे के सिक्के जारी किये गये तथा शास्त्रोक्त ठहराए गये, किन्तु राज्य का उन पर सर्वाधिकार न रह सका। एक समकालीन मुसलमान लेखक अपने सहधर्मियों के दोष को क्षमा करते हुए संकेत करता है कि प्रत्येक हिन्दू का घर टकसाल के रूप में परिणत हो गया था, तथा विभिन्न प्रान्तों के हिन्दुओं ने लाखों और करोड़ों रुपये के सिक्के बना लिये थे। जाली सिक्कों का प्रयोग होने लगा, हिन्दू तथा मुसलमान दोनों जाली सिक्के बनाने लगे तथा नये सिक्कों में ही कर चुकाने लगे। अस्त्र-शस्त्र और विलासिता की अन्य सामग्री का भी संग्रह होने लगा। गाँव के मुखिया, व्यापारी और जमींदार अपने सोने और चाँदी को छिपाकर ताँबे के सिक्के बड़े-बड़े पैमाने पर बनाने एवं उन्हीं से अपना ऋण चुकाने लगे। परिणाम यह हुआ कि जनता को बहुत बड़ा लाभ, तथा राज्य को बहुत बड़ी क्षति उठानी पड़ी। राज्य को निरन्तर धोखा खाना पड़ा, क्योंकि जनता के जाली सिक्कों तथा राजा के नये सिक्कों में रूपान्तर करना असंभव था। सोने और चाँदी की कमी हो गई। व्यापार रुककर निर्जीव होने लगा। बड़ी अशान्ति फैल गई। व्यापारी वर्ग ने नया सिक्का, जिसका मूल्य कंकड़-पत्थर के समान हो गया था,

लेना अस्वीकार कर दिया। जब सुलतान ने अपनी योजना को असफल होते देखा, तो उसने अपनी प्रथम घोषणा भंग कर दी तथा प्रजा को आज्ञा दी कि वह सोने और चाँदी के सिक्के अपने ताँबे के सिक्कों से बदल ले। सहस्रों मनुष्य अपने-अपने सिक्के लेकर राज्य-कोष पर एकत्र हुए और उन्होंने सोने और चाँदी के सिक्के बदले में माँगे। सुलतान छल-छद्म से पृथक् होने के कारण अपनी ही प्रजा द्वारा वंचित किया गया और इस प्रकार राजकीय कोष बहुत बड़ी मात्रा में रिक्त हो गया। सम्पूर्ण नये सिक्के वापस ले लिये गये। इब्नबतूता जो तीन वर्ष बाद दिल्ली में आया, लिखता है कि इसका कोई आपत्तिजनक परिणाम न हुआ और जनसाधारण शीघ्र ही ताँबे के सिक्कों को भूल गया।

चौदहवीं शताब्दी के भारत में इस आयोजन का सफल होना असंभव था। सुलतान का विचार कितना ही उदार क्यों न रहा हो, किन्तु साधारण जनता को ताँबा ताँबा ही था। सुलतान अपनी ऊँची आशाओं, जनता के परिवर्तन विरोधी स्वभाव तथा सहायक सिक्के की स्वीकृति को, जो वर्तमान समय में भी प्रचलित सिक्का-साधनों से लाभ उठाने की इच्छा पर निहित नहीं है किन्तु स्वाभाविक है, नियन्त्रित न कर सका। टकसाल पर राज्य का एकाधिकार न था, और सुलतान जालसाजी पर दृढ़ नियन्त्रण न रख सका। एलफिन्स्टन का यह कथन न्याय-संगत नहीं है कि राजा के दिवालियापन तथा अस्थिरता के कारण, सिक्कों के प्रचलन में असफलता रही, क्योंकि आवश्यक समझकर सुलतान ने सब सिक्के तुरन्त ही वापस ले लिये। मिस्टर गार्डनर ब्राउन ने इस अव्यवस्था का कारण चौदहवीं शताब्दी में विश्वव्यापी चाँदी की कमी को बतलाया है। अपने राज्याभिषेक के पश्चात् ही मुहम्मद तुगलक ने ३०० रत्ती का एक सोने की दीनार और २१० रत्ती का चाँदी का एक सिक्का जिसे 'अदली' भी कहते थे, तथा जिनमें से प्रत्येक की तोल २६२·५ रत्ती थी, सोने और चाँदी के बदले में निकाले और अब तक यही सिक्के प्रयोग में आते रहे। सोने के दीनार के परिचालन तथा "अदली" के परिवर्तन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय देश में सोने की अधिकता तथा समान मात्रा में चाँदी की कमी थी। दक्षिण से काफ़ूर जो धन लाया था, उसमें जवाहिरात और सोना ही प्रचुर मात्रा

में थे और यही कारण था कि सोने का मूल्य प्रायः गिर गया था। सुलतान मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् भी चाँदी की कमी चलती रही। फीरोज के केवल तीन चाँदी के सिक्के देखने में आये हैं। एडवर्ड टामस कहता है जिनमें से एक मुबारक शाह का और एक मुहम्मद बिन फरीद का है। लोदी वंश के आलम शाह और उसके उत्तराधिकारियों का एक भी देखने में नहीं आया और सोलहवीं शताब्दी के मध्य तक हमें पुनः शेरशाह सूरी और उसके उत्तराधिकारियों के टकसाल से जारी किये हुए चाँदी के सिक्के देखने में आते हैं। इस योजना की असफलता के विषय में प्रसिद्ध मुद्राशास्त्रज्ञ एडवर्ड टामस का कथन पूर्णतया यथार्थ है, "राजकीय टकसाल की रचना तथा साधारणतः कुशल कारीगरों के हस्तकार्य में विभेद उत्पन्न करनेवाला कोई विशेष यंत्र न था। चीन के कागज के सिक्कों के अनुसरण के रोकने के उपाय से विरुद्ध ताँबे के सिक्कों पर नियंत्रण स्थापित करने का कोई उपाय न रह गया था और न साधारणतया बहुत बड़ी संख्या में सिक्कों का बनना ही रुक सका।"

शासन की उदार नीति—मुहम्मद तुगलक ने साम्प्रदायिक पक्षपात की नीति का बहिष्कार कर दिया। उसने हिन्दुओं के साथ उदारता का व्यवहार किया। ऐसा उदारतापूर्ण व्यवहार उसके किसी भी पूर्वाधिकारी ने न दिखाया था। अपने दुर्बल मस्तिष्क चचेरे भाई फीरोज की भाँति वह अतार्किक हठधर्मी नहीं था। उसकी संस्कृति ने उसके व्यक्तित्व को विस्तृत कर दिया था। दार्शनिकों और विद्वानों के सम्भाषण ने उसमें सहनशीलता की क्षमता, जिसके लिए अकबर की अत्यन्त प्रशंसा होती है, पैदा कर दी थी। उसने उनमें से कुछ को राज्य के उच्च पदों पर नियुक्त किया और अकबर की भाँति सती प्रथा को बन्द करने की पर्याप्त चेष्टा की। स्वतन्त्र राजपूत-राज्यों को न छेड़ा गया, क्योंकि सुलतान जानता था कि चित्तौड़ और रणथम्भोर जैसे दुर्गों पर स्थायी अधिकार स्थापित करना अत्यन्त दुष्कर कार्य था; किन्तु मुल्ला और मौलवियों को यह नीति पसन्द न आई। अलाउद्दीन की भाँति वह लूट के धन का $\frac{4}{5}$ भाग स्वयं ले लिया करता था तथा शेष सैनिकों को छोड़ देता था। किन्तु जब उसने न्याय-विभाग के एकाधिकार से उलमा को पूर्णतया वंचित कर दिया, तो उन लोगों के हृदय को बड़ी चोट पहुँची। वह

इतना न्यायप्रिय था कि न्याय-सम्बन्धी कार्यों का स्वत: निरीक्षण करता था तथा न्यायालय द्वारा अपने विरुद्ध दिये गये निर्णय को भी सहर्ष स्वीकार करता था।

वह पुनर्विचार के महान् न्यायालय की देख-भाल स्वयं करता था तथा मुफ्तियों के निर्णय को, जब वे उसके निर्णय से भिन्न पड़ते थे, भंग कर देता था और अपने विचारों पर दृढ़ रहता था। धर्मपरायण दल का प्रभाव कम करने के लिए काजियों, मुफ्तियों तथा वैतनिक धर्म-व्यवस्थापकों के अतिरिक्त, सुलतान ने राज्य के कुछ प्रमुख अधिकारियों को न्यायालय-सम्बन्धी विशेशाधिकार प्रदान किये। वह न्याय करने में बड़ा कठोर था। वह पुरोहित-वर्ग के व्यक्तियों के साथ, जो विद्रोह, प्रत्यक्ष राज्य-क्रान्ति तथा जनता के कोष-अपहरण के अपराधी होते थे, कठोर व्यवहार करता था। जन्म, श्रेणी अथवा धर्म-निष्ठा आदि किसी अपराधी को उसके उचित दण्ड से मुक्त करने में किसी प्रकार भी सहायक न होते थे और यही कारण है कि जब इब्नबतूता ने जिसने बहुत से देशों का परिभ्रमण किया था तथा बहुत से मनुष्यों और तत्सम्बन्धी व्यापारों का अध्ययन किया था, अपने देश वापस जाने पर सुलतान के भय की भावी आशंका से मुक्त होकर सुलतान के विषय में अपना यह मत प्रकाशित किया कि सुलतान सभी मनुष्यों से विशेष नम्र है तथा सब मनुष्यों से बढ़कर उसे न्याय प्रिय है।

सुलतान ने राज्य-सेवाएँ कार्यक्षमता के आधार पर संगठित कीं। देश में योग्य अधिकारियों की कमी के कारण सुलतान ने विदेशियों को उच्च पारितोषिक तथा दान देकर अपनी सेवाओं (नौकरियों) में नियुक्त किया। इस नीति के कारण देश के प्रतिष्ठितों में क्षोभ फैला तथा साम्राज्य में विद्रोह की आग भड़क उठी। सुलतान की उदारता की कोई सीमा न रही। उसने कई विभागों की स्थापना की, जिनमें से दो का वर्णन करना विशेष उपयुक्त है—पहला पारितोषिक-विभाग था जिसका कार्य पारितोषिक देना तथा लेना था और दूसरा व्यवसाय-विभाग था, जिसका काम राज-महिलाओं तथा रईसों की स्त्रियों के लिए बहुमूल्य वस्त्र तैयार करना था।

सुलतान की विजय-योजना—अपने पूर्वाधिकारी अलाउद्दीन की भाँति सुलतान ने भी एक महान् विदेश-विजय-योजना को तैयार किया। अपने

शासनकाल के प्रारम्भिक भाग में कुछ खुरासानी रईसों ने जो कि उसकी राजसभा में शरण पाये हुए थे, उसे अपने देश पर आक्रमण करने के लिए प्रलोभित किया। व्यवस्था में कोई तरंगी या मूर्खतापूर्ण वस्तु न थी। अबूसईद की अधीनता में खुरासान की दशा अत्यन्त असन्तोषजनक हो गई थी। चगताई नायक तरमाशीरीन तथा मिस्र के शासक फारस राज्य को हड़पने के लिए अत्यन्त उत्सुक हो रहे थे। मुहम्मद ने, जिसका मिस्र के शासक के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध था, तीन लाख सत्तर हजार आदमियों की एक विशाल सेना एकत्र की, जिनको प्रजा-कोष से एक पूरे वर्ष का वेतन दे दिया गया। किन्तु योजना सफल न हो सकी! परन्तु इस समय यह कार्य, दिल्ली की सेना की शक्ति के बाहर था। मुहम्मद तुगलक ने इस योजना को भंग करके तथा अपना ध्यान भारत की ओर केन्द्रीभूत करके बड़ी बुद्धिमानी की।

दूसरी योजना जिसके लिए सुलतान की निन्दा की जाती है, चीन की विजय थी। फरिश्ता से सहमत होते हुए वर्तमान भारतीय इतिहास लेखकों ने इस बात का अनुमान करने में भूल की है कि बादशाह ने चीन को जीतने का प्रयत्न किया था। समकालीन लेखक बर्नी का कथन है कि सुलतान का अभिप्राय भारत और चीन के मध्यवर्ती प्रदेश के काराकल या कराजल नामक पर्वत को विजित करना था। इब्नबतूता स्पष्टतया कहता है कि प्रस्थान कराजल पर्वत की ओर, जो दिल्ली से दस मील की दूरी पर था, किया गया था। इससे स्पष्ट होता है कि वह पर्वत हिमालय था जो चीन और भारत के बीच अगम्य सीमा का कार्य करता है। प्रत्यक्षतः विजय-प्रस्थान, एक पहाड़ी नायक के विरुद्ध, जो दिल्ली का प्रभुत्व स्वीकार नहीं करता था, किया गया था। साम्राज्याभिमानियों को प्रथम आक्रमण में सफलता प्राप्त हुई, किन्तु वर्षा ऋतु के प्रारंभ हो जाने पर प्रधान कार्यालयों से सामग्री का पहुँचना असम्भव हो गया और सेना हतोत्साह हो गई। धूर्त पर्वतवासियों ने सेना का सर्वस्व अपहरण कर लिया तथा सेना को बड़ा दुःख उठाना पड़ा। इस भयानक आपत्ति की सूचना देने के लिए केवल दस अश्वारोही वापस आये। किन्तु इस प्रस्थान में कुछ सफलता प्राप्त हुई; पर्वतीय राजा ने सुलतान से सन्धि की और वार्षिक कर देना

भी स्वीकार किया, क्योंकि उसके लिए पहाड़ी के निम्न भू-भागों पर, सुलतान की अधीनता स्वीकार किये बिना, कृषि करना असम्भव था।

शासन की अव्यवस्था, अहसान शाह का विद्रोह—१३३५ ई० से मुहम्मद तुगलक का भाग्य पलटा खाने लगा। इसका कारण था, सुलतान के उत्तरार्द्ध जीवन की कठोर नीति तथा कुछ चिरकालीन अकाल जिससे भारत के विभिन्न भागों को विशेष क्षति पहुँची थी। जब शासन-प्रबन्ध का प्रधानाश्रय राज्यकर घट गया तो साम्राज्य के विभिन्न भाग में विद्रोह आरंभ हो गये। सबसे महत्त्वपूर्ण तथा प्रथम विद्रोह १३३५ ई० में माबर जलालुद्दीन अहसान शाह का था। यद्यपि आस-पास में अराजकता तथा अकाल के कारण दिल्ली की दशा शोचनीय थी, तथापि सुलतान ने विद्रोह दमनार्थ स्वयं यात्रा की; किन्तु जब वह तिलंगाना पहुँचा, तो विशूचिका फैल जाने के कारण राज वर्ग के बहुत से व्यक्ति मर गये। अज्ञात आपत्ति के कारण यात्रा बन्द कर देनी पड़ी तथा अहसान शाह स्वतन्त्र हो गया।

बंगाल में विद्रोह—बख्तियार के पुत्र मुहम्मद के समय से बंगाल, दिल्ली साम्राज्य का स्वामिभक्त प्रान्त न रह गया था। कादिर खाँ के वर्म-वाहक फखरुद्दीन ने जो लखनौती का शासक था, अपने स्वामी की हत्या करके ७३७-३८ अलहिजरी (१३३७ ई०) में उसके राज्य पर अधिकार स्थापित कर लिया। दिल्ली की अव्यवस्थित दशा से लाभ उठाते हुए उसने अपने को बंगाल का स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया तथा अपने नाम का सिक्का चलवाया। सुलतान साम्राज्य के अन्य भागों के झगड़े में बुरी तरह उलझा हुआ था, इसलिए इस नये विद्रोही की ओर उसका ध्यान आकृष्ट न हो सका। सुलतान की ओर से विरोध उपस्थित न होने के कारण, स्थानीय अवरोधों का दमन करते हुए उसने सफलतापूर्वक अपनी राजसत्ता स्थापित कर ली। उसने शीघ्र ही सम्पूर्ण देश पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया तथा योग्यता और साहसपूर्वक शासन करने लगा।

ऐनुलमुल्क का विद्रोह, (१३४०-४१)—बंगाल में कुछ और लोगों ने भी विद्रोह किया, जो उतना महत्त्वपूर्ण नहीं था तथा शीघ्रता से दबा दिया गया। अधिक महत्त्वपूर्ण विद्रोह अवध और जफराबाद के शासक ऐनुल-

मुल्क ने १३४०-४१ में प्रारम्भ किया। ऐनुलमुल्क एक प्रतिष्ठित व्यक्ति था; उसने राज्य की बड़ी सेवाएँ की थीं तथा राज्य-सभा में उसका बड़ा सम्मान था। जब सुलतान अकाल के कारण अपनी राज-सभा फर्रुखाबाद जिले में सरगद्वारी नामक स्थान को ले गया था, तो ऐनुलमुल्क तथा उसके भाइयों ने इस कार्य में बड़ी सहायता पहुँचाई थी। सुलतान की एक विचित्र अदूरदर्शिता के कारण स्वामिभक्त शासक (सूबेदार) को विद्रोह करना पड़ा। दक्षिण के किसी अधिकारी का दुराचार सुनकर, सुलतान ने ऐनुलमुल्क को प्रदेश का शासक बनाकर भेजने का निश्चय किया तथा उसे अपने परिवार और आश्रितों सहित वहाँ जाने की आज्ञा दी। स्थानान्तर की इस अनुल्लंघनीय आज्ञा से मलिक अत्यन्त आश्चर्यचकित हो गया। सुलतान के भय से मुक्ति पाने के हेतु जिन्होंने अवध और जफराबाद में शरण पाई, उन्होंने उसके कान भर डाले। ऐनुलमुल्क सशंकित होकर तत्काल विद्रोह कर बैठा और अपने भाइयों की सहायता से उसने सम्पूर्ण राजकीय सामग्री का जो उसके संरक्षण में थी, अपहरण कर लिया। इस विद्रोह का समाचार सुनकर, पहले तो सुलतान हक्का-बक्का हो गया; किन्तु तुरन्त ही अपनी शक्ति दृढ़ करने का उपाय करने लगा। उसने सेना की नैतिक अवस्था की ओर विशेष ध्यान दिया तथा स्वयं सेना की गतिविधि का निरीक्षण करने लगा। लम्बे युद्ध के पश्चात् ऐनुलमुल्क पराजित हुआ और राज-शिविर में बन्दी बनाकर लाया गया। उसके साथियों को कठोर मृत्यु-दण्ड दिया गया, और वह अपनी प्राचीन सेवाओं के लिए क्षमा-दान पाकर राज-पुष्पवाटिका का निरीक्षक नियुक्त हुआ।

सिन्ध में लूट-दमन—भाग्य ने इस अभागे राजा को विश्राम न लेने दिया। ज्यों ही वह एक ओर व्यवस्था का दमन करता था त्यों ही दूसरी ओर उससे कई गुनी विशाल आपत्ति मँडराने लगती। यह दोष सिन्ध में बड़ा प्रबल था। सुलतान अपनी सेना लेकर उधर बढ़ा और उसने दुराचारियों को तितर-बितर कर दिया। उसके नेता पकड़ लिये गये तथा इस्लाम स्वीकार करने पर विवश किये गये। १३४२ के अन्त तक भारत में व्यवस्था स्थापित की गई; किन्तु उससे अधिक महत्त्वपूर्ण अव्यवस्था, शीघ्र ही दक्षिण में आरंभ

हो गई। उसका स्वरूप भयानक एवं विस्तृत हो गया और सुलतान ने विद्रोह दमन करने तथा अपनी शक्ति संगठित करने में अपने को निःशक्त पाया।

दक्षिण—दक्षिण कूट-प्रबन्ध और विद्रोहात्मक षड्यन्त्रों का जन्मदाता था। अपने शासनकाल के प्रथम भाग में सुलतान माबर, वारंगल और द्वारसमुद्र आदि प्रान्तों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुका था और प्रायः सम्पूर्ण दक्षिण उसके साम्राज्यान्तर्गत आ चुका था। किन्तु १३३५ ई० में माबर एक स्वतन्त्र राज्य हो गया तथा हरिहर और उसके भाई बुक्क ने मुसलमान शक्ति के प्रतिरोध के लिए १३३६ ई० में विजयनगर राज्य की स्थापना की जिसका स्पष्ट विवरण आगे दिया जायगा। १३४४ ई० में प्रताप रुद्रदेव काकेतिया के पुत्र कण्य नायक अथवा कृष्ण नायक ने दक्षिण के हिन्दुओं का सन्धि-संगठन किया। वल्लाला चतुर्थ के प्रयत्न से, हरिहर और कृष्ण नायक तथा कुछ और सहयोगी नेताओं के नेतृत्व में दक्षिण की राज्य-क्रान्ति आरम्भ हुई जिसके परिणामस्वरूप वारंगल, द्वारसमुद्र और कारोमंडल समुद्र-तटीय प्रान्तों से मुस्लिम-शक्ति का ह्रास हो गया। १३४६ ई० में हौयसलास के पतन से हरिहर को अपनी शक्ति दृढ़ करने का सुअवसर प्राप्त हो गया और इस समय से विजयनगर दक्षिण में एक पथ-प्रदर्शक राज्य तथा उत्तर से मुसलमान आक्रमण के विरुद्ध दुर्ग-सा बन गया।

केवल गुजरात और देवगिरि मुहम्मद तुगलक के अधिकार में रह गये। अनेक असफलताओं के कारण उसका स्वभाव उग्र हो गया था तथा उसमें मानवी सहिष्णुता का वह गुण न रह गया था, जिससे क्रूर मनुष्यों के साथ सहानुभृति का व्यवहार स्थापित किया जा सके। उसने देवगिरि के योग्य शासक कुतलुग खाँ को पदच्युत करके उसके स्थान पर अपने भाई को नियुक्त किया। इस प्रबन्ध से देश में असन्तोष फैल गया। राज्य-कर घट गया तथा राज्याधिकारी अभागी प्रजा से रुपया ऐंठने लगे। मूर्ख मद्य विक्रेता के पुत्र अजीज खुमार ने, जिसे मालवा और धार की जागीरें सुपुर्द की गई थीं, बाहरी अमीरों की हत्या करके पुनः बड़ी भूल की। अजीज के इस कार्य से अमीरों में आतंक फैल गया और उन्होंने अपनी रक्षा के लिए शस्त्र उठाये। दक्षिण

में शीघ्र ही अव्यवस्था फैल गई और सेना चारों ओर विद्रोही हो गई। सुलतान ने स्वयं विद्रोह का दमन करने के लिए गुजरात की ओर प्रस्थान किया तथा दौलताबाद के नये शासक कुतलुग खाँ के भाई निजामुद्दीन के पास से विदेशी अमीरों को तुरन्त भेजने की आज्ञा दी। रायचूर, मुगदल, गुलबर्गा, बीदर, बीजापुर और अन्य स्थानों के अमीर राजाज्ञा का पालन करते थे। वे गुजरात की ओर चल दिये; किन्तु मार्ग में उन्हें शंका हुई कि सुलतान का विचार उनके प्राण ले लेना है। उन्होंने राज-रक्षकों पर आक्रमण कर दिया, जिन्होंने पीछा कर उनको मार डाला तथा दौलताबाद लौटे और वहाँ निजामुद्दीन को पकड़कर बन्दी कर लिया। दौलताबाद का दुर्ग उनके अधिकार में आ गया; राजकोष पर अधिकार कर लिया गया; महाराष्ट्र प्रदेश आपस में बाँट लिया तथा अपने नेताओं में से उन्होंने मलिक इस्माइल मख नामक अफगान को अपना राजा चुना। उनकी इस उत्तरोत्तर वृद्धि का समाचार पाते ही सुलतान ने दौलताबाद की ओर प्रस्थान किया और एक खुले युद्ध में उन्हें पराजित किया। मलिक मख अफगान देवगिरि के दुर्ग में छिप गया और एक दूसरा अफगान नेता हसन कांगू अपने अनुचरों के साथ गुलबर्गा की ओर भाग गया। सुलतान ने दौलताबाद पर घेरा डाल दिया और विद्रोहियों का पीछा करने के लिए अपने सेनानायक इमादुलमुल्क सरतेज को भेजा। दौलताबाद पर पुनः अधिकार स्थापित कर लिया गया; किन्तु गुजरात में तागी से राज-विप्लव के कारण सुलतान को शीघ्र ही वहाँ से हटना पड़ा। ज्यों ही सुलतान वापस लौटा त्यों ही विदेशी अमीरों ने एक बार फिर अपनी गई शक्ति को प्राप्त करने का साहसपूर्ण प्रयत्न किया। उन्होंने देवगिरि के दुर्ग पर आक्रमण कर दिया और साम्राज्यवादियों के दुर्ग पर पुनः अधिकार करने के उद्योग को असफल कर दिया। राज्य सेनानायक इमादुलमुल्क युद्ध-व्यापार में हसन द्वारा पराजित हुआ तथा दौलताबाद विद्रोहियों के अधिकार में आ गया। इस्माइल मख ने जिसको उन्होंने अपना राजा चुना था, स्वतः, प्रसन्नतापूर्वक हसन के लिए, जिसने इन युद्धों में बहुत बड़ा भाग लिया था, अपना पद-त्याग किया। हसन अलाउद्दीन बुद्दीन अबुल मुजफ्फर बहमन शाह की उपाधि धारण करके १३ अगस्त, १३४७ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ। इस प्रकार

प्रसिद्ध बहमनी राज्य की स्थापना हुई जिसका पूरा विवरण दूसरे भाग में दिया जायगा।

सुलतान की मृत्यु—तागी के विद्रोह का समाचार सुनकर सुलतान ने देवगिरि छोड़कर गुजरात के लिए प्रस्थान किया। विदेशी अमीरों का निर्णय किये बिना धूर्त तागी के दमन करने का निश्चय, सुलतान के लिए एक भूल थी। उसने एक स्थान से दूसरे स्थान तक विद्रोही का पीछा किया। किन्तु विद्रोही उसके हाथ न आ सका। उसने करनाल के राय को पराजित किया तथा सम्पूर्ण समुद्री किनारे पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। वहाँ से उसने गोंडाल की ओर प्रस्थान किया तथा वहाँ बीमार पड़ जाने के कारण उसे कुछ समय रुकना पड़ा। एक बड़ी सेना एकत्रित करके वह "थाता" की ओर अग्रसर हुआ; किन्तु तीन या चार दिन की यात्रा के पश्चात् ज्वर आ जाने के कारण २० मार्च, १३५१ ई० को इस असार संसार से वह चल बसा।

मुहम्मद का चरित्र-निरूपण—अभागे नरेश का इस प्रकार अंत हुआ। जीवन भर उसे कठिनाइयों का ही सामना करना पड़ा; किन्तु वह हताश होकर कार्य-विमुख कभी नहीं हुआ। यह सत्य है कि वह असफल रहा, किन्तु उसकी असफलता परिस्थितिजन्य थी, जिस पर उसका कोई अधिकार न था। दस वर्ष से भी अधिक भयंकर अकाल के कारण उसकी राज्य-श्रीहत हो गई तथा प्रजा ने भी उसका साथ छोड़ दिया। अकाल का सामना करने तथा उन्नतिशील सुधारों के लिए जो उसने प्रयत्न किये, उनको सामने रखकर उसे नीरो और कलीगुला की भाँति क्रूर तथा रक्तपिपासु होने का निर्णय देना सर्वथा अन्याय है। बर्नी और इब्नबतूता के लेखों से यह पूर्णतः प्रमाणित होता है कि वह अपने लिए रक्तपात करने का इच्छुक न था तथा अपने शत्रुओं के साथ भी उसने दया, उदारता और न्याय का व्यवहार किया। वह व्यावहारिक सुधार की बुद्धि तथा उत्साह रखता था, जैसा कि मध्यकालीन किसी शासक में नहीं था। किन्तु उसका कार्य बड़ा उत्कट हुआ करता था। वह सदैव एक स्थिर साम्राज्य के प्रश्न को अविश्वसनीय अधिकारी वर्ग द्वारा सुलझाना चाहता था। वह सनातनी उलमा के साथ भी, जो विशेषाधिकार के लिए शोर मचाते

थे तथा सुलतान के, प्रजा में न्याय और समानता के प्रचार के प्रयत्न पर अप्रसन्न होते थे, विश्वसनीय व्यवहार करता था।

प्रायः सभी वर्तमान लेखक सुलतान के विरुद्ध पागलपन का आरोप करते हैं; किन्तु इब्नबतूता के विवरण तथा बर्नी के इतिहास में कहीं भी इसका उल्लेख नहीं मिलता। रक्त-पिपासिता का आरोप भी उसी तरह निर्मूल है। उसने अभियुक्तों को कठोर दण्ड दिया; किन्तु कठोर दण्ड उस समय योरप तथा एशिया दोनों महाद्वीपों में दिया जाता था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि योरोपीय लेखक जो कठोरतापूर्वक पूर्वीय राजनीतिज्ञों तथा शासकों के कार्यों का निर्णय भर्त्सना के रूप में देते हैं, गलती पर हैं। मुहम्मद पर अपना निर्णय देते समय हमें उसकी कठिनाइयों पर भी विचार करना चाहिए।

इब्नबतूता—मुहम्मद बिन तुगलक के शासन के विषय में बहुत-सा हाल अफ्रीका-निवासी यात्री इब्नबतूता द्वारा मिलता है—

अबू-अबदुल्ला मुहम्मद जिसे साधारणतया इब्नबतूता कहते हैं, तंजा में २४ फरवरी १३०४ ई० को पैदा हुआ था। वह यात्रा करने की जन्मजात उत्कंठा रखता था और युवक हो जाने पर उसने अपनी हृदयगत कांक्षाओं को पूर्ण करने का विचार किया। २१ वर्ष की अवस्था में उसने अपनी यात्रा आरम्भ की और अफ्रीका तथा एशिया देशों में होता हुआ, हिन्दूकुश के मार्गों से भारत आया। बारहवीं सितम्बर १३३३ ई० को वह सिन्ध नदी तक पहुँच गया। वहाँ से उसने दिल्ली की ओर प्रस्थान किया तथा वहाँ राजमाता ने उसका अतिथि-सत्कार किया। मुहम्मद तुगलक ने उसे दिल्ली का काजी नियुक्त किया, अपनी राज-सभा में उसे जगह दी; वहाँ उसे राजा के असाधारण स्वभाव, गुण तथा कार्यों से परिचय पाने का निकट सुअवसर प्राप्त हुआ। वह भारत में आठ वर्ष तक रहा और १३४२ ई० में उसने सुलतान की नौकरी से इस्तीफा दे दिया। उसने हिन्दू और मुसलमान दोनों के समकालीन चाल-ढाल और रीति-रिवाज पर पर्याप्त प्रकाश डाला है तथा कई स्थानों पर जिया बर्नी का समर्थन करता है। मुहम्मद तुगलक ने उसे चीन का राजदूत बनाकर भेजा किन्तु अदृष्ट परिस्थितियों के कारण वह इस कार्य को पूर्ण न कर सका।

वह १३४९ ई० में अपने देश लौट गया तथा वहाँ उसने अपने अनुभवों का लिखित वर्णन प्रकाशित किया। सन् १३७७-७८ ई० में, ७३ वर्ष की अवस्था में उसका देहान्त हो गया। इब्नबतूता ने साधारणतया सत्य घटनाओं का वर्णन किया है। जो घटनाएँ उसके सामने हुईं, उनके लिए वह विश्वसनीय है।

फीरोज तुगलक का राज्याभिषेक—मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के बाद साम्राज्य में अशान्ति फैल गई तथा सैनिक और अन्य राजकीय कार्यों के नेताओं को बड़ा धक्का पहुँचा। तगी के विरुद्ध सुलतान की सहायता करने के लिए आये हुए मंगोल राज्य को लूटने लगे तथा सेना को शरणार्थ राजधानी की ओर लौटना कठिन हो गया। सुलतान के कोई लड़का न था, इसलिए आनेवाली परिस्थिति भयानक दिखलाई पड़ रही थी। इस आपत्ति के निवारणार्थ सरदारों ने शीघ्र ही एक उत्तराधिकारी चुन लेने की व्यवस्था की। समकालीन इतिहासकार बर्नी लिखता है कि स्वर्गीय सुलतान, फीरोज को युवराज बना गया था, जिसकी पुष्टि समकालीन लेखक शम्स सिराज अफीफ भी करता है। गत सुलतान के वसीयतनामे के अनुसार उन्होंने फीरोज को सिंहासन पर बिठाया तथा उसने सेनानायकों और सिपाहियों के परिवार को मंगोलों की क्रूरता से बचाने की प्रार्थना की। फीरोज निरुत्साही था। वह धार्मिक जीवन व्यतीत करना चाहता था, इसलिए पहले प्रस्ताव पर सशंकित हुआ। उसने कहा कि मैं मक्का की यात्रा करना चाहता हूँ। किन्तु सरदारों के दबाव के कारण राज्य के हित के लिए उसे उनकी सलाह माननी पड़ी। फीरोज की स्वीकृति से सेना पर शान्तिपूर्ण प्रभाव पड़ा तथा देश में शीघ्र ही व्यवस्था स्थापित हो गई। किन्तु दिल्ली में वजीर ख्वाजा जहाँ ने मुहम्मद का एक बनावटी पुत्र गद्दी पर बिठाकर परिस्थिति गंभीर कर दी। ख्वाजा पर राजद्रोह का अभियोग नहीं लगाया जा सकता; क्योंकि जब उसने सुना कि फीरोज तथा शाही सेना का प्रधान नेता तातार युद्ध-क्षेत्र से भागकर कहीं छिप गया, तब प्रजा के हित के लिए उसने ऐसा किया। फीरोज ने राज्य के प्रतिष्ठित व्यक्तियों से इस बात का पता लगाया कि सुलतान के कोई पुत्र है या नहीं, किन्तु उत्तर यही मिला कि उसके कोई पुत्र नहीं है। ख्वाजा अपने व्यवहार पर लज्जित हुआ और अत्यन्त विनम्र भाव से क्षमा-याचना के लिए फीरोज के सामने उपस्थित

हुआ। सुलतान उसके साथ उसकी प्राचीन सेवाओं के लिए दयापूर्ण व्यवहार करना चाहता था; किन्तु सरदारों ने इसे अस्वीकार किया और उसके अपराध को अक्षम्य बतलाया। सामाना की जागीर जाने के लिए ख्वाजा को आज्ञा हुई; परन्तु अमीरों के षड्यन्त्र से वह मार्ग ही में मार डाला गया।

फीरोज का चरित्र—२४ मार्च, १३५१ ई० में फीरोज तुगलक गद्दी पर बैठा। समकालीन मुसलमान लेखकों ने उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है; क्योंकि शासन काल के प्रारम्भ ही में वह धार्मिक निष्ठा की ओर झुका, जो उसके शासन-प्रबन्ध की नीति का मुख्य अंग बन गई। बर्नी लिखता है कि मुईज़ुद्दीन मुहम्मद बिन साम के बाद उसकी तरह दिल्ली का कोई शासक नम्र, दयालु, सत्य-प्रेमी, विश्वसनीय तथा धार्मिक नहीं हुआ। शम्स सिराज अफीफ उसकी अत्यंत प्रशंसा करता हुआ अतिशयोक्ति के रूप में उसके गुणों का वर्णन करता है। वह हठधर्मी था, बड़ी दृढ़ता से पवित्र नियमों का पालन करता था तथा धार्मिक अवसरों पर परहेजगार मुसलमान की भाँति व्यवहार करता था। अपनी हिन्दू प्रजा को इस्लाम स्वीकार करने के लिए प्रोत्साहित करता था और जो इस्लाम स्वीकार करते थे उन्हें जजिया से मुक्त कर देता था। वह दिल्ली का पहला बादशाह था जिसने ब्राह्मणों पर जजिया लगाया था। राज-भवन में किसी प्रकार की सजावट की आज्ञा न थी। सुलतान स्वयं सोने-चाँदी के बर्तनों की जगह मिट्टी के बर्तनों को काम में लाता था। किन्तु कुरान के प्रति अनन्य श्रद्धा होते हुए भी वह मदिरा के प्रयोग से अपने को बचा न सका। एक समय, जब तातार खाँ सुलतान से मिलने गया, तो वह बिस्तरे पर अर्द्धनग्न अवस्था में शराब के प्यालों को छिपाये लेटा हुआ था। खाँ ने इस बुरी बात के लिए उसे फटकारा। सुलतान ने प्रतिज्ञा की कि जब तक खाँ साथ रहेगा तब तक वह शराब का प्रयोग न करेगा। किन्तु अपनी दुर्बल इच्छा से विवश होकर उसने खाँ को हिसार फीरोजा के समीपवर्ती देश में भेज दिया।

परन्तु कट्टर सुन्नी मुसलमान होने पर भी फीरोज उदार तथा दयालु था। अपने सहधर्मियों के साथ वह अत्यन्त उदारतापूर्ण व्यवहार करता था। दीन-दुखियों को उचित सहायता देता था। उसके वैधानिक सुधार में उसकी दया

का आभास मिलता है। उसने यन्त्रणाओं का उन्मूलन कर दिया, वैधानिक रीतियों को संक्षिप्त किया तथा गुप्तचर-विभाग को कम किया। विद्वानों को सहायता दी, बहुत से मदरसे तथा उच्च कोटि के शिक्षालय स्थापित किये। प्रजा के कल्याण के लिए बहुत-सी योजनाएँ कीं जिनमें से मुख्य सिंचाई की सुविधा तथा दिल्ली में एक अस्पताल की स्थापना थी, जहाँ निःशुल्क औषधियों का वितरण होता था।

इतिहास में अपने शासन-सुधार के लिए फीरोज बहुत प्रसिद्ध है; किन्तु अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद तुगलक की योग्यता, वीरता तथा उत्साह का अंशमात्र भी उसमें न था। वह स्वतंत्र विचारवाला व्यक्ति न था। विशेषकर मुफ्ती और मौलवियों की ही बात मानता था। इसका नतीजा यह हुआ कि कुछ समय के बाद दिल्ली राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

बंगाल की पहली चढ़ाई (१३५३–५४)—मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के बाद बंगाल दिल्ली से अलग हो गया था और हाजी इलयास, शम्सुद्दीन की उपाधि धारण कर स्वतन्त्र शासक बन बैठा था। एक विशाल सेना लेकर सुलतान ने बंगाल की ओर प्रस्थान किया। वहाँ पहुँचकर प्रजा को अपनी घोषणा सुनाई, जिसमें हाजी इलयास के अपराधों का वर्णन किया और प्रजा के साथ सुनीतिपूर्ण व्यवहार करने और भली भाँति शासन करने का विश्वास दिलाया।

उसके आगमन का समाचार सुनकर हाजी इलयास इकदला के दुर्ग में जा छिपा। फीरोज ने उससे दुर्ग छुड़वाने के लिए एक कुशल युद्ध-नीति का आश्रय लिया। वह कुछ मील तक पीछे हट गया ताकि शत्रु उसे लौटते हुए देखकर उसे तंग करने के लिए दुर्ग से बाहर निकल पड़े। जो सोचा गया वही हुआ। शम्सुद्दीन ने एक विशालवाहिनी, जिसमें दस हजार अश्वारोही तथा दो लाख पैदल सैनिक थे, लेकर शाही सेना का पीछा किया। सुलतान ने मध्यकालीन युद्ध-कौशल के अनुसार अपनी सेना को तीन भागों में सुसज्जित किया—दाहिना, बायाँ और मध्य, और स्वयं सैनिक व्यवस्था के संगठन में भाग लिया। भयानक युद्ध हुआ जिसमें दोनों पक्ष के योद्धाओं ने वीरता दिखाई। जब शम्सुद्दीन ने अपनी पराजय होते देखी, तो वह पुनः इकदला के दुर्ग में जा

छिपा। शाही पक्षवालों की सफलता हुई और दुर्ग पूर्ण रूप से उनके अधिकार में आ गया। किन्तु स्त्रियों के रोने और चिल्लाने से सुलतान का करुण हृदय द्रवित हो गया और उसने इस कठिन विजय के फल को त्याग देना उचित समझा। शाही सेनानायक, तातार खाँ ने प्रान्त को राज्य में मिला लेने की प्रार्थना की; किन्तु अपनी दुर्बलता के कारण सुलतान ने उसकी सम्मति यह कहकर अस्वीकार कर दी कि बंगाल दलदली देश है, जिस पर अधिकार स्थापित रखना सर्वथा व्यर्थ है।

द्वितीय चढ़ाई—बंगाल से वापस आने के बाद सुलतान ने अपनी पूरी शक्ति शासन-प्रबंध की व्यवस्था में लगा दी। किन्तु बंगाल पर पुनः चढ़ाई करना आवश्यक हो गया, जब फखरुद्दीन के दामाद जफर खाँ ने शम्सुद्दीन के अत्याचार की शिकायत की। सुलतान से यह प्रार्थना की गई कि वह अपनी ओर से, इसमें हस्तक्षेप करें। राज-सभा में जफर खाँ का खूब स्वागत किया गया। वह आनन्द से फूला न समाया। जब सुलतान ने खानजहाँ को बंगाल पर चढ़ाई करने की आज्ञा दी। लोग अत्यन्त उत्साहित हुए और स्वयं अपना नाम सेना में देने लगे जिसमें ७० हजार घुड़सवार, अगणित पैदल सैनिक, ४७० हाथी तथा एक विशाल नावों का बेड़ा था। शम्सुद्दीन कुछ काल पहले मर चुका था, अतः उसका पुत्र सिकन्दर उस समय उसका उत्तराधिकारी था। अपने पिता की भाँति वह भी इकदला के दुर्ग में जा छिपा। दुर्ग पर घेरा डाल दिया गया, शाही सैनिकों ने दीवाल में सेंध लगा दी, किन्तु बंगालियों ने अत्यंत साहस तथा धैर्य के साथ उसे पुनः ठीक कर लिया। अनवरत घेरे के कारण दोनों पक्षों का साहस जाता रहा और शान्ति-प्रस्ताव प्रारम्भ हुआ। सिकन्दर के राजदूत ने धैर्य. योग्यता तथा दृढ़ता से प्रस्ताव-कार्य प्रारंभ किया। उसने जफर खाँ को सुनारगाँव वापस कर देना स्वीकार किया तथा चालीस हाथी और बहुमूल्य भेंट, मैत्री दृढ़ करने के लिए सुलतान के पास भेजी; किन्तु जफर खाँ जो इस आपत्ति का प्रधान कारण था, अपने देश जाने का विचार त्याग चुका था। तथा उसने दिल्ली में रहना निश्चित कर लिया था। एक बार पुनः फीरोज की दुर्बलता ने प्रान्त पर प्रभुत्व स्थापित करने से उसे रोक दिया।

जाज नगर के राय की अधीनता—बंगाल से लौटने पर सुलतान जौनपुर में ठहरा। वहाँ से उसने जाज नगर (वर्तमान् उड़ीसा) की ओर प्रस्थान किया। शाही सेना के पहुँचने पर राय भागकर एक द्वीप में जा छिपा; किन्तु सैनिकों ने वहाँ तक उसका पीछा किया। पुरी में जगन्नाथ का प्रसिद्ध मन्दिर भ्रष्ट किया गया तथा मूर्तियाँ समुद्र में फेंक दी गईं। अन्त में घबड़ाकर सन्धि-वार्ता के लिए राय ने अपने दूत भेजे। उन लोगों को अत्यंत आश्चर्य हुआ जब सुलतान ने कहा कि वह उनके स्वामी के भाग जाने का कारण तक नहीं जानता। राय ने अपने बर्ताव का स्पष्टीकरण किया और प्रतिवर्ष नियत संख्या में कर-स्वरूप कुछ हाथी देने की प्रतिज्ञा की। सुलतान ने इन शर्तों को स्वीकार किया। इसके बाद मार्ग में बहुत से प्रधान नायकों तथा भू-स्वामियों को अधीन करता हुआ राजधानी वापस आया।

नगरकोट की विजय (१३६०-६१ ई०)—नगरकोट का किला १३३७ ई० में मुहम्मद तुगलक ने जीत लिया था। किन्तु उसके शासन-काल के उत्तरार्द्ध में वहाँ का राय स्वतन्त्र हो गया था। नगरकोट में ज्वालामुखी का मन्दिर प्राचीन तथा पूज्य धर्म-स्थान था। वहाँ सहस्रों यात्री आते और मूर्ति पर बहुमूल्य उपहार चढ़ाते थे। इसका कारण उसकी पवित्रता थी। यही कारण फीरोज के चढ़ाई करने का था। समकालीन इतिहासकार लिखता है कि जब सुलतान मन्दिर पर पहुँचा, तो उसने उपस्थित रईस, राना तथा जमींदारों से इन शब्दों में पूछा—"इस पत्थर की पूजा से क्या लाभ है? इसकी स्तुति करने से तुम्हारी कौन-सी कामनाएँ पूर्ण होंगी? हमारे पवित्र धर्म के अनुसार हमारे विरुद्ध कार्य करनेवालों को नरक में जाना पड़ेगा।" नगरकोट के दुर्ग पर घेरा डाल दिया गया और चारों ओर मंजनीक और अरादें लगाये गये। छः मास के लंबे घेरे के पश्चात् दोनों पक्ष के सैनिक थक गये। सुलतान ने राय को क्षमा कर दिया। वह अपने दुर्ग से बाहर आया, और उसने सुलतान से क्षमा-याचना की। सुलतान ने उसकी पीठ पर अपने हाथ रक्खे तथा आदरणीय बहुमूल्य राजवस्त्रों से उसे सुसज्जित कर अपने दुर्ग को वापस भेज दिया।

ठट्टा की विजय (१३७१-७२)—ठट्टा की चढ़ाई फीरोज तुगलक के

शासन की अत्यंत मनोरंजक गाथा है। ठट्टा निवासियों ने भूतपूर्व सुलतान के प्रति जो विद्रोह किया था, उसी का बदला लेने के लिए यह चढ़ाई हुई। युद्ध के लिए सैनिक भर्ती किये गये। सेना में ९० हजार घुड़सवार, अगणित पैदल सैनिक तथा ४८० हाथी थे। पाँच सहस्र नावों का विशाल बेड़ा तैयार किया गया तथा अनुभवी जलसेना नायक नियुक्त किये गये। सिन्ध के शासक जाम बाबानिया ने अपना सैनिक संगठन किया, जिसमें २० सहस्र घोड़े, ४ लाख पैदल सिपाही युद्ध के लिए उद्यत थे। तदनन्तर सुलतान के राज्य में अकाल तथा महामारी के कारण आवश्यक पदार्थों की कमी पड़ गई, फलतः सेन का दसवाँ और अश्वारोहियों का एक चौथाई भाग नष्ट हो गया।

अत्यंत संकटाकीर्ण अवस्था आ जाने पर सुलतान गुजरात की ओर चला, परन्तु कच्छ के दलदल में मार्ग भूल गया। गुजरात पहुँचकर युद्ध की रूपरेखा तैयार करने तथा सेना संगठित करने में उसे प्रायः दो करोड़ रुपये व्यय करने पड़े। खान जहाँ ने दिल्ली से कुछ और सेना भेजकर शाही सेना को सुदृढ़ बना दिया। सिन्धवालों ने भयत्रस्त होकर समर्पण की इच्छा प्रकट की। जाम ने अधीनता स्वीकार कर ली; वह दिल्ली लाया गया। उसे उदार वृत्ति दी गई तथा उसके स्थान पर उसके भाई को राज्य दिया गया।

फीरोज का शासन-प्रबन्ध—फीरोज ने जागीर-प्रथा का, जो अलाउद्दीन के समय से बन्द हो गई थी, पुनरुद्धार किया। पूरा साम्राज्य जागीरों में और जागीरें जिलों में विभाजित कर दी गईं, जिनकी देख रेख के लिए अधिकारी नियुक्त किये गये। भूमि की इस स्वीकृति के अतिरिक्त राज्याधिकारियों को भत्ते दिये जाते थे जिनसे उन्हें धन संचित करने का अच्छा अवसर मिला। कृषकों के हितों की भली भाँति रक्षा की गई। सुलतान ने चार नहरें खुदवाईं जिनसे विस्तृत भू-भाग की सिंचाई होती थी। सिंचाई पर थोड़ा कर लगाया गया जो खेत की उपज का १/१० भाग होता था। कर इस्लाम के नियमों के अनुकूल लगाये गये। सभी तकलीफ देनेवाले कर उठा दिये गये। फतूहाते-फीरोजशाही में इस प्रकार के तेईस करों को बन्द करने का उल्लेख है। शरियत के अनुसार बादशाह ने चार कर लगाये—खिराज, जकात, जजिया तथा खुरस। युद्ध की लूट, धर्मानुकूल समानुपात में सेना तथा राज्य के बीच बाँटी

जाती थी। कर निर्धारण की नवीन पद्धति से व्यापार तथा कृषि की उन्नति में पर्याप्त लाभ पहुँचा। चीजों के दाम कम हो गये। खाद्य पदार्थों की कमी कभी महसूस न हुई।

कट्टर मुसलमान की भाँति फीरोज ने विधान और न्याय-कार्य का संचालन किया। उसने दृढ़ भक्ति के साथ कुरान का अनुसरण किया। मुफ्ती कानून की व्याख्या करता था और काजी निर्णय सुनाता था। न्याय-पद्धति में सुधार किया गया। कठोर सजाएँ बन्द कर दी गईं। अपराधियों के प्रति दयापूर्ण व्यवहार किया जाने लगा।

सुलतान का दीन और बेकारों के प्रति दयापूर्ण बर्ताव था। कोतवाल बेकारों की सूची बनाकर दीवान के पास भेजता था, वहाँ से उनके लिए उचित काम खोज दिया जाता था।

स्वयं औषधि-विज्ञान में दक्ष होने के कारण सुलतान ने दिल्ली में एक औषधालय (दारउलशफा) स्थापित किया, जहाँ बीमारों को मुफ्त दवा दी जाती थी। रोगियों को राज्य की ओर से भोजन दिया जाता था और उनकी देखभाल के लिए योग्य वैद्य हकीम नियुक्त किये गये थे।

सेना—साम्राज्य का सैनिक संगठन जागीर-प्रथा के आधार पर था। सैनिकों को जीवन-यापनार्थ भूमि दी गई थी। साथ ही कुछ अनियमित वेतन भी राजकोष से दिया जाता था, और वे लोग जिन्हें न तो वेतन ही मिलता था और न राज्य की ओर से भूमि ही दी गई थी, राज्य-कर में से कुछ हिस्सा पाते थे। जागीर प्राप्त अमीरों तथा राज्य के प्रतिष्ठित लोगों के अतिरिक्त जिनकी संख्या २० लाख के करीब थी, शाही सेना में ८ या ९ लाख अश्वारोही थे। अश्वारोहियों को आदेश किया गया था कि वे भरती-दफ्तर में उत्तम प्रकार के जानवर ले आवें और नायब-अजीज मुमालिक ने इस व्यापार-संबंधी उनके दूषित व्यवहारों का अन्त कर दिया। सिपाहियों के साथ दयापूर्ण व्यवहार किया जाता था तथा उन्हें हर प्रकार की सुविधाएँ दी जाती थीं। किन्तु सुलतान की अनियमित उदारता के कारण वृद्ध और दुर्बल आदमी भी सेना में पड़े रहते थे, इससे सेना की योग्यता को धक्का पहुँचा। एक नये विधान के अनुसार जब बुढ़ापे के कारण सिपाही काम करने के

अयोग्य हो जाता था, तो उसके स्थान पर उसका पुत्र या दामाद नियुक्त हो जाता था। "इस प्रकार अनुभवी व्यक्ति सुख-पूर्वक घर बैठते तथा युवक उनके स्थान में काम करते थे।"

दास-प्रथा—फीरोज के शासन के प्रधान अंगों में गुलामी प्रथा की असाधारण वृद्धि भी एक है। साम्राज्य के विभिन्न भागों के शासक गुलाम भेजकर भत्ता बनाया करते थे। सुलतान की सम्मति के कारण राजधानी तथा प्रान्तों में गुलामों की संख्या, कुछ ही वर्षों में, १,८०,००० तक पहुँच गई। गुलाम-सेना के उचित प्रबन्ध के लिए एक भिन्न विभाग स्थापित किया गया, जिसके अलग अधिकारीगण थे। इस प्रकार कोष का विशेष भाग व्यय होने लगा।

प्रजा के हित-कार्य—फीरोज को अनेक नगर बसाने तथा भवनों के निर्माण कराने का श्रेय है। उसने फीरोजाबाद, फतहाजाबाद, जौनपुर तथा अन्य कई नगरों की स्थापना की; मसजिदें, राजभवन, मठ तथा धर्मशालाएँ यात्रियों की सुविधा के लिए बनवाईं तथा अनेक टूटी-फूटी इमारतों की मरम्मत कराई। राज्य ने बहुत से कारीगरों को नियुक्त किया तथा प्रत्येक वर्ग के कारीगरों के निरीक्षणार्थ एक योग्य निरीक्षक नियुक्त किया जाता था। नये भवनों के निर्माण का प्रस्ताव दीवान-वजारत में संशोधित होता था, तत्पश्चात् निर्माण हेतु रुपया मंजूर होता था।

सुलतान उपवन, वाटिका का काम खूब जानता था। उसने अलाउद्दीन के प्राचीन बागीचों का पुनरुद्धार किया और दिल्ली के आस-पास १,२०० नये बागीचे लगवाये। अगणित बाग तथा फलों की वाटिकाएँ लगवाईं जिनसे राज्य की आय बढ़ गई। बंजर भूमि जोती गई और यद्यपि राज्य-विस्तार कम हो गया था, किन्तु राज्य की आय कई लाख बढ़ गई।

प्राचीन स्मृति-स्तम्भों से फीरोज को बड़ी दिलचस्पी थी। वह अशोक के दो शिला-स्तम्भ उठवाकर अपने नये शहर में ले आया। स्तम्भ-लेखों को स्पष्ट करने के लिए विद्वान् ब्राह्मण बुलाये गये, किन्तु उनकी लिपि वर्तमान् लिपि से भिन्न थी, इसलिए वे स्पष्ट करने में असफल रहे। उनमें से कुछ लोगों ने सुलतान को प्रसन्न करने के निमित्त यहाँ तक कह डाला कि उन

पर लिखा है कि इन शिला-स्तम्भों को फीरोज के पहले कोई नहीं हटा सकेगा।

शिक्षा की उन्नति—यद्यपि अपने चचेरे भाई मुहम्मद तुगलक की भाँति फीरोज विद्वान् नहीं था तथापि उसमें शिक्षा की उन्नति करने की प्रबल इच्छा थी। उसने विद्वान् पुरुषों को सहायता दी और अपने अंगूर-भवन (Palace of Grapes) में उनका हार्दिक स्वागत किया। उसने उन्हें पुरस्कार तथा उपहार दिये। बादशाह की दया से साम्राज्य के विभिन्न भागों में विद्वानों को प्रोत्साहित करना, राज्य की नीति का एक अंग हो गया। फीरोज इतिहास-प्रेमी था, उसके शासन-काल में जिया बर्नी और सम्स-शिराज अफीफ कृतियों के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी पुस्तकें लिखी गईं। बहुत से मदर्सों और मकतबों की स्थापना हुई, जहाँ लोग मनन-चिन्तन करते तथा शिक्षा पाते थे तथा उनकी नमाज की सुविधा के लिए प्रत्येक शिक्षालय में मसजिद बनाई गई थी।

अब्दुल बाकी की प्रसिद्ध पुस्तक मासिर ए रहीमी से स्पष्ट होता है कि उसने ५० मकतब बनवाये। निजामुद्दीन और फिरिश्ता का अनुमान है कि उनकी संख्या ३० थी। फीरोज फतूहात में ऐसी संस्थाओं का वर्णन करता है। फीरोजाबाद में फीरोजशाही मकतब पर्याप्त सहायता पाता था और अपने समय के अन्य मकतबों में बढ़ा-चढ़ा था। सुलतान ने बहुत सी संस्कृत पुस्तकों का अनुवाद फारसी में कराया। इनमें से एक दलायल-ए फीरोजशाही थी जो नगरकोट की विजय में उपलब्ध हुई थी।

खानजहाँ मकबूल—फीरोज के योग्य एवं शक्तिशाली मन्त्री खानजहाँ मकबूल का वर्णन किये बिना उसके शासन का वृत्तान्त अधूरा रह जायगा। प्रारंभ में वह तेलंगान का एक हिन्दू था जो बाद में मुसलमान हो गया था। सुलतान मुहम्मद तुगलक की अधीनता में उसे राज्य-कार्य का विशेष अनुभव हो गया था। सुलतान ने उसे मुलतान की जागीर दे रक्खी थी। जब फीरोज गद्दी पर बैठा तो अहमद बिन अयाज पदच्युत किया गया और मकबूल प्रधान मन्त्री बनाया गया। जब कभी सुलतान लड़ाई पर बाहर जाता तब राजधानी का सारा कार्य मकबूल के सिपुर्द कर जाता था। वह राज्य-कार्य ऐसी


तैमूर के आक्रमण के समय का भारत
काबुल
पेशावर
जम्मू
लाहौर
तुलम्बा
मुलतान
दिपालपुर
भटनेर
समाना
दिल्ली
हरद्वार
बदायूँ
कन्नौज
अयोध्या
आगरा
जौनपुर
कालपी
प्रयाग
गौड़
मालवा
अन्हलवाड़
माडू
बंगाल
गिरनार
खानदेश
असीरगढ़
गोंडवाना
दौलताबाद
चौल
बहमनी राज्य
वारंगल
बीदर
गोलकुंडा
गुलबर्गा
रायचूर
विजयनगर
विजयनगर राज्य
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
तैमूर के आक्रमण का मार्ग

योग्यता तथा श्रम से करता था कि सुलतान की अनुपस्थिति का राज्य-प्रबन्ध पर कुछ भी प्रभाव न पड़ता था। यद्यपि मन्त्री एक कुशल राजनीतिज्ञ था तथापि अपने समय के समान व्यक्तियों की भाँति, राज्य-कार्य में लीन रहने पर भी हरम के आमोद-प्रमोद में व्यस्त रहता था। खानजहाँ परिपक्व वृद्धावस्था तक जीवित रहा। जब वह १३७० ई० में मरा तो उसका पुत्र जूनाशाह, जिसका मुहम्मद तुगलक के शासन-काल में मुल्तान में जन्म हुआ था, उसका स्थानापन्न हुआ। उसने भी अपने पिता की तरह यश प्राप्त किया।

फीरोज के अंतिम दिन—फीरोज के अन्तिम दिन सुख से न व्यतीत हुए। उसका जीवनकाल दलबन्दियों तथा छोटे-मोटे झगड़ों से अशान्त हो गया। बुढ़ापे की दुर्बलता के कारण उसे अपनी सारी शक्ति अपने मन्त्री खानजहाँ के सुपुर्द कर देनी पड़ी किन्तु खानजहाँ ने वृद्ध सुलतान के प्रति अच्छा व्यवहार न किया। शाहजादा मुहम्मद को राज्य-च्युत करने के लिए मन्त्री ने सुलतान से कहा कि वह कुछ सरदारों के साथ षड्यन्त्र करके सुलतान के प्राण लेना चाहता है। फीरोज ने तुरन्त सब षड्यन्त्रकारियों को पकड़ लेने की आज्ञा दे दी; किन्तु शाहजादे ने चालाकी की और उसने शत्रु के उपायों को अपनी कुशल नीति द्वारा निष्फल कर दिया। अपनी स्त्रियों के लिए अन्तःपुर देखने की आज्ञा पाकर उसने अपना कवच पहना और एक पालकी में बैठ गया। जब यह राजभवन में पहुँचा तो बादशाह के पैरों पर गिर पड़ा और क्षमा माँगी। वह क्षमा कर दिया गया और सुलतान ने उसे अपना उत्तराधिकारी बनाया। इस प्रकार सुरक्षित होकर शाहजादा अपना समय आमोद-प्रमोद में व्यतीत करने लगा। उसने अपने अयोग्य प्रेमियों को उच्च पदों पर नियुक्त किया। इस नीति का विरोध हुआ और गृह-युद्ध का श्रीगणेश होने लगा। सरदार वृद्ध सुलतान की रक्षा का उपाय करने लगे। सुलतान की उपस्थिति से विद्रोहियों का साहस टूट गया। शाहजादा सिरमौर के पहाड़ों की ओर भाग गया और शान्ति स्थापित हो गई। फीरोज ने एक बार फिर राज-प्रभुता को पल्लवित करना चाहा; किन्तु अधिक अवस्था के कारण वह राज-कार्यों को ठीक से न कर सका। उसके जीवन का अन्तिम प्रसिद्ध कार्य, अपने पोते तुगलकशाह बिन फतहखाँ को राज्याधिकार प्रदान

करना था। इसके थोड़े ही दिन पश्चात् सुलतान रमजान (अक्टूबर १३८८ ई०) में ८० वर्ष की अवस्था में परलोकवासी हुआ। उसकी मृत्यु के बाद विपक्षी राजकुमारों तथा शक्ति हस्तान्तरित करनेवाले दलों की बारी आती है, जिनका वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा।

पतन के कारण—फीरोज की मृत्यु के बाद दिल्ली राज्य का महत्त्व शीघ्रता से घटने लगा। मुहम्मद के शासन की अव्यवस्था से उसकी शक्ति क्षीण हो गई थी। इधर फीरोज ने भी खोये हुए गौरव को प्राप्त करने की कुछ चेष्टा नहीं की थी। उसकी दुर्बल एवं अस्थिर नीति के कारण प्रान्तों के शासक स्वतन्त्र होने तथा केन्द्रीय शक्ति को धमकी देने लगे। राज-भय नष्ट-प्राय सा हो गया। प्रजा फीरोज से डरती न थी। मुसलमान अपने साहस तथा शूरता को नष्ट कर चुके थे और युद्ध-क्षेत्र में वीरतापूर्ण एवं निर्भीक कार्य करने के सर्वथा अयोग्य हो गये। जागीर-प्रथा में बहुत-से दोष आ गये थे जिनके कारण अस्वामिभक्त तथा लालची मनुष्यों में स्वतन्त्रता की भावना जाग उठी थी। फीरोज के गुलामों की संख्या बहुत बढ़ गई थी, प्रायः १,८०,००० गुलामों का भरण-पोषण राज्य ही से होता था। उसके उत्तराधिकारियों की अयोग्यता से साम्राज्य का शीघ्र पतन होने लगा, और जब देश में विद्रोह की आग भड़की तो उसे दबाना पूर्णतया असंभव हो गया। शीघ्र ही सारे राज्य में अराजकता फैल गई। विदेश में फौजी शासन अपना अस्तित्व नहीं रख सकता जब कि दुर्बल और अकर्मण्य नीति द्वारा उसकी नींव ध्वस्तप्राय कर दी गई हो।

फीरोज के उत्तराधिकारी—फीरोज का उत्तराधिकारी उसका पोता, शाहजादा फतह खाँ का पुत्र तुगलक शाह था, जो गयासुद्दीन तुगलक द्वितीय के नाम से गद्दी पर बैठा। उसकी नीति से असन्तुष्ट सरदारों तथा अमीरों ने षड्यन्त्र द्वारा १९ फरवरी, १३८९ ई० में उसे मार डाला। तत्पश्चात् अबू-बक्र गद्दी पर बैठा। उसने देश में शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित करनी चाही, किन्तु शीघ्र ही फीरोज के छोटे पुत्र शाहजादा मुहम्मद के लिए उसे गद्दी छोड़ देनी पड़ी। मुहम्मद ने अव्यवस्था दूर करने की पर्याप्त चेष्टा की। मेवात के विद्रोह को दबाने का उपाय किया गया परन्तु निष्फल हुआ। सुलतान का

स्वास्थ्य पहले ही से बिगड़ा था। १५ जनवरी, १३९४ ई० को उसका भी देहान्त हो गया। उसके बाद उसका पुत्र हुमायूँ गद्दी पर बैठा, किन्तु कुछ दिनों के उपरान्त उसका भी देहान्त हो गया।

अब राजसिंहासन मुहम्मद के सबसे छोटे पुत्र शाहजादा महमूद के हाथ लगा और वह नासिरुद्दीन महमूद तुगलक की उपाधि धारण कर गद्दी पर बैठा। गद्दी पर बैठते ही उसे राजधानी के विपक्षी दलों के विरोध का सामना करना पड़ा। उसने विरोधी दलों में वैमनस्य मिटाने के लिए बहुत प्रयास किया पर असफल रहा। जब उसने सुना कि तैमूर असंख्य सेना के साथ भारत की ओर बढ़ता आ रहा है, तो उसने एक बार फिर अपनी शक्ति दृढ़ करने की चेष्टा की परन्तु सफल न हुआ।

तैमूर का आक्रमण (१३९८ ई०)—तैमूर समरकन्द से ५० मील दक्षिण मावरा-उन्नहर के केश नामक स्थान पर १३३५ ई० में पैदा हुआ था। वह प्रतिष्ठित तुर्क जाति बरलस की शाख गुरकन के नायक अमीर तुर्गे का पुत्र तथा हाजी बरलस का भतीजा था। ३३ वर्ष की अवस्था में वह तुर्कों का नायक बन गया और पार्श्व प्रदेशों के साथ निरन्तर युद्ध करने लगा। मध्य एशिया के देशों पर आधिपत्य स्थापित कर लेने के बाद उसने भारत पर आक्रमण करने का निश्चय किया। उसका आक्रमण करने का प्रयोजन था देश के कुफ्र अथवा मूर्ति-पूजा या बुतपरस्ती प्रथा को दूर करना। तैमर की सेना, उसके पौत्र पीर मुहम्मद के नेतृत्व में शीघ्र भारत पहुँची। सिन्ध को पार कर उसने उच्छ पर अधिकार कर लिया और फिर मुल्तान की ओर बढ़ी। मुल्तान के शासक ने छः महीने के घेरे के बाद हथियार डाल दिये। अपने विस्तृत राज्य के प्रत्येक भाग से एक बड़ी सेना एकत्र कर तैमूर ने हिन्दूकुश के ऊपर से यात्रा करते हुए २४ सितम्बर १३९८ ई० को सिन्ध नदी पार की। जब वह दिपालपुर के निकट पहुँचा तो पीर मुहम्मद द्वारा नियुक्त शासक की हत्या करनेवाले व्यक्ति भयातुर होकर भाग चले और भटनेर के किले में जा छिपे। तैमूर के सेना-नायक ने दुर्ग पर दायें और बायें से आक्रमण कर, उस पर अधिकार कर लिया। राज्य तैमूर के अधीन हो गया किन्तु उसने भटनेर निवासियों को बड़ा

कठोर दण्ड दिया। अनेक मनुष्य और स्त्रियाँ कत्ल कर दी गईं। उनकी संपत्ति का बलपूर्वक अपहरण किया गया और अनेक मकान और दुर्ग मिट्टी में मिला दिये गये।

तैमूर भटनेर से सरस्वती की ओर अग्रसर हुआ और सुगमता से उस पर अधिकार कर लिया। सामाना से ३४ मील की दूरी पर स्थित कैंथाल पहुँचकर उसने दिल्ली पर आक्रमण करने की तैयारी शुरू कर दी। जिन नगरों की ओर सेना बढ़ती थी, उन नगरों के निवासी, अपना सर्वस्व आक्रमणकारियों की दया पर छोड़कर भाग जाते थे। एक नगर के बाद दूसरा अधीनता स्वीकार करता गया। थोड़े ही समय पश्चात् तैमूर जहानुमा पहुँचा; यह एक सुन्दर राजभवन था जिसको दिल्ली से ३ मील की दूरी पर फीरोज ने बनवाया था। इसके अड़ोस-पड़ोस का देश लूट लिया गया। सिपाहियों को आज्ञा हुई कि वे अपने तथा अपने जानवरों के लिए भोजन और चारा लूट द्वारा प्राप्त करें। दिल्ली के समीप पहुँचकर तैमूर ने देखा कि अपने डेरे में १,००,००० हिन्दू इकट्ठे हो गये हैं। उसने उनको कत्ल करने की आज्ञा दी। उसे आशंका हुई कि युद्ध की भयानक परिस्थिति में वे विश्वासघात करके शत्रु के पक्ष में न जा मिलें।

तैमूर ने अपनी सेना को व्यूह-क्रम में व्यवस्थित कर युद्ध की तैयारी की। सुलतान महमूद और मल्लू इकबाल ने १०,००० सुशिक्षित अश्वारोही सैनिक, ४०,००० पैदल तथा १२५ हाथी एकत्र किये। दिल्ली के बाहर दोनों सेनाओं का सामना हुआ। दिल्ली की सेना वीरतापूर्वक लड़ी, किन्तु पराजित हुई। महमूद और मल्लू इकबाल क्षेत्र से भाग निकले और तैमूर ने दिल्ली के कोट पर अपना झण्डा फहराया। शहर पूर्णतया लूट लिया गया और निवासी कत्ल किये गये। हजारों स्त्री-पुरुष गुलाम बना लिये गये और लूट का धन शत्रु के हाथों लगा। कई सहस्र शिल्पकार तथा यन्त्रकार नगर से बाहर लाये गये और युद्ध में सहायता देनेवाले राजाओं, अमीरों और अफगानों में बाँट दिये गये।

तैमूर ने प्रायः १५ दिन आमोद-प्रमोद के साथ दिल्ली में व्यतीत किये। उसके बाद वह मेरठ की ओर से हरिद्वार की ओर अग्रसर हुआ जहाँ हिन्दू

और मुसलमानों में घोर संग्राम हुआ। सिवालिक की पहाड़ियों पर सफल आक्रमण हुआ। हिन्दू राजा पराजित हुआ। बहुत सा लूट का माल विजयी सेना के हाथ लगा।

सिवालिक प्रदेश पर विजय प्राप्त करके तैमूर ने जम्मू की ओर प्रस्थान किया। राजा पराजित हुआ, बन्दी कर लिया गया तथा उसे इस्लाम स्वीकार करने के लिए विवश किया गया।

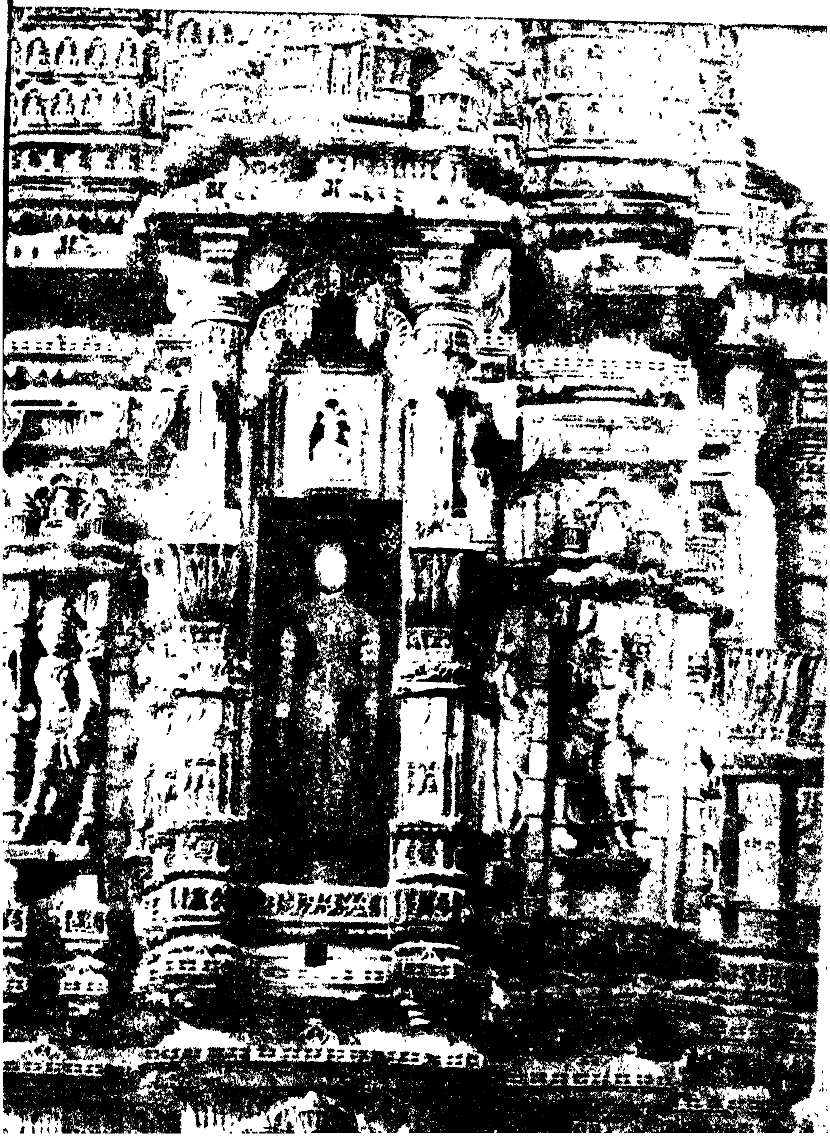
अब विजय-कार्य समाप्त हो चुका था। तैमूर ने वापस जाने का विचार किया। लाहौर, मुल्तान और दिपालपुर की जागीर खिज्र खाँ को देकर उसने समरकन्द की ओर प्रस्थान किया।

तैमूर के आक्रमण का प्रभाव—तैमूर के आक्रमण से भारत में चारों ओर अराजकता फैल गई। दिल्ली सरकार पूर्णतया निर्बल पड़ गई। राजधानी के आस-पास तथा साम्राज्य के प्रान्तों में बड़ी हलचल पैदा हो गई। निर्दयी आक्रमणकारियों के युद्ध से, जो अशांति व्याप्त हुई, वह दुर्भिक्ष और महामारी के कारण अत्यन्त भयानक हो गई। फलस्वरूप बहुत से मनुष्य और पशु मर गये और कृषि तथा व्यापार को क्षति पहुँची। संपूर्ण सामाजिक संस्थाओं की अव्यवस्था तथा राजनीतिक अशांति के कारण सैनिक नेताओं को भूमि पर अधिकार करने का तथा प्रजा को कष्ट देने का अच्छा अवसर मिला। छोटे-छोटे सैन्य-संचालकों ने इस अव्यवस्था से खूब फायदा उठाया तथा जनता को अत्यन्त कष्ट दिया। १३९९ ई० में मार्च के महीने में सुलतान नसरत शाह ने जो दोआब में भाग आया था, दिल्ली पर पुनः अधिकार कर लिया; किन्तु वह दिल्ली पर अधिक दिन अपना प्रभुत्व कायम न रख सका, क्योंकि इकबाल खाँ ने, जिसका प्रभुत्व दोआब के कुछ जिलों और राजधानी के आस-पास के स्थानों पर था, उस पर अधिकार कर लिया। इकबाल क्रमशः अपनी शक्ति दृढ़ करने लगा और १४०१ ई० में सुलतान महमूद ने उसका साथ दिया। किन्तु शासन की प्रधान शक्ति इकबाल के हाथ में थी, इसलिए सुलतान महमूद से अपने ऊपर लादे गये इस अभिभावक के विरुद्ध जौनपुर के इब्राहीम शाह ने सहायता माँगी। इकबाल से सन्धि करने के उद्योग में विफल होकर सुलतान कन्नौज चला गया और वहाँ उसने अपनी बिखरी हुई सेना और

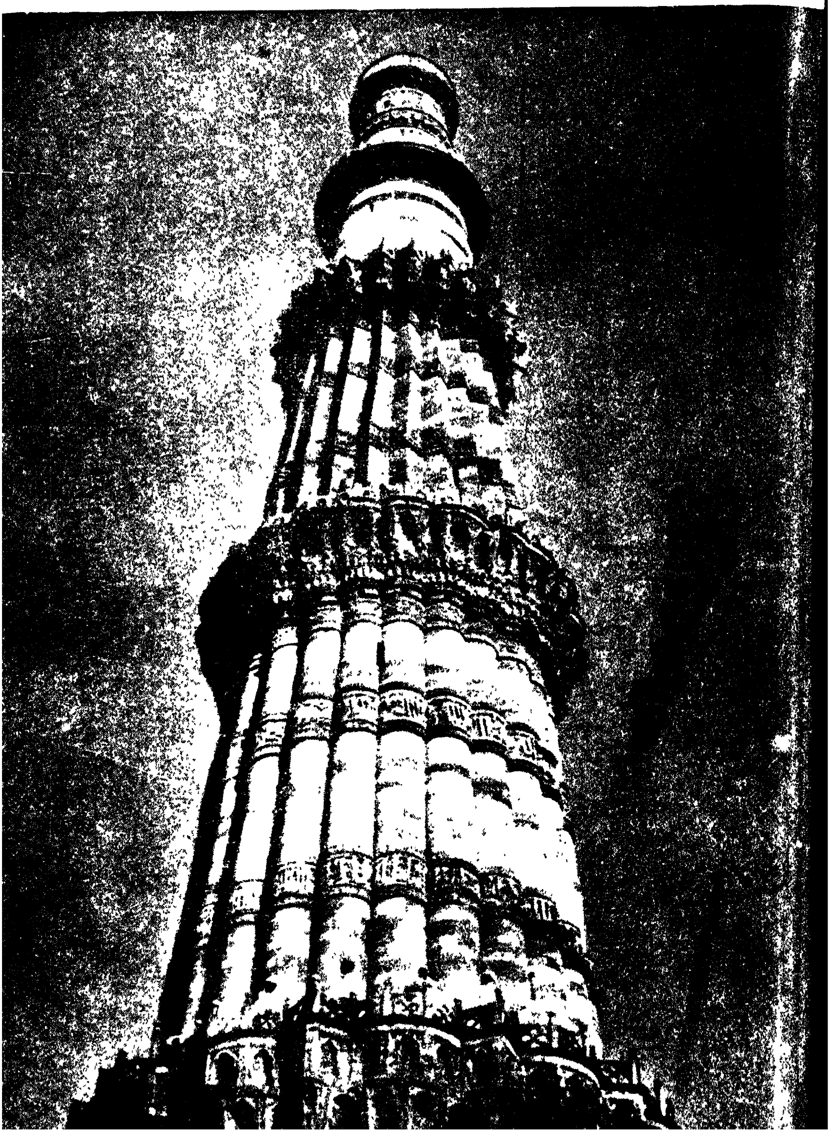
अपने सेवकों को अपने झण्डे के नीचे एकत्र किया। इकबाल ग्वालियर के शासक भीमदेव को दण्ड देने के लिए आगे बढ़ा किन्तु विवश होकर उसे घेरा तोड़ना तथा दिल्ली लौटना पड़ा। इटावा के हिन्दू नायकों के विरुद्ध उसकी यात्रा विशेष सफल रही; किन्तु जब वह मुल्तान की ओर बढ़ा तो वहाँ के शासक खिज्र खाँ ने उसका विरोध किया। सन् १४०५ ई० में इकबाल युद्ध में काम आया। उसकी मृत्यु से महमूद का मार्ग निष्कण्टक हो गया। दौलत खाँ के निमन्त्रण पर उसने दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। किन्तु अपनी मानसिक दुर्बलता के कारण वह सेना का प्रियपात्र न बन सका और अपने प्राप्त अधिकारों का उचित प्रयोग करने से वंचित रहा। तारीख "मुबारकशाही" का रचयिता इस दुखपूर्ण घटनाओं का, जिनका उसने भली भाँति अध्ययन किया था, इस प्रकार वर्णन करता है—"सम्पूर्ण व्यापार अव्यवस्थित रूप में था। सुलतान अपने कर्त्तव्यों की ओर ध्यान नहीं देता था तथा सिंहासन की स्थिरता की उसे कुछ भी चिन्ता न थी; उसका सम्पूर्ण समय विनोद एवं विलास-प्रियता में नष्ट होता था।"

सुलतान महमद तुगलक द्वितीय का १४१२ ई० में देहान्त हो गया। फिरिश्ता लिखता है कि उसकी मृत्यु के साथ ही तुर्क जाति का राज्य, जो दो शताब्दी से अधिक तक अपना शक्तिशाली प्रभुत्व स्थापित किये था, मिट गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् अमीरों और मलिकों ने दौलत खाँ को अपना नेता बनाया। दौलत खाँ को राजपद प्राप्त न हो सका। वह केवल एक छोटे से राज्य का अध्यक्ष बन सका। कुछ समय के बाद दौलत खाँ ने कटहर की ओर प्रस्थान किया और बहुत से हिन्दू नरेशों को अपने अधीन किया। इसी समय खबर मिली कि जौनपुर के इब्राहीम शाह की सेना कालपी पर घेरा डाल रही है। किन्तु दौलत खाँ की सेना उसके अधिकार में न रह गई थी, इसलिए वह कालपी की ओर न चल सका। इसी समय मुल्तान के हाकिम खिज्र खाँ ने जो विरोधियों की गति-विधि को देख रहा था, उचित मौका पा, दिल्ली की ओर कूच किया और चार महीने के घेरे के बाद २३ मई, १४१४ ई० को दौलत खाँ को आत्म-समर्पण कर देने पर विवश किया। भाग्य ने खिज्र खाँ का साथ दिया; उसने शीघ्र ही दिल्ली पर अधिकार कर एक नये राज्यवंश की स्थापना की।

चित्तौर के विजय-स्तम्भ का निचला हिस्सा



कुतुब मीनार का एक भाग



चौबीसवाँ अध्याय

साम्राज्य-विभाजन

(१) प्रान्तीय राजवंशों का अभ्युदय

मालवा—मालवा राज्य दसवीं शताब्दी में परमार राजपूतों के हाथ चला गया था। धारा नगरी के राजा भोज के शासन-काल में मालवा ने बड़ी ख्याति प्राप्त की। सन् १२३५ ई० में इल्तुतमिश न उज्जैन पर आक्रमण किया और, गुजरात के प्रसिद्ध मन्दिर को नष्ट-भ्रष्ट किया। अलाउद्दीन ने १३१० ई० म जीत लिया और तब से वह, फीरोज तुगलक की मृत्यु के बाद दिल्ली साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने तक मुसलमान शासकों के अधिकार में रहा। मुहम्मद गोरी के वंशज दिलावर खाँ ने, जो फीरोज तुगलक के जागीरदारों में से था, १४०१ ई० में अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी और धार को अपने राज्य की राजधानी बनाया। दिलावर खाँ का पुत्र आलम खाँ, हुशंग शाह की उपाधि धारण कर (१४०५-१४३४ ई०) गद्दी पर बैठा और उसने मांडू को अपनी राजधानी बनाया। उसे बहुत-सी सुन्दर इमारतों से अलंकृत किया। मालवा की स्थिति तथा उसकी भूमि की उपज ऐसी थी कि उसे दिल्ली, जौनपुर तथा गुजरात आदि पड़ोसी राज्यों के साथ युद्ध-क्षेत्र में उतरना पड़ा, क्योंकि ये राज्य उसकी आय के साधनों को धक्का पहुँचाते थे। गुजरात के साथ एक युद्ध में हुशंग की पराजय हुई और वह बन्दी बना लिया गया। किन्तु शीघ्र ही मुक्ति पाकर अपने राज्य का अधिकारी बन गया। उसका पुत्र गजनी खाँ एक नीच तथा विषयासक्त पुरुष था; उसके मन्त्री एक खिलजी तुर्क मुहम्मद खाँ ने उसे मारकर सिंहासन पर अधिकार कर लिया। महमूद खिलजी (१४३६-६९ ई०) के शासन-काल में मालवा एक शक्तिशाली एवं उन्नतिशील राज्य बन गया। महमूद ने, राजपूताना, गुजरात के शासकों तथा बहमनी राजवंश के सुलतान के विरुद्ध अनवरत युद्ध करके सम्पूर्ण भारत में एक महान् सेनापति एवं योद्धा की कीर्ति पाई। वह एक वीर योद्धा था; युद्ध में उसकी इतनी अभिरुचि थी कि उसका

सम्पूर्ण जीवन ही युद्ध-शिविर में व्यतीत हुआ था। वह न्याय-प्रिय एवं उदार शासक था। फिरिश्ता उसके विषय में लिखता है—"सुलतान महमूद सुशील, वीर, न्यायी तथा विद्वान् था; और उसकी मुसलमान तथा हिन्दू प्रजा सुखी थी, वह सबके साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार रखता था। कदाचित् ही कोई ऐसा वर्ष व्यतीत हुआ हो जब कि वह युद्धक्षेत्र में न गया हो। शिविर ही उसका घर तथा युद्ध-क्षेत्र उसका विश्रामागार था। वह अपना अवकाश का समय इतिहास तथा संसार के राजाओं के आख्यानों के अध्ययन में व्यतीत करता था।"

महमूद खिलजी का राज्य काफी विस्तृत हो गया था। दक्षिण में [illegible]पुड़ा की पहाड़ियों तक, पश्चिम में गुजरात के सीमान्त, पूर्व में बुन्[illegible]र उत्तर में मेवाड़ तथा हीरावती तक फैला हुआ था। सन् १४४० [illegible]सने दिल्ली की ओर प्रस्थान किया; किन्तु बहलोल लोदी ने उसकी प्रगति को सफलतापूर्वक रोका। इसी समय चित्तौड़ के राजा कुम्भा के साथ उसका युद्ध हुआ जिसका परिणाम संदिग्ध रहा। दोनों पक्षों ने विजयी होने का दावा किया। राजा ने विजयोपलक्ष में चित्तौर में विजय-दुर्ग का निर्माण कराया तथा खिलजी ने अपनी सफलता की स्मृति में मांडू में सप्तखण्डीय मीनार बनवाई।

महमूद का पुत्र गयासुद्दीन सन् १४६९ ई० में गद्दी पर बैठा। उसके पुत्र नासिरुद्दीन ने उसे विष द्वारा मारकर १५०० ई० में सिंहासन पर अधिकार कर लिया। जिस समय नासिरुद्दीन ने अपने पिता की हत्या की, उस समय इस कार्य से मुसलमानों की भावनाओं को कोई आघात नहीं पहुँचा; किन्तु एक शताब्दी बाद जहाँगीर ने पितृघाती की हड्डियाँ आग में फेंकने की आज्ञा देकर अपने निणय द्वारा पितृहत्या को कुत्सित कार्य बतलाया।

नासिरुद्दीन बहुत बड़ा विलासी तथा अत्याचारी शासक था। १६१७ ई० में जब जहाँगीर राजभवन का अवलोकन करने गया तो उसने सुना कि उसके हरम (अन्तःपुर) में १५००० स्त्रियाँ थीं, जो हर प्रकार के कला-कौशल में दक्ष थीं और जब कभी वह किसी सुन्दर कुमारी का समाचार पाता, उसे अपने अधिकार में लाकर ही दम लेता था। नशे में चूर, एक बार वह कालियादह झील में गिर पड़ा, किन्तु उसके सेवकों में से किसी ने उसे बाहर निकालने का साहस न किया। उसके बाद १५१० ई० में महमूद द्वितीय गद्दी पर बैठा।

उसने एक प्रतिष्ठित राजपूत मेदिनी राय को अपना मंत्री बनाया। परिणाम यह हुआ कि इस राजपूत का प्रभाव राज-सभा में सर्वोत्कृष्ट हो गया। अपने शक्तिशाली मंत्री के व्यवहारों से सशंकित होकर उसने गुजरात के राजा मुजफ्फर शाह से सहायता माँगी ताकि उसे निकालकर वह पुनः शक्ति प्राप्त कर सके। परन्तु महमूद को मेवाड़ के शासक राणा साँगा के साथ युद्ध करना पड़ा और वह बन्दी बना लिया गया। परन्तु बाद में उदार राजपूत ने उसे मुक्त कर उसका राज्य उसे वापस कर दिया। मूर्ख सुलतान ने इस उदारता की अवहेलना की तथा राणा के उत्तराधिकारी पर आक्रमण कर दिया; किन्तु उसके मित्र, गुजरात के बहादुर शाह ने उसे पराजित किया तथा प्राणदण्ड दिया। राज-परिवार के सभी पुरुष मार डाले गये; केवल हुमायूँ के दरबार में रहने-वाला एक उत्तरजीवी बच गया। मालवा राज्य १५३१ ई० में गुजरात में मिला लिया गया और जब तक हुमायूँ ने उसे जीत नहीं लिया, वह उसका भाग बना रहा। हुमायूँ ने बहादुर शाह को १५३५ ई० में मालवा से खदेड़ दिया और उसे मंदसौर और मांडू नामक स्थानों पर पराजित किया। जब दिल्ली का शासन शेर शाह के हाथ में चला गया तो उसने इस प्रान्त को, शुजाअत खाँ नामक एक सहचर के सुपुर्द कर दिया, जिसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र मलिक बायजीद, जो बाजबहादुर के नाम से विख्यात है, तथा जो आख्यायिकाओं में सारंगपुर की कुमारी रूपमती के प्रेम के लिए प्रसिद्ध है, उसका उत्तराधिकारी बना। १५६२ ई० में अकबर के सेनापति आदम खाँ तथा पीर मुहम्मद ने मालवा पर निर्दयतापूर्वक विजय प्राप्त की और वह मुगल साम्राज्य में मिला लिया गया। नाममात्र के युद्ध के पश्चात् बाजबहादुर ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली और बादशाह ने उसे २,००० घुड़सवारों का मंसबदार नियुक्त किया।

गुजरात—गुजरात प्रान्त भारत के अत्यन्त उपजाऊ तथा धनी प्रान्तों में से था, जिसके कारण विदेशी आक्रमणकारियों की दृष्टि सदैव उस पर लगी रहती थी। महमूद गजनवी पहला मुसलमान आक्रमणकारी था जिसका सोमनाथ के मन्दिर पर प्रसिद्ध आक्रमण आगामी मुसलमान आक्रमणकारियों के लिए पथ-प्रदर्शक बना। किन्तु अलाउद्दीन खिलजी ही ऐसा हुआ जिसने गुजरात पर स्थायी

विजय प्राप्त की और उसे १२९७ ई० में दिल्ली-राज्य में मिला लिया। तब से यह प्रान्त मुस्लिम शासकों के अधीन हो गया। ये शासक दिल्ली के शासकों के अधीन थे, किन्तु इनकी राज-भक्ति केन्द्रीय सरकार की शक्ति एवं दौर्बल्य के अनुसार डाँवाडोल रहती थी। तैमूर के आक्रमण के पश्चात् जब दिल्ली-राज्य की अवस्था अव्यवस्थित हो गई, तो वहाँ के शासक जफर खाँ ने १४०१ ई० में अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी तथा नियमानुकूल राजभक्ति-पालन से अलग हो गया। उसके पुत्र तातार खाँ ने कुछ असन्तुष्ट सरदारों से मिलकर अपने पिता से, जो उसके राज्यप्राप्ति के मार्ग में रोड़ा बन रहा था, मुक्ति पाने का षड्यन्त्र किया। उसने उसे कैद में डालकर १४०३ ई० में नासिरुद्दीन मुहम्मद शाह की उपाधि धारण करके राज-प्रभुता प्राप्त की। किन्तु उसकी कीर्ति चिरस्थायी न रह सकी, क्योंकि उसके पिता के विश्वासपात्रों में से शम्स खाँ नामक एक व्यक्ति ने उसे विष देकर मार डाला। आसावल से जाफर खाँ लाया गया तथा सरदारों और सैनिक अधिकारियों की सम्मति से मुजफ्फर शाह की उपाधि धारण कर गद्दी पर बैठा। उसने धार पर अधिकार कर लिया तथा अपनी शक्ति दृढ़ करने के लिए कई युद्ध-यात्राएँ कीं। किन्तु चार वर्ष के उपरान्त, उसके पोते अहमद शाह ने, जो सिंहासन हड़पने के लिए अत्यन्त चिन्तित था, उसे विष देकर मार डाला।

अहमद शाह (१४१४-१४४१ ई०)—वह गुजरात की स्वतन्त्रता का निर्माता था। वह वीर तथा युद्ध-प्रिय राजा था। उसने अपने छोटे राज्य की सीमा बढ़ाने के लिए, अपना सम्पूर्ण जीवन युद्ध करने तथा देशों को जीतने में व्यतीत किया। अपने शासनकाल के प्रथम वर्ष में, प्राचीन नगर आसावल के निकट, साबरमती नदी के बायें किनारे पर उसने अहमदाबाद नामक नगर बसाया और उसे भव्य प्रासादों से अलंकृत किया और बहुत से कारीगरों और व्यापारियों को वहाँ बसने के लिए आमन्त्रित किया। वह कट्टर मुसलमान था। उसने हिन्दुओं से युद्ध किया, उनके मन्दिर ध्वंस किये तथा उन्हें इस्लाम स्वीकार करने पर विवश किया। १४१४ ई० में गिरनार पर आक्रमण करके उसने वहाँ के राय को पराजित कर अधीन कर लिया। उसने १४२१ ई० में मालवा पर आक्रमण किया तथा मांडू को घेर लिया। हुशंग की सेना दो



बाजबहादुर और रूपमती

छोटे युद्धों में परास्त हुई और भविष्य में राज-भक्त होने की प्रतिज्ञा करके उसने क्षमा-दान प्राप्त किया। अन्तिम एवं प्रसिद्ध यात्रा, १४३७ ई० में हुई जब सुलतान ने मालवा के हुशंग के पोते कुमार मासूद खाँ के लिए की जो कि अपने पितृघाती एवं पूर्वजों के राज्य का अपहरण करनेवाले महमूद खिलजी के अत्याचार से भागकर आया था। मांडू पर घेरा डाल दिया गया तथा उसकी विशालवाहिनी भयंकर युद्ध में पराजित हुई। किन्तु आकस्मिक महामारी के कारण विजय सफल न रह सकी और सुलतान को शीघ्र ही अहमदाबाद लौटना पड़ा जहाँ १४४१ ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

अहमद शाह वीर तथा युद्ध-प्रिय शासक था; वह अत्यन्त धर्मभीरु था। जब तक जीवित रहा, उसने इस्लाम धर्म के नियमों का पालन किया तथा धार्मिक कर्त्तव्य समझकर हिन्दुओं से युद्ध किये। उसकी न्याय-प्रियता अद्वितीय थी। उसकी दृष्टि में जन्म, श्रेणी तथा उच्च कुलों से सम्बन्ध का कोई महत्त्व नहीं था। एक समय, निरपराध व्यक्ति की हत्या के अपराध में उसने अपने दामाद को खुले बाजार में फाँसी दिलवा दी। मिरात सिकन्दरी का रचयिता लिखता है कि "इस आदर्श दण्ड का प्रभाव सुलतान के शासन के आरम्भ से अन्त तक रहा और किसी सरदार अथवा सिपाही ने हत्या से सम्बन्ध रखने का साहस न किया।"

अहमद शाह की मृत्यु के बाद उसका पुत्र मुहम्मद शाह "जरबख्श" या स्वर्णदाता के नाम से सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने चम्पानेर पर आक्रमण किया, किन्तु वहाँ के राजा ने मालवा-नरेश को सहायतार्थ बुलाया तथा संयुक्त शक्तियों ने उसे भगा दिया। उसके सभासदों ने षड्यन्त्र करके १४५१ ई में विष द्वारा उसे मार डाला। उसका पुत्र कुतुबुद्दीन गद्दी पर बैठा तथा उसने अपना समय विशेष चित्तौर के राना के विरुद्ध युद्ध करने ही में व्यतीत किया। १४५९ ई० में ८½ वर्ष के अल्प शासन के पश्चात् उसकी मृत्यु हो गई तथा उसका आचरण-भ्रष्ट चाचा गद्दी पर बैठा; किन्तु उसकी दुश्चरित्रता के कारण सरदारों ने उसे सिंहासन पर बैठने के एक ही सप्ताह के भीतर गद्दी से उतार दिया तथा अहमद शाह के पोते फतेह खाँ को गद्दी पर बिठाया जिसने महमूद बिगाद के नाम से १४५८ ई० में गद्दी पर अधिकार किया।

महमूद बीगड़ (१४५९-१५११ ई०)—महमूद बीगड़ गुजरात के महान् शासकों में गिना जाता है। "मीरात सिकन्दरी" का लेखक उसके चरित्र का वर्णन इन शब्दों में करता है:—

"उच्च गौरव एवं राज-प्रभुता के होने पर भी उसकी क्षुधा बड़ी विकट थी। प्रतिदिन केवल सुलतान के लिए गुजराती तौल से एक मन भोजन बनता था। भोजन करते समय वह पका हुआ ५ सेर चावल अलग रख देता था और सोने से पहले उसके समोसे बनवा लेता था तथा उसमें से आधा चारपाई के दाहिनी तथा शेष बाईं ओर रखवा देता ताकि जिस ओर भी वह करवट बदले उसे कुछ न कुछ खाने के लिए अवश्य मिल जाय तथा खाकर वह पुनः सो जाय। प्रातःकाल प्रार्थना से निवृत्त होकर वह एक प्याला शहद, एक प्याला मक्खन तथा सौ अथवा डेढ़ सौ केले खा जाता था। वह बहुधा कहा करता था, यदि खुदा महमूद को गुजरात का बादशाह न बनाता, तो उसकी क्षुधा को कौन तृप्त कर सकता था?"

महमूद वीर तथा युद्ध-प्रिय राजा था। उसने निजाम शाह बहमनी को मालवा के महमूद खिलजी से मुक्त किया तथा जूनागढ़ के राय को अपना प्रभुत्व स्वीकार करने पर विवश किया। उसने गुजरात के समुद्री तटों के समुद्री डाकुओं का दमन किया तथा हिन्दू नरेश पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। बाद में चम्पानेर के राजपूतों ने भी १४८४ ई० में आत्म-समर्पण कर दिया। महमूद ने विजयोपलक्ष में चम्पानेर नगर के चारों ओर दीवाल उठवाई तथा उसका नाम महमूदाबाद रक्खा।

पुर्तगालियों से युद्ध—अपने शासनकाल के अन्तिम भाग १५०७ ई० में उसने पुर्तगालियों पर आक्रमण किया, जिन्होंने कि पश्चिमी घाट पर अपना निर्विघ्न शासन स्थापित कर लिया था तथा मुसलमानों के व्यापार को छिन्न-भिन्न कर दिया था। उसने तुर्किस्तान के सुलतान के साथ मैत्री की। तुर्किस्तान के सुलतान ने भी पुर्तगालियों के भारतीय अधिकारों का अन्त करने के लिए उनके विरुद्ध मीर हाजिम के नेतृत्व में बारह जहाजों का एक बेड़ा तथा १५,००० मनुष्य भेजे, क्योंकि ये लोग स्थल व्यापार में रुकावट डालते थे। अन्ततोगत्वा पुर्तगालियों की विजय हुई और समुद्री तट पर

उनकी शक्ति स्थापित हो गई तथा समुद्री व्यापार भी निर्विघ्न रूप से उनके अधिकार में चला गया।

५२ वर्ष के प्रतिभाशाली शासन के पश्चात्, सुलतान १५११ ई० में इस असार संसार से चल बसा। वह महान् शासक था तथा अपनी व्यक्तिगत आदतों के लिए योरोप में भी प्रसिद्ध था। जब तक जीवित रहा, बड़ी योग्यता और धैर्य से शासन किया। एक मुसलमान लेखक उसके शासन के विषय में कहता है :—

"उसने गुजरात राज्य को ऐश्वर्य तथा प्रतिभा प्रदान की, और गुजरात के पूर्वाधिकारी एवं उत्तराधिकारी नरेशों ने सबसे श्रेष्ठ स्थान पाया, तथा न्याय, उदारता, साम्प्रदायिक युद्ध की सफलता, इस्लाम तथा मुसलमान धर्म का प्रचार, बालकों और युवकों तथा वृद्धों के निर्णय में परिपक्वता, शक्ति, शूरता तथा विजय आदि वस्तुओं के लिए वह सर्वोत्कृष्ट आदर्श था।

बहादुरशाह (१५२६-१५३७ ई०)—द्वितीय महत्त्वपूर्ण शासक बहादुर शाह १५२६ ई० में गद्दी पर बैठा। वह वीर तथा युद्ध-प्रिय मनुष्य था। गद्दी पर बैठने के बाद शीघ्र ही वह सफलतापूर्वक विजय प्राप्त करता हुआ देशों को अपने राज्यान्तर्गत करने लगा। उसने मांडू और चंदेरी पर अधिकार कर लिया तथा १५३४ ई० में चित्तौर के दुर्ग पर आक्रमण कर दिया। बहादुर की उत्कंठा से हुमायूँ भयभीत होकर उसके विरुद्ध बढ़ा तथा उसने मांडू, चम्पानेर और गुजरात पर अधिकार कर लिया। किन्तु योग्य सैनिक नेता बहादुर ने एक विशाल सेना एकत्र करके साम्राज्यवादी सेना को परास्त किया तथा गुजरात पर पुनः अधिकार कर लिया। उसका पुर्तगालियों को दिऊ द्वीप से निकाल देने का प्रयास असफल रहा। उन्होंने उसके विरुद्ध षड्यन्त्र करके जब वह केवल ३१ वर्ष का था, निर्दयतापूर्वक जहाज पर चढ़ते समय मार डाला। बादशाह की मृत्यु के पश्चात् गुजरात की दशा अराजकतापूर्ण तथा अव्यवस्थित हो गई। विपक्षी दलों के हाथों में कठपुतली की भाँति एक के बाद दूसरे राजे गद्दी पर बैठते तथा उतरते गये। यह अव्यवस्था १५७२ तक चलती रही जब कि अकबर ने प्रान्त को मुगल साम्राज्य में न मिला लिया।

जौनपुर—जब फीरोज ने १३५९-६० ई० में बंगाल के शासक सिकन्दर-

शाह पर चढ़ाई की, वह वर्षा काल में जफराबाद में ठहरा। वहाँ उसने एक नगर बनाने का निश्चय किया। निदान अपने चचेरे भाई, मुहम्मद जूना की स्मृति में, उसने गोमती नदी के किनारे जौनपुर नामक एक नवीन नगर बसाया तथा उसके सौन्दर्य और आकर्षण वृद्धि के लिए उसने बहुत-सा रुपया खर्च किया। १३८८ ई० फीरोज की मृत्यु के बाद तथा मुहम्मद के शासन-काल में ख्वाजा जहाँ के अभ्युदय तक, जौनपुर के इतिहास में कोई महत्त्वपूर्ण घटना उल्लेखनीय नहीं है। ख्वाजा जहाँ जिसका नाम सरवर था, एक हिजड़ा था। क्रमशः उसने इस उच्च पद को प्राप्त किया था। १३८९ ई० में उसे ख्वाजा जहाँ की उपाधि मिली और वह वजीर के पद पर पहुँच गया। थोड़े दिनों के बाद महमूद तुगलक ने ख्वाजा जहाँ को मलिकुसशर्क की उपाधि प्रदान की तथा कन्नौज से बिहार तक के देश का शासन-प्रबन्ध उसके सुपुर्द कर दिया। तुरन्त ही उसने दोआब के मध्यवर्ती भाग की ओर प्रस्थान किया और इटावा, कोल और कन्नौज में विद्रोहियों का दमन किया। थोड़े ही काल में उसने कन्नौज, कड़ा, अवध, संडीला, दालमऊ, बहराइच, बिहार और तिरहुत की जागीरों पर प्रभुत्व स्थापित कर अविनीत हिन्दू राजाओं को अधीन किया। उसकी शक्ति इतनी प्रबल हो गई थी कि राजनगर के राय और लखनौती के शासक ने उसकी अधीनता स्वीकार की और उसे उतने हाथी भेजे जितने उन्होंने करस्वरूप पहले दिल्ली भेजे थे।

जौनपुर का सबसे प्रसिद्ध शासक इब्राहीम शर्की (१४००-१४४०) था। महमूद तुगलक जो इकबाल खाँ के हाथों की कठपुतली बना था, उसके दुःखद रक्षकत्व से मुक्ति चाहता था। जिस समय इकबाल कन्नौज में पड़ाव डालकर पड़ा हुआ था, उस समय महमूद आखट के बहाने भागकर इब्राहीम के पास पहुँचा और उससे इकबाल के विरुद्ध सहायता माँगी। किन्तु इब्राहीम ने उसकी प्रार्थना का कुछ उत्तर न दिया। इस प्रकार हताश तथा तिरस्कृत होकर महमूद दिल्ली की सेना के पास लौटा और धीरे से उसने कन्नौज पर अधिकार कर लिया। इकबाल खाँ ने उस पर पुनः अधिकार करने की चेष्टा की; किन्तु महमूद ने १४०५ ई० में उसका सफल प्रतिरोध किया।

मुलतान के शासक खिज्र खाँ से युद्ध करते समय इकबाल की आकस्मिक मृत्यु से महमूद के लिए मैदान साफ हो गया तथा दिल्ली के कुछ अमीरों ने उसे शासन-सूत्र सँभालने के लिए निमन्त्रित किया। इब्राहीम को अपनी गई हुई कन्नौज की जागीर को पुनः प्राप्त करने का सुअवसर प्राप्त हुआ; किन्तु दिल्ली की सेना ने उसका विरोध किया और वह जौनपुर की ओर मुड़ गया। महमूद दिल्ली लौटा, किन्तु ज्यों ही उसने पीठ फेरी कि इब्राहीम ने अपनी सेनाएँ आगे बढ़ाई तथा चार मास के घेरे के उपरान्त कन्नौज पर अधिकार कर लिया। सफलता से उत्साहित होकर १४०७ ई० में उसने दिल्ली राज्य के भीतर आक्रमण प्रारम्भ कर दिया; किन्तु गुजरात के मुजफ्फर शाह की प्रगति का समाचार पाकर, जिसने धार के शासक को जीत लिया था, वह सम्भल और बुलन्दशहर के विजित उपप्रान्तों (जिलों) को छोड़कर जौनपुर लौट जाने पर विवश हो गया। तत्पश्चात् शीघ्र ही इब्राहीम ने कालपी के कादिर खाँ के विरुद्ध प्रस्थान किया; किन्तु उसे घेरा हटा देना पड़ा। तद-नन्तर दिल्ली की राजनीति में एक बड़ा परिवर्तन हुआ। खिज्र खाँ २३ मई १४१४ ई० में सिंहासन पर बिठाया गया।

इब्राहीम कला और साहित्य का बड़ा प्रेमी था। उसने विद्वानों के प्रति अनुराग प्रकट करके पूर्व में जौनपुर को विद्या का केन्द्र बना दिया। दिल्ली के नष्ट होने पर बहुत से प्रसिद्ध विद्वान् उसकी राजसभा में चले आये। उनमें सबसे प्रसिद्ध शहाबुद्दीन मालिकुल उलमा था, जिसने अपनी बहुत सी कृतियाँ अपने संरक्षक को समर्पित कीं। चिरकालीन शान्ति के कारण सुल-तान को सुन्दर इमारतें बनाकर अपनी राजधानी को सुशोभित करने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ। अटाला मसजिद १४०८ ई० में पूर्ण हो गई, जो आज तक इब्राहीम की कीर्ति की द्योतक है।

किन्तु शान्ति चिरस्थायी न रह सकी। समय की अद्भुत गति ने दिल्ली और जौनपुर में मुठभेड़ उत्पन्न कर दी। इब्राहीम तथा उसके उत्तराधिकारी वर्षों तक दिल्ली-शासकों से लड़ते रहे। इन युद्धों का वर्णन उचित स्थान पर किया जायगा।

यह फीरोज तुगलक की दुर्बल नीति थी कि उसने दिल्ली साम्राज्य से

बंगाल को पृथक् कर दिया। फीरोज एवं शमसुद्दीन तथा उसके उत्तराधिकारी सिकन्दर शाह में जो युद्ध हुआ, उसका वर्णन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। यद्यपि समय समय पर इन शासकों ने दिल्ली के सुलतान को भेंट भेजी, किन्तु यथार्थ में ये स्वतन्त्र थे।

बंगाल--हुसैनी राजवंश की स्थापना ने बंगाल में एक नया युग ला दिया। इस वंश का प्रथम शासक हुसेन शाह (१४९३-१५१९) था। यह योग्य था। उसने भली भाँति बुद्धिमत्तापूर्ण देश पर शासन किया। अपने राज्य के विभिन्न प्रान्तों में उसने अपनी शक्ति दृढ़ की। परिणाम-स्वरूप उसके शासन-काल में कोई भी विप्लव न हुआ। उसने मसजिदें बनवाईं, अन्य धार्मिक संस्थायें खोलीं तथा विद्वान और धार्मिक मनुष्यों को जीवन-वृत्ति दी। उसका पुत्र नसरत शाह (१५१८-३० ई०) उसकी मृत्यु के उपरान्त गद्दी पर बैठा। वह भी अपने पिता के गुणों से ओतप्रोत था। उसने अपनी राज्यसीमा विस्तृत की तथा एक प्रतिभाशाली राजा सिद्ध हुआ।

बाबर अपने चरित्रोपाख्यान में उसका वर्णन भारत के शक्तिशाली राजाओं में करता है। अपने पिता की भाँति नसरत भी साहित्य-प्रेमी था तथा गृह-निर्माण-विद्या में उसे बड़ी श्रद्धा थी। उसने बहुत सी मसजिदें बनवाईं जो आज दिन भी अपने सौन्दर्य तथा ठोस ढाँचे के लिए प्रसिद्ध हैं। बंगाल के स्वतन्त्र राजवंशों के ह्रास के उपरान्त शक्ति अफगानों के हाथ में चली गई। मुगल सम्राट् हुमायूँ को परास्त करके शेरशाह पूर्व का अधिपति बन गया तथा उसने बंगाल और बिहार में अपना पूर्ण आधिपत्य स्थापित कर लिया। १४वीं और १५वीं शताब्दी में बंगाल में बड़ा धार्मिक आन्दोलन रहा। मूर यात्री इब्नबतूता ने १४वीं शताब्दी में बंगाल यात्रा की। वह लिखता है कि फखरुद्दीन के समय बंगाल में फकीरों की १५० गद्दियाँ थीं। इस समय हिन्दू तथा इस्लाम धर्म संघात के कारण दोनों धर्म एक दूसरे के सन्निकट हो गये तथा हिन्दू धर्म का रूप-रंग कुछ परिवर्तित सा हो गया। बंगाल में वैष्णव धर्म उन्नति पर था तथा चैतन्य के प्रकट होते ही धर्म ने आश्चर्यजनक उन्नति की। उन्होंने भक्ति सिद्धान्त का धर्मोपदेश किया तथा उनकी तीव्र प्रतिभा ने उनके शिष्यों तथा प्रशंसकों की आत्मा में विद्युत् दौड़ा दी। सम्पूर्ण बंगाल में कृष्ण

के ही नाम का गुणगान होने लगा तथा अगणित पुरुष और स्त्रियों ने इस भक्ति के फलस्वरूप सामाजिक विभेदों का परित्याग कर प्रेम-बन्धन द्वारा अपने सम्बन्धों का एकीकरण किया। हिन्दू और मुसलमानों के संघर्ष से उत्पन्न शक्ति के कारण दोनों में दोष आने लगे।

बंगाल के हुसेन शाह ने, हिन्दू तथा मुसलमानों को मिलाने के लिए सत्यपीर नामक सम्प्रदाय की स्थापना की। सत्यपीर, संस्कृत के 'सत्य' तथा फार्सी के 'पीर' शब्द से मिलकर बना था। यह एक देवता का नाम था जिसे दोनों सम्प्रदायवाले पूजने पर उद्यत थे। इस नये देवता की स्तुति में, आज तक बहुत सी कवितायें, बंगाली साहित्य में भरी पड़ी हैं।

खानदेश—खानदेश का प्रान्त ताप्ती नदी की घाटी में स्थित था। यह उत्तर में विन्ध्य तथा सतपुड़ा पर्वत श्रेणियों, दक्षिण में दक्खिन के पठार, पूर्व में बरार तथा पश्चिम में गुजरात के सूबे से घिरा हुआ था। यह मुहम्मद तुगलक के साम्राज्य का एक भाग था और फिरोज के शासन-काल में वह दिल्ली की जागीरों में था। फीरोज ने अपने सेवक मलिक राजा फारुकी को १३७० ई० में इसे सुपुर्द कर दिया। फीरोज की मृत्यु के बाद मलिक राजा स्वतन्त्र हो गया। वह बुद्धिमान् शासक था; हिन्दुओं के प्रति उसका व्यवहार सहिष्णु था तथा अपनी प्रजा के कल्याणार्थ उसने पर्याप्त चेष्टा की। १३९९ ई० में उसका देहान्त हो गया और उसका पुत्र मलिक नासिर गद्दी पर बैठा तथा उसने शक्तिशाली नायक आसा अहीर से असीरगढ़ का प्रसिद्ध दुर्ग छीन लिया। अपने पैतृक अधिकारों पर उसने कड़ा नियन्त्रण रक्खा। सन् १४३७ ई० में अपनी मृत्यु के समय उत्तराधिकारी के लिए संयुक्त खानदेश छोड़ गया। उसके उत्तराधिकारी अयोग्य से निकले। उनके शासनकाल में खानदेश के वैभव का शीघ्र पतन होने लगा। नासिर के पोतों में से आदिल की १५२० ई० में मृत्यु हो गई। उसके बाद अन्य शासक दुर्बल होते गये और बाह्य शक्ति का सामना न कर सके। सन् १६०१ ई० में अकबर ने असीरगढ़ का दुर्ग जीत लिया और खानदेश को अपने साम्राज्य में मिला लिया। स्थानीय राजवंश का भी अन्त हो गया।

(२) बहमनी राज्य

बहमनी राजवंश का उदय—मुहम्मद तुगलक के शासन-काल के मध्य में साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो जाने के कारण दक्षिण के अमीरों ने विद्रोह किया। इस्माइल मख् के नेतृत्व में दौलताबाद में स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। इस्माइल शान्त प्रकृति का व्यक्ति था इसलिए हसन के लिए, उसने राज-पद त्याग दिया। हसन वीर योद्धा था और १३४७ ई० में बादशाह चुना गया। फरिश्ता लिखता है कि हसन आरम्भ में दिल्ली के ब्राह्मण ज्योतिषी गंगू की रक्षा में नियुक्त था। यह ज्योतिषी सुलतान मुहम्मद तुगलक का विश्वासपात्र था। एक दिन अपने स्वामी का खेत जोतते समय, हसन ने सोने के सिक्कों से भरा हुआ एक बर्तन पाया और उसे अपने स्वामी को दे दिया। हसन की ईमानदारी से ब्राह्मण इतना प्रसन्न हुआ कि उसकी प्रशंसा सुलतान मुहम्मद से की। सुलतान ने उसे नौकरी दे दी। ब्राह्मण ने हसन के बारे में भविष्य-वाणी की और अपनी इच्छा प्रकट की कि हसन राजा होने पर उसे अपना मन्त्री बनाये। हसन ने इसे स्वीकार किया और राज-पद प्राप्त करने के उप-रान्त उसने अपने हितैषी की कृतज्ञता में बहमनी की उपाधि धारण की। आधुनिक अन्वेषण के अनुसार फरिश्ता की भूल सिद्ध हुई है तथा हसन फारस के बादशाह बहमन बिन इस्फन्दियार का वंशज बतलाया जाता है। वह स्वयं अपने को बहमनशाह का वंशज बतलाता है तथा यह नाम उसके सिक्कों पर अंकित है।

उसने गुलबर्गा को अपनी राजधानी बनाया। पूरा देश "तरफों" में विभा-जित था, जो पिछले युद्ध में साथ देनेवाले अमीरों के उत्तरदायित्व में दे दिये गये थे। उसमें से प्रत्येक अमीर को जागीर दी गई थी और उसे राजा की सैनिक सहायता देने के लिए सन्नद्ध रहना पड़ता था। हसन ने विजय-कार्य प्रारम्भ किया। कन्दहार के दुर्ग पर पुनः अधिकार कर लिया गया, तथा उसके अधिकारी सिकन्दर खाँ ने विदार और मालकेद पर अधिकार कर लिया। गोवा, दभोल और तेलिंगाना आदि जीत लिये गये, और उसके शासन के अन्तिम काल तक उसका राज्य दौलताबाद के पूर्व से भोनगीर तक जो

निजाम राज्य में थे और उत्तर में बेंगाना नदी के दक्षिण में कृष्णा नदी तक फैला हुआ था। निरन्तर श्रम का उसके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ा और वह १३५९ ई० में मर गया। मुहम्मद शाह प्रथम जिसे वह अपना उत्तराधिकारी बना गया था, गद्दी पर बैठा।

मुहम्मद शाह प्रथम—उसने अपने पिता की विजय-नीति आरंभ रक्खी। उसके शासन की प्रधान घटना, पार्श्व के विजयनगर तथा तेलंगाना हिन्दू राज्यों से युद्ध किया। उसने साहस तथा दृढ़ लक्ष्य से लड़नेवाले हिन्दुओं को पराजित किया, उनके देशों को लूटा तथा मन्दिरों को विध्वंस किया। मुहम्मद ने प्रायः दस वर्ष तक शान्तिपूर्वक शासन किया। किन्तु छोटे अपराध के लिए तेलिंगाना नरेश की अमानुषिक फाँसी ने युद्ध-ज्वाला को पुनः प्रज्वलित कर दिया। हिन्दुओं ने सरलतापूर्वक अधीनता स्वीकार नहीं की। दो वर्ष के लम्बे युद्ध के उपरान्त राजा ने गोलकुण्डा का दुर्ग दे दिया तथा युद्ध-क्षति की पूर्त्ति के लिए ३३ लाख रुपया देना स्वीकार किया। दोनों राज्यों के मध्य में गोलकुण्डा सीमान्त रेखा का काम करने लगा। तत्पश्चात् शीघ्र ही विजयनगर के साथ युद्ध आरंभ हो गया और उसका स्वरूप बड़ा भयानक हुआ। गुलबर्गा का दूत विजयनगर से रुपया माँगने आया। उसका तिरस्कार किया गया। इसके परिणामस्वरूप शीघ्र ही युद्ध छिड़ गया।

विजयनगर के राय ने उग्र रूप धारण किया तथा सुलतान के राज्य में २०,००० घुड़सवार, १,००,००० पैदल और ३०० हाथी लेकर आक्रमण किया और कृष्णा तथा तुंगभद्रा के मध्यवर्त्ती प्रदेश को उजाड़ डाला। मुदगाल के दुर्ग पर अधिकार कर लिया गया तथा मुस्लिम दुर्ग-रक्षक-सेना कत्ल कर डाली गई। मुहम्मद ने भयानक प्रतिशोध की शपथ ली और विशाल सेना लेकर विजयनगर की ओर कूच किया। उसने कुशल युद्ध नीति द्वारा हिन्दू सेना को प्रलोभन देकर दुर्ग से बाहर निकाल दिया तथा बुरी तरह पराजित किया। राजा के शिविर पर आक्रमण कर दिया गया। वह भाग गया, किन्तु सैनिक अधिकारी तथा आसपास के निवासी क्रूर मुसलमान सैनिकों द्वारा कत्ल कर डाले गये। अन्ततोगत्वा विजयनगर के राय के साथ सन्धि हुई तथा सुलतान ने भविष्य में निर्दोष व्यक्तियों का रक्तपात न करने की प्रतिज्ञा की।

मुहम्मद शाह ने कठोरतापूर्वक अपनी गृह नीति का पालन किया। उसने सभी मद्यशालाएँ बन्द करवा दीं तथा दृढ़तापूर्वक अनाचार का दमन किया। १७ वर्ष ७ मास राज्य करके वह १३७३ ई० में मर गया। उसका पुत्र मुजाहिद शाह गद्दी पर बैठा।

मुजाहिद (१३७३-७७)—मुजाहिद ने फारसियों तथा तुर्कों के प्रति बहुत श्रद्धा प्रकट की और इस प्रकार अपनी बहिष्करण-नीति द्वारा पुनः प्राचीन झगड़ों तथा द्वेषों को जन्म दिया, जिनके कारण दक्षिण निवासियों तथा विदेशियों में विद्वेष-भावना उत्पन्न हुई जिससे मुहम्मद तुगलक की सरकार को धक्का लगा। किन्तु उस समय की प्रधान समस्या, जैसा कि सर्वदा हुआ था, रायचूर दोआब तथा रायचूर और मुदगाल के दुर्गों पर अधिकार स्थापित करने के लिए, विजयनगर से युद्ध करना था। उसने दो बार विजयनगर पर आक्रमण किया, किन्तु दोनों अवसरों पर हिन्दुओं के संगठन के कारण उसे पीछे लौटना पड़ा। सन्धि की गई, किन्तु सुलतान के चचेरे भाई दाऊद ने उसे मारकर १३७७ ई० में सिंहासन पर अधिकार कर लिया। दूसरे वर्ष मुजाहिद की पोषित बहन रूहपरवाह आगा ने एक गुलाम को रुपया देकर बदले में उसे भी मरवा डाला।

दाऊद की मृत्यु के उपरान्त मुहम्मदशाह द्वितीय १३७८ ई० में गद्दी पर बैठा। वह शान्ति-प्रिय व्यक्ति था। युद्ध स्थगित हो जाने के कारण उसे अपना समय साहित्य एवं विज्ञान के अन्वेषण में व्यतीत करने का अवसर प्राप्त हुआ। उसने मस्जिदें बनवाईं, प्रजा के लिए पाठशालाएँ स्थापित कीं तथा मठ खोले और धार्मिक नियमों के विरुद्ध चलने पर कड़ी रोक लगा दी। उसके शासन में विप्लव नहीं हुआ तथा रईसों और अधिकारियों ने भक्तिपूर्वक अपने स्वामी की सेवा की। प्रजा के हितचिन्तन में, सुलतान सदैव तल्लीन रहता था और एक बार दुर्भिक्ष पड़ जाने पर, उत्पीड़न कम करने के लिए, उसने १० सहस्र बैल मालवा तथा गुजरात से अन्न मँगाने के लिए नियुक्त किये। उसके जीवन के अन्तिम काल में उससे सिंहासन छीनने के हेतु उसके पुत्र ने षड्यन्त्र किया। वह १३९७ ई० में मर गया। उसके पुत्र उत्तराधिकारी बने; किन्तु छः मास के उपरान्त सुलतान अलाउद्दीन हसन

शाह के पोते फीरोज ने उन्हें राजत्व से वंचित कर दिया। फीरोज गुलबर्गा आया तथा प्रतिष्ठित व्यक्तियों और अधिकारियों की सहायता से फरवरी १३९७ ई० में गद्दी पर बैठा।

फीरोज शाह (१३९७-१४२२)—बुरहान मासिर का रचयिता उसका वर्णन इस प्रकार करता है—"वह दयालु, निष्पक्ष तथा उदार राजा था। कुरान का उल्था करके जीवन व्यतीत करता था तथा उसके हरम की स्त्रियाँ वस्त्रों पर बेल-बूटा काढ़कर तथा उन्हें बेचकर अपना जीवन यापन करती थीं।" वही लेखक पुनः कहता है, "वह अद्वितीय शासक था तथा उसके न्याय के बहुत से स्मृति-पत्र आज तक इतिहास के पन्नों पर विद्यमान् हैं।" किन्तु यह निरी अतिशयोक्ति प्रतीत होती है; क्योंकि फरिश्ता स्पष्टतया कहता है कि यद्यपि वह धार्मिक क्रियाओं का दृढ़ पालन करता था, फिर भी वह अत्यधिक मद्यपान करता; संगीत से हार्दिक सहानुभूति रखता तथा एक विशाल हरम का पोषक था, जिसमें विभिन्न जातियों की महिलाएँ थीं। कहा जाता है कि प्रतिदिन ८०० स्त्रियाँ विवाह करके शाही अन्तःपुर में लाई जाती थीं। वह सच्चा तथा प्रसन्नचित्त था, आनन्द का अनुभव करता था। अपने साथियों से हार्दिक तथा खुला व्यवहार करता था किन्तु भोज एवं उत्सव सम्मेलनों में राज्य-कार्य-संबंधी विषयों पर विवाद करना कदापि पसन्द नहीं करता था। सर्वदा की भाँति १३९८ ई० में मुदगाल के दुर्ग पर अधिकार करने के लिए विजयनगर का युद्ध आरंभ हुआ। हरिहर द्वितीय ने रायचूर दोआब की ओर अपनी सेना बढ़ाई। फीरोज ने भी अपनी सेना लेकर, युद्ध के लिए प्रस्थान किया; किन्तु उसे केहली के राय को, जिसने बरार पर आक्रमण कर दिया था, रोकना पड़ा। राय पराजित हुआ तथा सन्धि की गई और राय पूर्वस्थिति पर पहुँचाया गया, यद्यपि युद्ध में बन्दी ब्राह्मणों की मुक्ति के लिए राय को बहुत धन देना पड़ा।

युद्ध पुनः प्रारंभ हो गया और १४१९ ई० में फीरोज ने विजयनगर राज्य के पंगाल नामक दुर्ग पर अकारण आक्रमण कर दिया। महामारी फैल जाने के कारण सुलतान की सेना पराजित हुई तथा विजयी सेना ने निर्दयता-

पूर्वक मुसलमानों की हत्या कर डाली, उनके देश को लूट लिया तथा उनकी मसजिदें भ्रष्ट कर दीं।

स्वास्थ्य गिर जाने से विवश होकर फीरोज को शासन-सूत्र अपने सेवकों के हाथ में दे देना पड़ा। उसके शासन-काल के अन्तिम भाग में उसका भाई अहमदशाह अत्यंत शक्तिशाली हो गया तथा उसकी मृत्यु के उपरान्त १४२२ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ।

अहमद शाह (१४२२-३५)—उसने निर्विरोध सिंहासन प्राप्त कर लिया। उसके मन्त्री ने सुलतान के पुत्र को मार उसे निष्कण्टक राज्य करने की मन्त्रणा दी; किन्तु उसने इसे अस्वीकार कर दिया तथा उसे फीरोजाबाद की उत्तम जागीर दी; किन्तु शाहजादा राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं से रहित होने के कारण अपना समय आमोद-प्रमोद की उपलब्धि में व्यतीत करने लगा। उसने विजयनगर से युद्ध किया तथा नृशंसतापूर्वक प्रायः बीस हजार पुरुषों, स्त्रियों तथा वच्चों की हत्या कर डाली। अहमद शाह की इस क्रूरता से हिन्दुओं के क्रोध का पारावार न रहा और उन्होंने उसे मार डालने का निश्चय किया। एक समय जब वह आखेट करने गया था। उन्होंने उसका पीछा किया किन्तु अब्दुल कादिर नामक उसके संरक्षक ने उसकी जान बचा ली। अहमद शाह ने अब विजयनगर की प्रजा को इतना आतंकित किया कि देवराय को सन्धि करने पर विवश होना पड़ा। उसने पिछला कर देना स्वीकार किया तथा अपने पुत्र को रुपये, जवाहिरात तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं से लदे हुए ३० हाथियों के साथ शाही शिविर में भेजा।

१४२४ ई० में उसने वारंगल के राजा को पराजित किया और उसके प्रदेश का बहुत बड़ा भाग अपने राज्य में मिला लिया। उसने मालवा के मुस्लिम शासक को भी परास्त किया तथा आसपास के राज्यों पर विजय करके बहुत से मनुष्यों का रक्तपात किया और अतुल लूट का धन प्राप्त किया।

उसने वली की उपाधि धारण की तथा वापस आने पर विदार नगर की नींव डाली, जो आगे चलकर बहमनी राज्य की राजधानी हो गया। १४२९ ई० में कोंकन के नायक से युद्ध तथा गुजरात के शासक से युद्ध हुआ जिसका कुछ निर्णय न हो सका। उसके शासन-काल का अन्तिम युद्ध तेलिंगाना के

हिन्दू विद्रोह का दमन था। तदनन्तर उसने राजनीतिक जीवन से स्वतः मुक्त होकर गद्दी अपने पुत्र शाहजादा जाफर खाँ को दे दी। वह बीमार होकर १४३५ ईसवी में मर गया।

अलाउद्दीन द्वितीय (१४३५-३७)—जफर खाँ अलाउद्दीन द्वितीय की उपाधि धारण करके सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने अत्युत्तम ढंग से शासन प्रारंभ किया; किन्तु कालान्तर में उसका चरित्र भ्रष्ट हो गया और वह विलासिता में अपना समय व्यतीत करने लगा।

उसके भाई मुहम्मद ने विद्रोह कर दिया तथा विजयनगर की सहायता से रायचूर, दोआब, बीजापुर तथा अन्य उपप्रान्तों पर अधिकार कर लिया। किन्तु अन्त में उसकी पराजय हुई। उसे क्षमा कर दिया गया तथा उसे रायचूर का जिला जागीर के रूप में दे दिया गया। किन्तु अलाउद्दीन का प्राचीन शत्रु विजयनगर का राजा था और उसने सुलतान के राज्य पर आक्रमण कर दिया। पहले युद्ध अनिश्चयात्मक रहा, किन्तु थोड़े दिन के घेरे के उपरान्त देवराय ने निर्दिष्ट कर देना स्वीकार कर लिया। दक्षिणी मुसलमानों ने जो अधिकतर सुन्नी थे, तथा कुछ अरब, तुर्क, फारसी और मुगल इत्यादि, जो शिया धर्म मानते थे, शासन-प्रबंध को अव्यवस्थित तथा चिन्ताजनक कर दिया। कोंकन में एक हिन्दू नायक द्वारा, १४५४ ई० में खाल्फ हसन मलिकुल तुंजार को बुरी तरह पराजित होना पड़ा। सैनिक दल अपने जीवन रक्षार्थ चेष्टा कर रहे थे, इसलिए दक्षिणी नायकों ने सुलतान को विश्वास दिलाया कि वे राजद्रोह करना चाहते हैं। उन्हें भोज के लिए निमन्त्रित करके धोखे से मार डाला गया। अलाउद्दीन का १४५७ ई० में देहान्त हो गया।

दुराचारी होने पर भी अलाउद्दीन प्रजा के हितों के प्रति असावधान नहीं था। उसने मस्जिदें बनवाईं, प्रजा के लिए पाठशालाएँ स्थापित कीं तथा धार्मिक संस्थाओं का निर्माण कराया। पूरे राज्य में राजाज्ञा का पालन होता था तथा चोर और लुटेरों को कठोर दण्ड दिया जाता था। यद्यपि वह स्वयं दृढ़ धार्मिक नहीं था; किन्तु धार्मिक क्रियाओं का पालन करने में दृढ़ था तथा अपने सहधर्मियों की भावनाओं का सम्मान करता था।

हुमायूं (१४५७-६१)—अलाउद्दीन का सबसे बड़ा पुत्र हुमायूं गद्दी

पर बैठा। वह क्रूर एवं पैशाचिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था। विद्वत्ता, वाग्पटुता तथा बुद्धिमत्ता के लिए वह प्रशंसनीय है, किन्तु साथ ही अपनी भयानक प्रवृत्ति के लिए वह निन्दनीय था। रक्त-पात करने में उसे तनिक भी दया न आती थी। किन्तु महमूद गवान जैसे सेवक को पाकर वह अत्यंत भाग्यशाली था, जिसने अपने जीवन के अन्तिम दिन तक अत्यंत स्वामिभक्त तथा श्रद्धा के साथ उसकी सेवा की। उसका शासन कुत्सित क्रूरता के लिए प्रसिद्ध है। और उसने इसका प्रयोग अत्यंत जघन्य नृशंसता के साथ किया। षड्यन्त्र द्वारा अपने भाई हसन और माहया को बन्दीगृह से मुक्ति हो जाने पर उसने अपने समक्ष एक भयानक शेर के सम्मुख डलवा दिया जो उसे तुरन्त ही निगल गया। बादशाह की क्रूरता ने सभी सीमाओं का उल्लंघन कर दिया।

सन् १४६१ ई० के अक्टूबर मास में हुमायूँ स्वाभाविक मृत्यु से मर गया; किन्तु फिरश्ता के अनुसार जब वह नशे में चूर था, उसके एक सेवक ने उसका वध कर दिया।

निजामशाह (१४६१-६३)—हुमायूँ की मृत्यु के उपरान्त ख्वाजा जहाँ महमूद गावान और पूर्व की सर्वप्रसिद्ध स्त्रियों में से अपना स्वतन्त्र स्थान रखनेवाली राज-माता ने, निजाम को राजा चुना। निजाम ८ वर्ष का बच्चा था, इसलिए शासन-सूत्र विधवा रानी मखदुमाजहाँ के हाथ में रहा। महमूद गावान की सहायता से अपने पति द्वारा बन्दी-गृह में डाले गये सभी निर्दोष व्यक्तियों को उसने मुक्त किया तथा अकारण पद-च्युत अधिकारियों को पुनः उनके पुराने पद दिला दिये।

उड़ीसा तथा तेलिंगाना के रईसों ने उस पर आक्रमण किया; किन्तु उसने उन्हें पीछे खदेड़ दिया; किन्तु जब मालवा के महमूद खिलजी ने विदार पर अधिकार कर लिया, तो दक्षिण की सेना महमूद गावान और ख्वाजा जहाँ के नेतृत्व में १४६१ ई० में बुरी तरह पराजित हुई। राज-माता ने इस आवश्यक समय पर गुजरात के शासक से सहायता ली जिसके पहुँचने पर महमूद खिलजी ने एक बार पुनः प्रयास किया किन्तु वह असफल रहा। निजाम शाह का विवाह होने ही वाला था कि अचानक १४६३ ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

मुहम्मद शाह तृतीय (१४६३-८२)—स्वर्गीय राजा का भाई मुहम्मद शाह रईसों द्वारा राजा चुना गया। नये राजा ने, प्रजा का धन अपहरण करने के अपराध में ख्वाजा जहाँ को मरवा डाला और राज्य की प्रधान शक्ति महमूद गावान के हाथ में चली गई। उसकी शक्ति असीम थी। उसने कई वर्ष तक स्वामिभक्तिपूर्वक राज्य की सेवा की। उसने कई युद्ध किये, देशों को अधीन किया तथा बहमनी राज्य की सीमा पहले से कहीं अधिक विस्तृत कर दी। कोंकन के हिन्दू राज्य के विरुद्ध वह एक विशाल सेना के साथ भेजा गया तथा उसने वहाँ के नायक को कालना या वर्तमान वीसलगढ़ दुर्ग को समर्पित कर देने पर विवश किया। उसने उड़ीसा के राजा को भी कर देने पर विवश किया; किन्तु विजयनगर के नरसिंह राय के विरुद्ध युद्ध करते समय, काची अथवा कांजीवरम पर आक्रमण सुलतान का अत्यंत पराक्रमशील कार्य था। नगर पर अधिकार कर लिया गया तथा वहुत-सा लूट का धन विजेता के हाथ लगा।

१४७४ ई० में दक्षिण में भयानक दुर्भिक्ष पड़ा जो बीजापुर दुर्भिक्ष के नाम से प्रसिद्ध है। १४७० ई० आथनॉसियत निकिटिन नामक रूसी व्यापारी ने बिदार का अवलोकन किया। उसने देश, सरकार तथा वहाँ के निवासियों का भली भाँति अध्ययन किया। वह सुलतान की आखेट-यात्रा तथा उसके राजभवन का सुचित्रित वर्णन करता है।

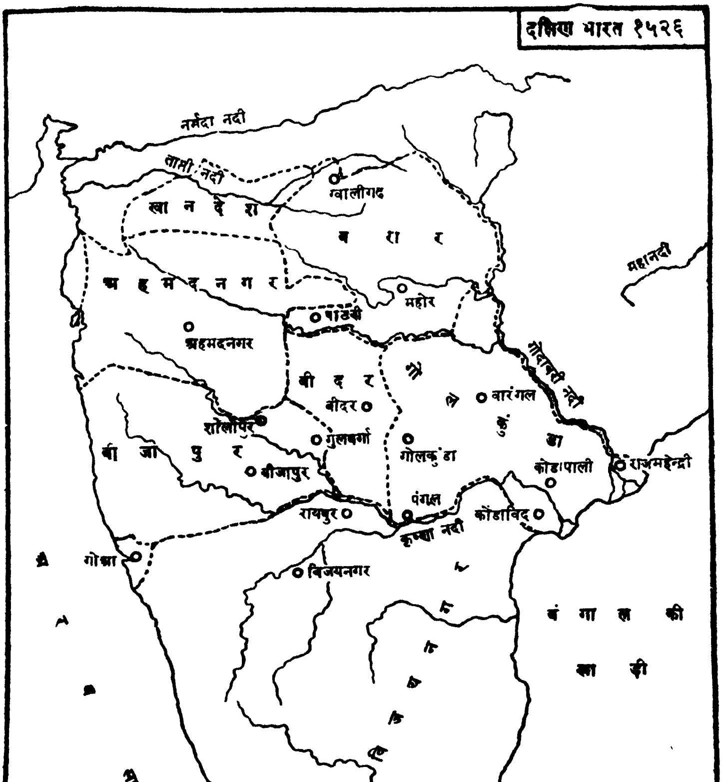
शासन-प्रबन्ध सम्बन्धी सुधार—महमूद गावान कुशल शासन-प्रबंध-कर्त्ता था। राज्य के दक्षिण तथा ईरानी दलों में अशान्तिवर्द्धक वैमनस्य रहने पर भी, महमूद गावान ने सफलतापूर्वक सुधार कार्य करने की चेष्टा की। ऐसा कोई विभाग नहीं था जिस पर उसकी दृष्टि न रही हो। उसने राज्य-कर की व्यवस्था की, न्याय-प्रबंध का सुधार किया, प्रजा की शिक्षा को प्रोत्साहन दिया तथा गाँव की भूमि के माप की व्यवस्था करके राज्य-कर को यथार्थ तथा न्यायोचित बनाया। कुत्सित व्यवहारों का दमन किया गया; सेना में सुधार किया गया; उत्तमोत्तम रण-शिक्षा की व्यवस्था की गई तथा सैनिकों के हितों की रक्षा का प्रयत्न किया गया।

महमूद गावान की मृत्यु—किन्तु उसके प्रभाव से ईर्ष्यालु दक्षिणी वर्ग

ने उसके विरुद्ध षड्यन्त्र का आयोजन किया। उन्होंने एक जाली पत्र लिखा जिसमें यह दिखलाया गया कि वह उसी का, राजद्रोहात्मक पत्र है जो कि नरसिंह राय को लिखा गया है। राजा को बतलाया गया कि वह धूर्त है तथा नशे की अवस्था में उसे मार डालने के लिए राजा को उकसाया भी गया। अपने समय का पवित्र व्यक्ति, इस प्रकार हत्यारे के क्रूर हाथों से इस संसार से बिदा हुआ और मेडोज टेलर लिखता है कि उसके प्रस्थान के साथ बहमनी राज्य की सारी शक्ति भी चली गई।

महमूद गावान का चरित्र—महमूद गावान मध्यकाल के सर्वोत्कृष्ट राजनीतिज्ञों में से था। वह पूर्णतया राज्य-कार्य में ही तल्लीन रहता था तथा उसने योग्यता और गौरव के साथ जीवन भर राज्य की सेवा की। उसके लोक-संबंधी चरित्र के विषय में, जो राज्य के हित के लिए अनवरत प्रयासों से भरा हुआ था, पहले ही बहुत कुछ कहा जा चुका है। किन्तु ख्वाजा का व्यक्तिगत जीवन अत्यंत दिव्य था। उसे सादगी पसन्द थी तथा दीनों के प्रति उसे सदैव सहानुभूति थी। सभी मुसलमान इतिहासकारों का मत है कि वह साहसी, उदार और न्याय-प्रिय था तथा उन सभी दोष से, जो उस काल के प्रतिष्ठित व्यक्तियों में साधारणतया पाये जाते थे, परे था। उसकी आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी थीं तथा उसका विशेष समय विद्वानों और धर्मोपदेशकों के सहवास में व्यतीत होता था। बिदार के उच्च शिक्षालय में उसका एक उत्तम पुस्तकालय था जिसमें ३,००० पुस्तकें थीं। दिन भर के श्रम के उपरान्त विद्वान् ख्वाजा सन्ध्या समय अपने विद्यालय में जाता तथा विद्वानों की मंडली में अपना मनोरंजन करता था। वह गणित, औषधि-विज्ञान, साहित्य का प्रकाण्ड विद्वान् तथा पत्र लेखन-शैली का तो अध्यापक था। फिरिश्ता उसे दो पुस्तकों का रचयिता बतलाता है—(१) रौजतुलइन्शा (२) दीवान-ए-अशर। किन्तु यद्यपि ख्वाजा धार्मिक एवं विद्वान् था तथापि अपने समय के धार्मिक पक्षपातों से रहित नहीं था। वह मूर्तिपूजा का घोर विरोधी था। निष्कर्ष यह कि ऐसे स्वामिभक्त सेवक का वध एक गम्भीर भूल थी तथा अन्य कारणों की अपेक्षा यह बहमनी राजवंश के नाश का प्रधान कारण सिद्ध हुई।

बहमनी राज्य का पतन—सन् १४८२ ई० में मुहम्मद शाह की मृत्यु



दक्षिण भारत १५२६
नर्मदा नदी
ताप्ती नदी
ग्वालीगढ़
खानदेश
बरार
महानदी
अहमदनगर
महोर
पाथरी
अहमदनगर
गोदावरी नदी
बीदर
बीदर
वारंगल
गोलकुंडा
शोलापुर
गुलबर्गा
गोलकुंडा
बीजापुर
बीजापुर
कोंडापाली
राजमहेन्द्री
पंगल
रायचुर
कोंडाविद
कृष्णा नदी
गोआ
विजयनगर
बंगाल की खाड़ी
कावेरी नदी

हो गई तथा उसका पुत्र महमूद शाह जिसकी अवस्था केवल १२ वर्ष थी, गद्दी पर बैठा। वह आलसी हो गया तथा अपना समय विलासिता और मद्य-पान में व्यतीत करने लगा। चारों ओर अव्यवस्था फैल गई तथा प्रान्तीय शासक अपनी स्वतन्त्रता घोषित करने लगे। बहमनी राज्य अब विदार तथा राजधानी के समीपवर्ती प्रान्तों तक ही सीमित रह गया था। नया मन्त्री अमीर बारीद यथार्थ शासक था। उसने महमूद को तिरस्कृत अवस्था में अपने अधीन रक्खा। १५१८ ई० में महमूद की मृत्यु के उपरान्त बहमनी राज्य का प्रायः अन्त हो गया।

राज्य पाँच स्वतन्त्र राज्यों में विभाजित हो गया:—

१—बरार का इमादशाही राज-वंश।

२—अहमदनगर का निजामशाही राज-वंश।

३—बीजापुर का आदिलशाही राज-वंश।

४—गोलकुण्डा का कुतुबशाही राज-वंश।

५—बिदार का वारिदशाही राज-वंश।

सामान्य निरूपण—बहमनी राज्य में कुल १४ राजे हुए। दो एक के अतिरिक्त प्रायः सभी क्रूर तथा नृशंस थे और हिन्दुओं का रक्तपात करने से कभी नहीं हिचकते थे। राज-वंश का संस्थापक हसन कांगू योग्य शासन-प्रबन्धकर्त्ता था किन्तु हिन्दुओं के प्रति उसका भी व्यवहार अत्यंत असहिष्णु था। उसके उत्तराधिकारी विशेषतया भ्रष्ट तथा प्रजापीड़क थे और उनके कार्य में, दक्षिणी और विदेशी अमीरों के पारस्परिक विरोध के कारण बखेड़ा पैदा हो जाता था। शासन-प्रबंध को सुचारु रूप से चलाने के लिए समय समय पर प्रयत्न किये गये, किन्तु महमूद गावान के मन्त्रित्व-काल के अतिरिक्त, इसमें कोई सफलता न हुई। राज्य में हिन्दुओं को शासन-प्रबन्ध के निम्न विभागों पर नियुक्त किया जाता था। किन्तु यह अवश्यम्भावी था, क्योंकि राज्य-कर-विषय का उन्हें विशेष अनुभव तथा ज्ञान था। महमूद गावान ने राज्य-कर-विधान में सुधार किया तथा कृषकों को रुपये-पैसे अथवा अन्न के रूप में राज्य-कर चुका देने की आज्ञा दी। ऑथनॉ सियस निकिटिन कहता है कि देश खूब घना बसा हुआ था। भूमि भली भाँति जोती जाती

थी। सड़कें डाकुओं से सुरक्षित थीं तथा राज्य की राजधानी भव्य थी जिसमें बहुत से प्रमोद-वन तथा विहार-वाटिकाएँ थीं। धनी वर्ग का जीवन सम्पन्न था किन्तु देश में प्रजा की अवस्था अत्यन्त शोचनीय एवं चिन्ताजनक थी। उसके निरूपण से डाक्टर स्मिथ इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि देश शोषित कर लिया गया था। किन्तु यह उनकी भूल है कि संसार के समस्त मध्ययुगीय राजा प्रजा के धन को अपनी विलासिता-पूर्ति के लिए, उड़ाने में तनिक भी संकोच नहीं करते थे। यह सत्य है कि बहमनी शासकों ने बहुधा शत्रु की सम्पत्ति का अपहरण किया; किन्तु युद्ध-काल में भी प्रजा से बल-पूर्वक धन उपार्जित करने का अपराध उन पर नहीं लगाया जा सकता। कृषि की उन्नति के लिए उन्होंने सिंचाई का प्रबन्ध किया तथा राज्य के कृषक वर्ग के कल्याण के लिए पर्याप्त प्रयास किया। उनमें से कुछ कला और शिक्षा के संरक्षक थे तथा विद्वानों एवं धार्मिकों के रक्षार्थ दान दिया करते थे। उन्हें भवन-निर्माण में विशेष रुचि न थी। उल्लेखनीय वस्तुओं में, बिदार नगर है जिसमें भव्य भवन तथा कई दुर्ग थे जो आज तक उस काल का स्मरण दिलाते हैं।

बहमनियों का निरूपण करते समय, आज के माप-दण्ड से उनके चरित्र का आँकना अनुचित है! पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी में, पश्चिम में भी साम्प्रदायिकता एक साधारण बात हो गई थी। धर्म राजनीति का एक अंग हो गया था तथा लोलुप शासक स्वार्थ-साधन के लिए साम्प्रदायिकता को उत्तेजित करते थे। इस सत्य को ध्यान में रखते हुए, हम मेडोज टेलर की अनुचित स्तुति को, जो उसने बहमनियों के लिए की है, स्वीकार नहीं कर सकते और न विंसेण्ट स्मिथ के उपालम्भ का ही समर्थन करते हैं।

दक्षिण के पाँच मुसलमानी राज्य

बरार—इमादशाही राज-वंश की स्थापना, फतेहउल्ला इमादशाह द्वारा, जो पहले कर्नाटक का हिन्दू था, की गई। उसने बरार के शासक खानेजहाँ की सेवाओं से नाम कमाया तथा उसका उत्तराधिकारी बन गया। सर्वप्रथम उसी ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित की। १५७४ ई० तक उसके वंश ने राज्य

किया जिसके पश्चात् निजाम ने उसका राज्य अपने राज्य में मिला लिया।

बीजापुर—महमूद गावान द्वारा क्रय किये गये गुलाम यूसुफ आदिल खाँ ने आदिलशाही राजवंश की स्थापना की। किन्तु फिरिश्ता के अनुसार वह तुर्किस्तान के सुलतान मुराद द्वितीय का (जो १४५१ ई० में मर गया) पुत्र था। जब उसका सबसे बड़ा भाई मुहम्मद गद्दी पर बैठा, उसने स्वर्गीय सुलतान के वंश के सभी पुरुष-सदस्यों के निर्वासन की आज्ञा दे दी, किन्तु यूसुफ की माता ने अपनी चालाकी से उसे बचा लिया, अपने रक्षक मुहम्मद गावान की कृपा से उसने उच्च पद प्राप्त किया तथा १४८९ ई० में स्वतन्त्र हो गया।

उसके उग्र शत्रु कासिम बरीद ने विजयनगर के राय को बीजापुर पर आक्रमण करने के लिए उत्तेजित किया। किन्तु नरसिंह की पराजय हुई। १४९५ ई० में उसने, गुलबर्गा के शासक दस्तूर दीनार के विद्रोह को दमन करने के लिए कासिम बरीद की सहायता की। किन्तु उसने यह प्रयास किया कि उसे गुलबर्गा मिल जाय तथा विपक्षी का वह संरक्षक हो जाय। परन्तु यूसुफ गुलबर्गा ले लेने के लिए अत्यन्त चिन्तित था। कासिम पराजित हुआ तथा उसकी पराजय से अली आदिलशाह की प्रतिष्ठा बढ़ गई। १५०२ ई० में उसने शिया मत को राज्य-धर्म घोषित किया; किन्तु सुन्नियों की भी धार्मिक स्वतन्त्रता स्वीकृत की। तिस पर भी पड़ोसी शक्तियों ने उसके विरुद्ध संगठन किया। वह बरार भाग गया तथा सुन्नी धर्म को स्वीकार कर खानदेश की ओर चला गया। तदनन्तर इमादुल मुल्क ने मित्रराष्ट्रों को लिखा कि अमीर बरीद अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए उनके साथ व्यवहार कर रहा था। इसलिए अहमदनगर तथा गोलकुण्डा के सुलतान युद्ध-क्षेत्र से अलग हो गये। अमीर बरीद अकेला रह जाने के कारण पराजित हुआ तथा यूसुफ ने विजयी होकर बीजापुर में प्रवेश किया। यूसुफ़ आदिलशाह दक्षिण के असामान्य राजाओं में से है। वह विद्वानों का आश्रयदाता था। फारस, तुर्किस्तान और रोम आदि देशों के विद्वान् पुरुष उसकी राज-सभा में आते तथा उसकी दानशीलता से तृप्त होते थे। वह हठधर्म से परे था, इसलिए लौकिक व्यापार में धर्म उसका

बाधक न था। फिरिश्ता कहता है कि वह सुन्दर शरीरवाला, भावोत्पादक, वक्ता तथा उच्च कोटि का विद्वान्, उदार एवं शूर था।

इस्माइल शाह—यूसुफ आदिल के पश्चात् इस्माइल सिंहासनारूढ़ हुआ जिसकी अवस्था केवल नौ वर्ष की थी। राज्य-कार्य-संचालन, स्वर्गीय राजा का एक अधिकारी कमाल खाँ करता था; किन्तु वह धूर्त सिद्ध हुआ। राजमाता ने उसकी अभिलाषाओं को कुचल दिया तथा एक गुलाम द्वारा उसकी हत्या करा दी। अब इस्माइल ने शासन की बागडोर अपने हाथ में ली। किन्तु उसे विजयनगर और अहमदाबाद से युद्ध करना पड़ा। वह अपने सभी युद्धों में विजयी रहा तथा उसने विजयनगर से रायचूर दोआब पुनः छीन लिया। १५३४ ई० में इस्माइल का देहावसान हो गया तथा मल्लू आदिलशाह गद्दी पर बैठा किन्तु वह अन्धा करके सिंहासन से उतार दिया गया। उसकी मृत्यु के अनन्तर उसका भाई इब्राहीम राजा घोषित किया गया।

इब्राहीम आदिलशाह प्रथम—उसने सर्वप्रथम सुन्नी धर्म का पुनरुद्धार किया तथा अपनी सेनाओं मे सभी विदेशियों को हटाकर दक्षिण और अबीसीनिया निवासियों को स्थान दिया। उसने बिदार, अहमदनगर एवं गोलकुण्डा के शासकों को पराजित कर अपनी प्रशंसनीय शक्ति का परिचय दिया किन्तु विषयोपभोग के कारण उसका नाश उसके सम्मुख उपस्थित हो गया। वह बीमार पड़ा और १५५७ ई० में मर गया। अब अली आदिलशाह गद्दी पर बैठा।

अली आदिलशाह—नये सुलतान ने शिया धर्म को महत्त्व दिया और उसकी नीति ने देश में असन्तोष उत्पन्न कर दिया। विजयनगर के राय की सहायता से उसने १५५८ ई० में अहमदनगर राज्य को लूट लिया। हिन्दू अत्यधिक दुष्कार्य करने लगे। परिणाम यह हुआ कि उनके मित्र अली आदिल को भी उनके व्यवहार से घृणा हो गई। विजयनगर की बढ़ती हुई शक्ति से मुस्लिम राज्यों के अस्तित्व को भय हो गया। बीजापुर, बिदार, अहमदनगर तथा गोलकुण्डा ने संगठन करके १५६५ ई० में रामराजा को तालीकोट के युद्ध में पराजित किया। १५७९ ई० में अली आदिल की हत्या कर दी गई।

इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय—सिंहासन का उत्तराधिकारी अल्पवयस्क था और राज्य-कार्य उसकी माता, चाँदबीबी चलाती थी जिसने १५९४ ई० में अहमदनगर से युद्ध करके ख्याति प्राप्त की। इब्राहीम सफल रहा और शत्रु युद्ध में मार डाला गया। वह १६२६ ई० में मरा। वह अपने वंश में सबसे विलक्षण शासक था।

औरंगजेब ने आदिलशाही राज्य को १६८६ ई० में मुगल साम्राज्य में मिला लिया।

अहमदनगर—बिदार के दक्षिणी दल के नेता निजामुलमुल्क बहरी ने निजामशाही राजवंश की स्थापना की। महमूद गावान की मृत्यु के उपरान्त वह मन्त्री नियुक्त किया गया। उसका पुत्र मलिक अहमद जूनीर का शासक नियुक्त किया गया। उसने अपने पुत्र से संबंध करना चाहा किन्तु बिदार के शासक ने उसकी अभिलाषाएँ नष्ट कर दीं तथा राजाज्ञा से उसका गला घोंट कर मार डाला। १४९८ ई० में मलिक अहमद ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी और अपनी राजसभा अहमदनगर में बदलकर स्थापित की। भयानक युद्ध के अनन्तर १४९९ ई० में उसने दौलताबाद पर अधिकार कर लिया। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र बुरहान निजामशाह गद्दी पर बैठा।

बुरहान और उसके उत्तराधिकारी—बुरहान (१५०८-५३) अल्पवयस्क था। इसलिए राज्य-कार्य का प्रबन्ध, उसके पिता के पुराने अधिकारी करते थे। उसने बीजापुर की कुमारी से विवाह किया तथा विजयनगर के राय से मैत्रीपूर्ण संबंध जोड़कर राजनीतिक क्रान्ति उत्पन्न की।

१५५३ ई० में उसने बीजापुर का घेरा डाला; किन्तु थोड़े दिन बाद शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गई। अहमदनगर का आगामी इतिहास चाँदबीबी के कुमार मुराद के विरुद्ध वीरतापूर्ण अवरोध के अतिरिक्त प्रायः किसी महत्व का नहीं है। अन्त में शाही सेना ने १६०० ई० में अहमदनगर पर अधिकार कर लिया।

गोलकुण्डा—कुतुबुलमुल्क ने कुतुबशाही राजवंश की स्थापना की। वह भली भाँति सुशिक्षित तथा आरंभ में महमूद शाह बहमनी के मन्त्रित्व में नियुक्त था। अपनी योग्यता के प्रभाव से उसने तेलिंगाना का शासक पद

प्राप्त किया। १५१८ ई० में उसने स्वतन्त्रता घोषित कर दी। उसकी मृत्यु के उपरान्त बहुत से निर्बल शासक उसके उत्तराधिकारी बने तथा १६८७ ई० तक यह स्वतन्त्र बना रहा जब कि अन्त में औरंगजेब ने उसे मुगल साम्राज्य में मिला लिया।

बिदार—काजिम बारिद का पुत्र अमीर बारीद राजा बना तथा १५२६ ई० में, जब अन्तिम सुलतान कालिमुल्ला बीजापुर भाग गया, तो उसने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। राज-वंश १६०९ ई० तक स्थिर रहा तथा इसी समय आदिलशाहियों ने इसका अस्तित्व मिटाकर अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया।

(३) विजयनगर का उत्कर्ष

साम्राज्य की स्थापना—विजयनगर राज्य का अभ्युद , मुहम्मद तुगलक के शासन काल में उत्पन्न अव्यवस्था के समय से प्रारंभ होता है। विजयनगर साम्राज्य का इतिहासकार सिवेल राज-वंश के आरंभ की सात परम्परागत कथाएँ बतलाता है। किन्तु अधिक संभव कथा हरिहर और बुक्का दो भाइयों से आरंभ होती है, जो वारंगल के राजा प्रताप रुद्रदेव काकतीय के राजकोष में नियुक्त थे। वे १३२३ ई० में मुसलमानों के आक्रमण करने पर स्वदेश छोड़कर भाग गये। रायचूर जिले में अनागोंदी के राजा के यहाँ उन्होंने नौकरी कर ली किन्तु जब मुसलमानों ने उस देश पर अधिकार कर लिया तो वे दिल्ली लाये गये। इससे उत्तेजित होकर हिन्दुओं ने विद्रोह कर दिया, फलतः सुलतान ने दोनों भाइयों को मुक्त कर अनागोंदी प्रदेश उन्हें दे दिया जो दिल्ली साम्राज्य का सहायक भाग बना रहा। ख्याति-प्राप्त बुद्धिमान् तथा विद्वान् ब्राह्मण विद्यारण्य की सहायता से उन्होंने विशेषकर सुरक्षा की दृष्टि से तथा मुसलमान आक्रमणकारियों के आक्रमण और उत्पीड़न से बचने के लिए १३३६ ई० में तुंगभद्रा नदी के तट पर विजयनगर की नींव डाली। हरिहर इस वंश का प्रथम शासक हुआ।

प्रारंभिक शासक—१३४० ई० तक हरिहर ने अपना प्रभुत्व तुंगभद्रा की घाटी, कोंकन के कुछ भाग तथा मलाबार के समुद्री तट तक स्थापित कर लिया।

हरिहर और उसके भाइयों ने राजा की उपाधि कभी नहीं धारण की। मुसलमान इतिहासकारों का कथन है कि दक्षिण से मुसलमानों को निकाल बाहर करने के अभिप्राय से हरिहर ने १३१४ ई० में वारंगल के प्रताप रुद्रदेव के पुत्र कृष्णनायक द्वारा संगठित सन्धि-दल में भाग लिया था। शिलालेखों से भी इस कथन की पुष्टि होती है कि हरिहर प्रथम ने इस सन्धि में सहायता दी तथा मुसलमान सेनाओं से युद्ध किया। होयसल वंश के अंतिम राजा विरूपाक्ष बल्लाल की १३४६ ई० में मृत्यु हो गई तथा इसी समय दिल्ली के सुल्तान की शक्ति का ह्रास हो गया। इन उपर्युक्त कारणों से दोनों वीर भाइयों को होयसल राज्य पर अधिकार कर लेने का सौभाग्य प्राप्त हो गया। इन भाइयों ने विजय करना आरंभ कर दिया। उनके प्रयत्न सफल होते गये, यहाँ तक कि हरिहर के जीवन-काल में ही राज्य-विस्तार, उत्तर में कृष्णा से दक्षिण में कावेरी नदी के निकट तथा पूर्वी और पश्चिमी समुद्र के मध्यवर्ती प्रदेश तक फैल गया। किन्तु उन्नतिशील राज्य का उत्तरी विस्तार बहमनियों ने रोक दिया। दोनों ने दक्षिण में अपनी धाक जमाने की चेष्टा की, यहाँ तक कि दोनों को क्रूरता एवं हठपूर्वक एक दूसरे के विरुद्ध लड़ना पड़ा। हरिहर ने राज्य को प्रान्तों में विभाजित करके राज्य-परिवार के वंशजों तथा विश्वासपात्रों और प्राचीन स्वामिभक्त राज्य-प्रतिनिधियों के सुपुर्द कर दिया। १२५३ ई० के निकट हरिहर की मृत्यु हो गई और उसका भाई बुक्का गद्दी पर बैठा तथा राजधानी के भवनों को पूर्ण करके उनके विस्तार को बढ़ाया। शिलालेखों में वह पूर्वी, पश्चिमी तथा दक्षिणी समुद्रों का अधिपति वर्णित किया गया है। यह अतिशयोक्ति अवश्य है किन्तु यह भी सत्य है कि वह एक असामान्य शासक था। उसने चीन सम्राट् के पास अपने दूत भेजे तथा बहमनी राज्य से युद्ध किया। वह सहनशील तथा उदारहृदय शासक था, और एक अवसर पर उसने जैनियों तथा वैष्णवों में शान्ति स्थापित कर दी।

हरिहर द्वितीय—१३७९ ई० में बुक्का के देहान्त हो जाने पर, हरिहर

द्वितीय सिंहासनारूढ़ हुआ। इस राजवंश का यह प्रथम शासक था जिसने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की। उसने मन्दिर बनवाये तथा अपने विशाल वैभव को दृढ़ करने की चेष्टा की। स्वेल लिखता है कि सर्वदा शान्ति-प्रिय रहा और विसेंट स्मिथ का कथन है कि मुसलमानों के साथ वह शान्ति-पूर्ण व्यवहार करता था तथा अपने अवकाश का समय, त्रिचनापल्ली और कांजीवरम् सहित अपने संपूर्ण दक्षिणी राज्य के एकीकरण में व्यय करता था। उसने अपना ध्यान सुदूर दक्षिण के प्रदेशों की ओर आकृष्ट किया और उसके सेनानायक गुण्डा ने कई नये प्रान्तों को जीत लिया। ३० अगस्त, १४०४ ई० में हरिहर द्वितीय की मृत्यु हो गई, उसका पुत्र गद्दी पर बैठा; किन्तु अल्पकाल शासन कर सका। उसके उपरान्त देवराय गद्दी पर बैठा जिसे बराबर बहमनियों से युद्ध करना पड़ा। फिरिश्ता कहता है कि एक समय फीरोज ने उसे विवश किया कि वह अपनी पुत्री सुलतान को ब्याह दे। किन्तु विवाह के सफल होने में भली भाँति सन्देह किया जा सकता है क्योंकि 'बुरहाने मासीर' का रचयिता जो पूर्ण एवं यथार्थ इतिहासकार है, इस विवाह का कोई वर्णन नहीं करता और न शिलालेखों में ही इसका वर्णन पाया जाता है। १४१० ई० में देवराय की मृत्यु हो गई और उसका पुत्र विजयराय सिंहासनारूढ़ हुआ जिसने केवल नौ वर्ष तक शासन किया। उसका उत्तराधिकारी देवराय द्वितीय हुआ।

देवराय द्वितीय (१४११-१४४६ ई०)—देवराय ने अपने पूर्वजों की सैनिक परम्परा का अनुकरण किया और बहमनियों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। मुसलमान सैनिकों की कुशलता से प्रभावित होकर उसने अपनी सेना में मुस्लिम घुड़सवारों को नियुक्त किया किन्तु यह अपूर्व योजना हितकर नहीं सिद्ध हुई। जब १४४३ ई० में पुनः युद्ध छिड़ा, मुसलमानों ने राय की सेना को पराजित किया तथा उसे कर देने पर विवश होना पड़ा। देवराय द्वितीय के शासन-काल में दो विदेशी यात्रियों ने विजयनगर की यात्रा की—उनमें से एक निकोलो कौण्टी नामक इटैलियन प्रवासी तथा दूसरा फारस का राजदूत अब्दुर्रज्जाक था। दोनों ने विजयनगर साम्राज्य तथा नगर का सुचित्रित वर्णन किया है।

निकोलो कौण्टी (Nicolo conti)—इसने १४२० या १४२१ के लगभग विजयनगर का अवलोकन किया तथा उसका वर्णन इस प्रकार करता है—"बिजेंगालिया का महान् नगर ढालू पर्वतों के निकट स्थित है। नगर का घेरा साठ मील है; इसकी दीवालें पर्वतों तक चली गई हैं तथा घाटियों के उनके सन्निकट भीतर आ जाने से नगर का विस्तार और अधिक हो गया है। इस नगर में प्रायः ९ लाख वर्मधारी मनुष्य हैं।

"इस प्रदेश के निवासी जितनी स्त्रियों से चाहें विवाह कर सकते हैं, जो अपने मृत पति के साथ जला दी जाती हैं। उनका राजा भारत के अन्य सभी राजाओं से शक्तिशाली है। उसकी १२,००० पत्नियाँ हैं, जिनमें से ४,००० जहाँ कहीं वह जाता है, उसके साथ रहती हैं तथा उनका कार्य केवल भोजनालय तक सीमित है। इतनी ही संख्या, भली भाँति सुसज्जित होकर अश्वारोही का कार्य करती है। शेष डोलियों में चलती हैं जिनमें से २,९०० या ३,००० स्त्रियाँ इस दशा पर उसकी पत्नी चुनी जाती हैं कि वे उसकी मृत्यु के साथ स्वतः उसके साथ जल जायँगी, जो उनके लिए सम्भ्रान्त कार्य समझा जायगा।

"वर्ष के एक निश्चित समय पर उनका आराध्य देव नगर में घुमाया जाता है; वह दो रथों के मध्य स्थित रहता है जिनमें युवतियाँ भली भाँति आभूषित होकर बैठी रहती हैं तथा देवता की स्तुति गाती हैं। उनके साथ मनुष्यों की बड़ी मण्डली भी घूमा करती है। बहुत सी स्त्रियाँ धर्मोत्तेजना से स्वयं पहिये के सामने कुचल मरने के लिए कूद पड़ती हैं—ऐसा करने से वह समझती हैं कि उनका देवता प्रसन्न होगा तथा अन्य स्त्रियाँ अपने पक्ष में छेद करके शरीर में से रस्सा आरपार कर देती हैं तथा रथ के सामने उसे सुशोभित करने के लिए अर्द्धमूर्च्छितावस्था में लटकी हुई आराध्य देव का साथ देती हैं। इस प्रकार के बलिदान को वह सर्वोत्तम तथा अत्यधिक स्वीकार्य समझती हैं।

"वर्ष में तीन बार वे एक विशेष धर्मोत्सव मनाते हैं। इनमें से एक अवसर पर सभी अवस्थाओं के पुरुष एवं स्त्रियाँ नदियों या समुद्र में स्नान करके नये वस्त्र पहनते तथा पूरे तीन दिन संगीत, नृत्य एवं भोज आदि में व्यतीत करते हैं। इन उत्सवों में से एक अवसर पर वे अपने मन्दिरों की बाहरी छत के

ऊपर सरसों के तेल के अगणित दीप जलाते हैं, जो रात तथा दिन जलते रहते हैं। तीसरे अवसर पर जो नौ दिन तक जलता है, वे सभी राजमार्गों पर, छोटे पोत के मस्तूल की भाँति, बड़े बड़े लट्ठे सुसज्जित करते हैं जिनका ऊपरी भाग विभिन्न वस्त्रों तथा सोने से बुने हुए टुकड़ों से आभूषित रहता है। इनमें से प्रत्येक लट्ठे के शिखर पर प्रति दिन एक धार्मिक आदमी बिठाया जाता है, जो स्थिर चित्त से देवता की स्तुति करता है। इन मनुष्यों पर लोग आक्रमण करते तथा उन्हें नाशपातीं, नीबू और अन्य सुगंधित फलों से मारते हैं। इन सभी आघातों को वे धैर्य-पूर्वक सहन करते हैं। तीन और उत्सव मनाये जाते हैं, जिनमें वे पड़िकों तथा राजा रानी पर भी, सड़कों के दोनों ओर रक्खे हुए केसर-जल को छिड़कते हैं। इस पर सभी लोग प्रसन्न होते तथा हँसते हैं।"

अब्दुर्रज्जाक का विजयनगर-वर्णन—निकोलो काउण्टी के २० वर्ष पश्चात् फारस के राजदूत अब्दुर्रज्जाक ने १४४२ ई० में विजयनगर का अवलोकन किया। वह इस प्रसिद्ध नगर में १४४३ ई० के अप्रैल मास के प्रारंभ तक ठहरा। वह नगर तथा वहाँ के राय का विस्तृत वर्णन करता है तथा उसके निरीक्षण इस प्रकार है:—

राय—"एक दिन मुझे बुलाने के लिए राजदूत आये, और संध्या समय में मैं राज-सभा में पहुँचा तथा मैंने पाँच सुन्दर घोड़े और बूटेदार कपड़े एवं साटनयुक्त दो थाल राजा को भेंट दिये। चालीस स्तम्भों पर निर्मित विशाल कमरे में राजा विभूतिमान् मुद्रा में बैठा हुआ था तथा ब्राह्मणों की बड़ी भीड़ कुछ उसके दायें तथा कुछ बायें खड़ी थी। वह जैतून साटन का राज-वस्त्र पहने हुए था और उसके कण्ठ के चारों ओर राज प्रभुता-सूचक शुद्ध मोतियों की माला थी जिसका मूल्यांकन रत्नाकर भी नहीं कर सकता था। उसका रंग साँवला और शरीर सूक्ष्म किन्तु लम्बा था। वह अभी अत्यंत तरुण था, क्योंकि उसके गालों पर कुछ बाल की रेखाएँ आ रही थीं। उसकी सम्पूर्ण आकृति बड़ी आकर्षक थी . . .। मुझे प्रति दिन दो भेड़ें, चार जोड़े पक्षी, पाँच मन चावल, एक मन घी, एक मन चीनी तथा दो वाराह सोना भेजा जाता था। यह क्रिया प्रति दिन चलती रही। सप्ताह में दो बार मैं राज-सभा में बुलाया जाता था, संध्या समय मैं राजा के सामने

उपस्थित होता तथा राजा मुझसे खाकाने सईद के विषय में बहुत से प्रश्न करता और पान की एक गठरी, फनाम का बटुआ तथा कपूर का मिसकल देता था।

नगर—"विजयनगर ऐसा नगर है कि इसकी समता करनेवाला, संपूर्ण भूमण्डल में, कोई अन्य स्थान न आँख ने देखा, न कान ने सुना। यह इस प्रकार बना है कि सात दुर्ग-रक्षक दीवालें एक दूसरे के भीतर निर्मित हैं। बाहरी दीवाल के घेरे के उस पार ५० गज तक एक समभूमि है जो मनुष्य की उँचाई तक पत्थरों से बनी है; आधा भाग दृढ़ता से पृथ्वी के नीचे गड़ा है तथा आधा उसके ऊपर है ताकि पैदल या घुड़सवार चाहे वह कितना ही वीर हो, सरलतापूर्वक बाहरी दीवार तक न पहुँच सके।

बाजार और कार्यालय—प्रत्येक श्रेणी के तथा प्रत्येक व्यवसाय के मनुष्यों की दुकानें एक दूसरे के समीप हैं। रत्नाकर खुले बाजार में मोती, लाल, मणि, पन्ना तथा हीरा बेचते हैं। इस सुहावने स्थान तथा राजमहल में साफ-सुथरी आकृति के रत्न के सोते तथा नहरें कोई भी देख सकता है।

"सुल्तान के बरामदे के बाईं ओर विशाल एवं राज-भवन सदृश दीवान-खाना (विचारालय) है। इसके सामने मनुष्य की उँचाई के बराबर ऊँचा तथा तीस गज लम्बा और दस गज चौड़ा एक कमरा है। इसमें दफ्तरखाना (ग्रंथ रक्षागृह) है और यहाँ लेखक बैठते हैं। इस राज-भवन के मध्य में एक ऊँचे चबूतरे पर एक खण्ड है जिसे दैअंग (Daiang) कहते हैं तथा जिस पर दीवान बैठता है। कमरे के अन्तिम भाग में चोबदार पंक्ति में खड़े होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति,जो किसी कार्य से आता है, चोबदारों के बीच से होता हुआ आगे बढ़ता, कुछ भेंट देता तथा अपना मस्तक भूमि पर टेक देता है, तब उठकर अपना प्रयोजन जिसके लिए वह आया है, वर्णन करता है और दैअंग राज्य में प्रचलित न्याय-सिद्धांतानुकूल उस पर अपने विचार प्रकट करता है, तत्पश्चात् पुनः प्रार्थना करने का किसी को अधिकार नहीं है।"

नया राजवंश—संभवतः १४४९ ई० में देवराय द्वितीय की मृत्यु हो गई तथा उसके दो पुत्र एक दूसरे के उपरान्त सिंहासनारूढ़ हुए। किन्तु इतने

बड़े साम्राज्य का प्रबन्ध करने में दोनों अयोग्य सिद्ध हुए। करनाटक और तेलिंगाना के शक्तिशाली रईस सालुवा नरसिंह ने सिंहासन छीन लिया। यह प्रथम अपहरण था। सालुवा नरसिंह की भी शक्ति स्थायी न रह सकी। उसके उत्तराधिकारी ने तालुवा वंश के नरेशनायक नामक अपने उग्र सेनानायक के लिए स्थान रिक्त कर दिया, जिसने नये राज-वंश की स्थापना की। इस वंश का सर्वप्रथम राजा कृष्णदेव राय था।

कृष्णदेव राय का चरित्र तथा व्यक्तित्व—कहा जाता है कि कृष्णदेव राय १५०९ ई० में विजयनगर के सिंहासन पर बैठा। उसकी अधीनता में विजयनगर महानता एवं वैभव के शिखर पर पहुँच गया। वह दक्षिण के मुसलमानों से बराबर लड़ा तथा उसने अपने पूर्वाधिकारियों का प्रतिशोध लिया। वह योग्य एवं विद्वान् शासक था। पायेस ने उसे स्वयं देखा था तथा उसका वर्णन इस प्रकार किया है :—

"राजा की उँचाई मध्यम, उसका मुख सुन्दर तथा शरीर स्थूल है; उसके मुख पर शीतला के चिह्न हैं। वह तेजस्वी तथा पूर्ण राजा है तथा उसकी प्रवृत्ति प्रसन्न एवं हँसमुख है; वह विदेशियों का सम्मान करता है तथा उनकी स्थिति का ज्ञान करता हुआ उन्हें दयापूर्वक स्वागत-भाजन बनाता है। वह महान् शासक तथा न्यायप्रिय व्यक्ति है; किन्तु साथ ही भीषण क्रोध-ज्वाला से उबल पड़ता है।

इस युग का इतिहास रक्तरंजित युद्धों का स्मृति-पत्र है। दक्षिण के महान् सम्राटों में हिन्दू या मुसलमान कोई भी शासक ऐसा नहीं है जो कृष्णदेव राय की समता कर सके। स्वयं वैष्णव होने पर भी उसने प्रजा को किसी भी प्रकार की उपासना करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे रक्खी थी। वह विदेशियों के प्रति दयालु एवं आतिथ्यकारी था। वे उसकी उदारता, सुखप्रद आकृति तथा उत्कृष्ट संस्कृति की बड़ी प्रशंसा करते ह। वह प्रतिभाशाली वक्ता था तथा शिलालेखों से यह प्रमाणित होता है कि वह संस्कृति तथा तेलगू साहित्य का महान् संरक्षक था। उसकी राज-सभा में आठ प्रतिष्ठित कवि थे, जो अष्टदिग्गज कहे जाते थे। उसकी सैनिक शूरता में भी कमी नहीं थी। उसने अपनी व्यवस्था, शक्ति तथा शूरता का अनेक बार परिचय दिया। निर्भीक एवं प्रसिद्ध युद्ध-

नायक, कृष्णदेव राय उदाराशय व्यक्ति था तथा उसने मन्दिरों एवं ब्राह्मणों को असीम दान प्रदान किया। सब पक्षों पर विचार करने पर निष्कर्ष यही निकलता है कि दक्षिणी भारत के अत्यन्त अद्भुत शासकों में से वह एक था।

युद्ध तथा विजय—कृष्णदेव राय की विजय चारों ओर फैल गई। उसने उड़ीसा के राय को पराजित करके राज-परिवार की राजकुमारी से विवाह कर लिया। किन्तु १५२० ई० में बीजापुर के आदिलशाह की पराजय उसका अधिक महत्त्वपूर्ण एवं पराक्रमशील कार्य था। मुस्लिम शिविर लूट लिया गया तथा असामान्य धन हिन्दुओं के हाथ लगा। आदिलशाह का गौरव इतना छिन्न-भिन्न हो गया कि कुछ काल के लिए दक्षिण में उसने अगली विजय पर विचार करना ही बन्द कर दिया तथा अपना ध्यान एक नये एवं सुनिश्चित युद्ध के साधनों को व्यवस्थित करने में केन्द्रित किया। हिन्दुओं का व्यवहार इतना अहंकारपूर्ण हुआ कि मुस्लिम शक्तियों को उससे बहुत धक्का लगा तथा सम्पूर्ण दक्षिणी मुसलमानों में उसके प्रति सार्वजनिक घृणा उत्पन्न हो गई।

साम्राज्य का विस्तार—कृष्णदेव राय की विजय से साम्राज्य का विस्तार पूर्णरूप से बढ़ गया। वह वर्तमान मद्रास प्रदेश तथा मैसूर और कुछ अन्य दक्षिणी राज्यों तक फैला हुआ था। वह पूर्व में कटक, पश्चिम में सालसेट तथा दक्षिण में प्रायद्वीप के अन्तिम छोर तक पहुँच चुका था। साम्राज्य-विस्तार तथा उसके महान् साधनों से दक्खिन के मुसलमान शासकों को बड़ी चिन्ता थी तथा वे सर्वथा युद्ध के लिए प्रस्तुत रहते थे और चाहते थे कि उसकी शक्ति को समूल नष्ट कर दें अथवा उसके गौरव को पतनावस्था में पहुँचा दें।

समय का परिवर्तन—कृष्णदेव राय की मृत्यु के बाद पतन होने लगा। भूतपूर्व राजा का भाई अच्युत देव गद्दी पर बैठा; परन्तु अपनी अयोग्यता के कारण पड़ोसी ईर्ष्यालु शत्रुओं से राज्य की रक्षा करने में सर्वथा अयोग्य सिद्ध हुआ। बीजापुर के सुलतान ने रायचूर और मुगदल के दुर्गों पर अधिकार कर लिया तथा इस प्रकार राय की अवहेलना की। १५४१ ई० में अच्युत का देहान्त हो गया। उसके स्वर्गीय भाई का पुत्र सदाशिव राय गद्दी पर बैठा; किन्तु वह नाममात्र का शासक था, इसलिए शासन-सूत्र कृष्णदेव राय के मन्त्री

सालुवा तिम्मा के पुत्र रामराजा सालुआ के हाथ में रहा। रामराजा योग्य व्यक्ति था किन्तु उसके घमण्ड तथा अहंकार के कारण उसके मित्र एवं विरोधी दोनों खिन्न हो गये। अहमदनगर और गोलकुण्डा की सहायता से १५४३ ई० में उसने बीजापुर के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी किन्तु अली आदिलशाह के मन्त्री आसद खाँ के राजनीति-नैपुण्य से वह सुरक्षित रहा, तदनन्तर आसद खाँ ने राय को मंघ से अलग करके बुरहान से सन्धि कर ली। किन्तु एक नवीन परिवर्तन हुआ जब १५५७ ई० में बीजापुर, गोलकुण्डा तथा विजयनगर ने अहमदनगर पर आक्रमण करने की संगठित योजना बनाई। हिन्दुओं ने सम्पूर्ण देश को उजाड़ कर दिया और फिरिश्ता लिखता है :—

"विजयनगर के काफिरों ने जो चिरकाल से ऐसी घटना की प्रतीक्षा में थे, अपनी सभी क्रूरता का व्यवहार किया; उन्होंने मुसलमान महिलाओं के सम्मान का तिरस्कार किया; मसजिदें नष्ट कर दीं तथा कुरान का भी अनादर किया।" हिन्दुओं के इस निर्दय व्यवहार से मुस्लिम भावना दूषित हो गई तथा मित्रराष्ट्रों ने भी सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। उन्होंने हिन्दू राज्य को नष्ट कर देने का निश्चय किया तथा पारस्परिक विभेदों का परित्याग करके विजय-नगर के विरुद्ध विशाल संगठन किया। १५६४ ई० में बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुण्डा तथा बिदार एक हो गये; किन्तु बरार संघ से अलग रहा।

तालीकोट का युद्ध (१५६५ ई०)——२५ दिसम्बर, १५६४ ई० में मित्र-राज्यों ने दक्षिण की ओर प्रस्थान आरम्भ किया तथा कृष्णा के तट पर स्थित तालीकोट नगर के समीप मिले। घमण्डी राय ने विपक्षियों की तैयारी पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। उनके दूतों को उसने अपशब्द सुनाया तथा सन्धि की प्रत्येक बातें ठुकरा दीं। सब ओर से कृष्णा के मार्ग की रक्षा के लिए उसने अपने सबसे छोटे भाई को २०,००० अश्वारोही, १,००,००० पैदल तथा ५०० हाथियों के साथ भेजा और अपने दूसरे भाई को एक अन्य सेना के साथ प्रस्थान कराया। शेष सेना का स्वयं नेतृत्व करता हुआ वह युद्ध-क्षेत्र की ओर बढ़ा। शत्रु भी जीवन-मरण की समस्या लेकर भली भाँति एकत्र हो गये थे। युद्ध आरम्भ हुआ। प्रारम्भ में हिन्दू विजयी होते हुए दीख पड़े; किन्तु मित्र-राष्ट्रों के तोपखाने ने ताँबे के सिक्कों से भरे हुए थैलों को उन पर उगल कर

आकस्मिक परिवर्तन कर दिया। परिणामस्वरूप थोड़े ही समय में ५,००० हिन्दू मार डाले गये। इसके साथ ही पैदल सेना ने भी धावा कर दिया। रामराजा पकड़ लिया गया तथा हुसैन निजामशाह ने, "मैं तुमसे अब संतुष्ट हूँ। खुदा चाहे जो मेरा करे" आदि शब्दों के साथ उसका मस्तक उड़ा दिया। सेना तुरंत ही अधिकृत कर ली गई। युद्ध समाप्त हुआ तथा हिन्दुओं में कोलाहल मच गया। प्रायः एक लाख कत्ल कर डाले गये तथा अतुल धन मुसलमानों के हाथ लगा। तत्पश्चात् मित्रों ने दुःखाक्रान्त विजयनगर की ओर प्रस्थान किया। उसका सम्पूर्ण वैभव लूट लिया गया तथा निवासियों को कत्ल कर दिया गया। मुसलमानों के हाथों से विजयनगर की जनता को जिन आपत्तियों का सामना करना पड़ा, उसका वर्णन शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता।

स्वेल (Sewell) ने उस दृश्य का वर्णन इस प्रकार किया है—"तीसरे दिन युद्ध समाप्त हुआ। विश्राम के हेतु विजयी मुसलमान युद्ध-भूमि में ठहरे थे; किन्तु अब वे राजधानी में पहुँच चुके थे और इस समय से अग्रिम पाँच मास तक विजयनगर-निवासियों को शान्ति न मिली। शत्रु उन्हें नष्ट करने आया था तथा निर्दयतापूर्वक उनकी सभी सामग्रियाँ उठा ले गया। उन्होंने नृशंसता-पूर्वक मनुष्यों का वध किया; मन्दिरों को गिराया तथा राजभवन को इस प्रकार नष्ट कर डाला कि कुछ विशाल पाषाण-निर्मित मन्दिरों तथा भित्तियों के अतिरिक्त कुछ शेष न रहा। केवल खण्डहर पड़ा हुआ है जिससे उस स्थान पर विशाल भवन के अस्तित्व का अनुमान लगाया जा सकता है। उन्होंने मूर्तियों को खण्डित कर दिया तथा विशाल नरसिंह-स्तम्भ के अंगच्छेदन में भी सफलता प्राप्त की। कोई वस्तु उनसे बच न सकी। एक विशाल मंच पर निर्मित मण्डप, जहाँ से राजा उत्सव एवं प्रदर्शन देखा करते थे, तोड़ डाला गया तथा सभी नक्काशी के कार्य नष्ट कर दिये गये। नदी के निकट विभूतिमान् विट्ठलस्वामी के मन्दिर में उन्होंने आग लगा दी तथा उसकी सुन्दर मूर्ति-निर्माण-कला का सर्वनाश कर दिया। आग तथा तलवार से और रम्भे तथा कुल्हाड़ियों से दिन-प्रति-दिन वे सर्वनाश-कार्य में लगे रहे। विश्व-इतिहास में ऐसा विनाश कदाचित् कभी नहीं देखने में आया, जैसा कि अचानक धन-धान्य, धर्म, परिश्रम-

शील जनसमूह से भरे हुए एवं वैभव के उच्चतम शिखर पर स्थित इस नगर में देखने में आया। तत्पश्चात् अमानुषिक हत्याकाण्ड के होने पर भी वह लूटा गया तथा उजाड़ दिया गया और उसे सर्वनाश की चरम सीमा पर पहुँचा कर ही शत्रुओं ने दम लिया।

तालीकोट के युद्ध का प्रभाव--तालीकोट का युद्ध भारत के निर्णयात्मक युद्धों में से है। इससे दक्षिण के महान् हिन्दू साम्राज्य का अन्त हो गया। इसके पतन से राज-विप्लव तथा कुशासन व्याप्त हो गया और भयंकर शत्रु के ह्रास पर गर्वित मुसलमानों की शक्ति का भी क्रमशः ह्रास होने लगा। विजयनगर का भय उनके लिए गुप्त आशीर्वाद था। उसके कारण वे सतर्क एवं कर्मण्य रहते थे। किन्तु ज्यों ही यह भय जाता रहा त्यों ही वे परस्पर लड़ने लगे। परिणाम यह हुआ कि वे उतर के मुगल सम्राटों के शिकार बन गये।

नया राजवंश--रामराजा के पतन के अनन्तर उसका भाई तिरुमल सदाशिव की ओर से राज्य-कार्य संचालित करने लगा; किन्तु उसने १५७० ईसवी के लगभग राज्यसिंहासन छीनकर नया राजवंश स्थापित किया। १५८६ ई० के निकट वेंकट प्रथम, तिरुमल के द्वितीय पुत्र रंगा द्वितीय के उपरान्त गद्दी पर बैठा। राजवंश का यह सर्वप्रधान नरेश था तथा योग्य और चरित्रवान् होने के कारण यह कवियों और विद्वान् पुरुषों का सम्मान करता था। वेंकट के उत्तराधिकारी शक्तिहीन थे तथा पैतृक राज्य की सकुशल रक्षा करने में असमर्थ थे; इनके शासन-काल में राजवंश का पतन हो गया। साम्राज्य के अधिकांश भाग पर मुसलमानों ने अधिकार कर लिया तथा मदुरा और तंजौर के नायकों ने साम्राज्य के कुछ भागों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

राज्य-प्रबन्ध--साम्राज्य में जागीरदारी प्रथा प्रचलित थी। राजा ने सम्पूर्ण प्रबन्ध-कार्यों पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर रक्खा था। उसकी एक सभा सहायता करती थी जिसमें मन्त्री, प्रान्तीय शासक, सैनिक सेनापति पुरोहित वर्ग के व्यक्ति तथा कवि थे, किन्तु शासन पूर्णतया केन्द्रीय था। राज-की शक्ति असीम थी। वह नागरिक प्रबन्ध का निरीक्षण करता, साम्राज्य के सैनिक कार्यों का संचालन करता तथा अपने पास आये हुए अभियोगों के निर्णय में न्यायाधीश का कार्य करता था। प्रधान मन्त्री, मुख्य कोषाध्यक्ष,

राजकीय-रत्न-रक्षक तथा नगर-रक्षकों का नायक, राज्य के प्रधान अधिकारी थे तथा छोटे राज्यामात्यों द्वारा उन्हें सहायता मिलती थी। प्रधान मन्त्री सभी आवश्यक विषयों पर राजा को मन्त्रणा देने का विशेषाधिकारी था। नगर-रक्षक-दल के नायक पर नगर में शान्ति तथा व्यवस्था स्थापन का उत्तरदायित्व था। विजयनगर के राजाओं ने अपनी राज-सभा की कीर्ति जीवित रखने के हेतु बहुत-सा रुपया व्यय किया। उसमें प्रतिष्ठित व्यक्ति, विद्वान् पुरोहित, ज्योतिषी तथा संगीतज्ञ उपस्थित होते थे और उत्सवों के समय आतिशबाजी का प्रदर्शन होता था और विविध प्रकार के अन्य मनोविनोद के साधनों का आयोजन किया जाता था। स्थानीय शासन-प्रबन्ध सुव्यवस्थित था। साम्राज्य २०० से अधिक प्रान्तों में विभाजित था तथा प्रान्त "नादूस" और "कोट्टाम" में, और नादूस और कोट्टाम गाँवों और नगरों के छोटे-छोटे समूहों में विभाजित थे। प्रत्येक प्रान्त के निरीक्षण के लिए एक प्रतिनिधि नियुक्त किया जाता था, जो राज-परिवार का कोई पुरुष अथवा राज्य के प्रतिष्ठित व्यक्ति में से होता था। प्रान्त साम्राज्य का केवल प्रतिरूप था। प्रान्त-प्रतिनिधि की अपनी निजी सेना होती थी, उसका स्वतन्त्र न्यायालय था तथा अपने अधिकार-क्षेत्र के भीतर वह निरंकुश शासक की भाँति कार्य करता था। किन्तु अपने कार्य का उसे राजा को विवरण देना पड़ता था तथा युद्ध-काल में सैनिक सहायता देना उसके लिए अनिवार्य था। यद्यपि प्रान्तीय प्रतिनिधियों का शासन-काल अनिश्चित था, फिर भी अपनी अवधि तक अपने समय का वे पूर्ण उपयोग करते थे।

स्थानीय शासन का विस्तार गाँवों तक था। गाँव जैसा कि अनादि काल से चला आया है, शासन-प्रबन्ध का एक भाग था। गाँव की प्रमुख मण्डली 'आयगर' नामक परम्परागत अधिकारियों द्वारा गाँव का प्रबन्ध करती थी। उनमें से कुछ छोटे-छोटे झगड़ों का निपटारा करते, कुछ राज्य-कर प्राप्त करते थे। ग्रामीण मण्डली बड़ा कार्य कर डालती थी। उन्होंने साम्राज्यवादी शासन का सम्पर्क प्रजा के साथ रक्खा।

विजयनगर के राजा की आय बहुत थी। प्रधान साधन भूमि-कर था। पुर्तगाली लेखक नुनीज लिखता है कि सेनापति राजा से भूमि लेकर किसानों

को दे देते थे और वे पैदावार का $\frac{९}{१०}$ अपने राज्य को देते थे। यह केवल अतिशयोक्ति प्रतीत होती है, क्योंकि किसान अपनी पैदावार के $\frac{१}{१०}$ पर कदापि अपना जीवन यापन नहीं कर सकते थे। भूमि-कर के अतिरिक्त राज्य ने अन्य कर भी लगा रक्खे थे जिनसे राज्य की आय बढ़ती थी। वेश्याओं पर भी कर लगाया जाता था। इससे जो आमदनी होती थी, वह नगर-रक्षक-दल की व्यवस्था में खर्च की जाती थी।

सैनिक संगठन भी जागीरदारी प्रथा पर व्यवस्थित था। राजा की व्यक्तिगत सेना के अतिरिक्त प्रान्तीय शासक युद्धकाल में अपनी सेनाएँ भेजते थे और हर प्रकार की सहायता राज्य को देते थे। विजयनगर की सेना की अंकगणना में इतिहासकारों में परस्पर मत-भेद है। एक पक्ष के अनुसार १५२० में कृष्णदेव राय की अधीनता में ७,०३,६६० पैदल, ३२,६०० घुड़सवार और ५५१ हाथी तथा बहुत बड़ी संख्या में सुरंगाकार और शिविर-रक्षक थे। यह संख्या बढ़ा-चढ़ाकर अनुमान की गई है तथा यह पूर्ण असंभव है कि राय की इतनी बड़ी सेना रही होगी। सैनिक व्यवस्था मध्ययुग की अन्य हिन्दूसेना की भाँति थी। उसमें हाथी, अश्वारोही तथा पैदल थे; किन्तु युद्ध-कला में वह उत्तर की मुसलमान सेना से दुर्बल तथा निम्न कोटि की थी। वे भली भाँति व्यवस्थित एवं सुशिक्षित नहीं थे। उन्हें हाथियों पर विशेष भरोसा था किन्तु सुशिक्षित मुसलमान अश्वारोहियों तथा कुशल धनुर्धारियों के सम्मुख वे पूर्णतः निःशक्त हो जाते थे।

अधिकारीगण अपनी इच्छानुसार अनियमित तथा मनमाने ढंग से निर्णय करते थे। प्रार्थना-पत्र राजा अथवा प्रधान मन्त्री को दिये जाते थे। नागरिक अभियोगों का निर्णय, हिन्दू-धर्म विहित नियमों का लौकिक प्रथा के अनुसार होता था। अपराध सम्बन्धी अभियोग का विधान कठोर एवं निर्दय था। अर्थ-दण्ड लगाये जाते तथा बहुधा दारुण यातना दी जाती थी। चोरी, व्यभिचार तथा राजविद्रोह के लिए मृत्यु-दण्ड अथवा अंग भंग का निर्देश था। पुरोहितवर्ग कठोर दण्ड से बचा था।

सामाजिक दशा—राजसभा की विभूति तथा साधारण जनता के भग्नप्राय एवं दरिद्र जीवन में महान् अन्तर था। विदेशी यात्रियों ने, राजधानी

में राजकीय प्रदर्शनों तथा उत्सवों की विभूति तथा प्रतिष्ठित पुरुषों के वैभव एवं विलासिता का विशद वर्णन किया है। द्वन्द्वयुद्ध आपसी झगड़ा निपटाने के लिए बहुधा किया जाता था। सती-प्रथा का प्रचलन था और ब्राह्मण निर्भीकता से इस प्रकार के आत्म-बलिदान की प्रशंसा करते थे। किन्तु राजधानी में स्त्रियों की दशा संतोषप्रद थी। स्त्रियाँ पहलवान थीं, ज्योतिष-विद्या जानती थीं और भविष्य का हाल बतलाती थीं। इनके अतिरिक्त राज-भवन-द्वार के भीतर राज-परिवार का विवरण रखने के लिए एक महकमा था जिसमें स्त्रियाँ ही लेखक (क्लर्क) थीं। इससे स्पष्ट होता है कि स्त्रियों को शिक्षा मिलती थी और उन्हें राज्यकार्य का बड़ा अनुभव था। भोजन तथा खान-पान के विषय में बड़ी शिथिलता व्याप्त थी। यद्यपि ब्राह्मण किसी जीवधारी प्राणी का न तो वध करते थे न भक्षण करते थे; . किन्तु सर्वसाधारण में हर प्रकार के मांस-भक्षण का प्रचार था। बैल और गाय के मांस-भक्षण का कठोर निषेध था, यहाँ तक कि राजा लोग भी भली भाँति इस नियम का पालन करते थे। प्रत्येक पशु जीवित ही बाजार में बेचा जाता था।

ब्राह्मणों का बड़ा सम्मान था। नुनीज लिखता है कि वे विश्वसनीय, सत्यवादी, बुद्धिमान् तथा सुन्दर थे; परन्तु कठिन परिश्रम करने के अयोग्य, थे। रक्तबलिदान साधारणतया प्रचलित था। राजधानी का धन विलासिता में व्यय होता था, जिसके परिणामस्वरूप बहुत से दोष उत्पन्न हो गये थे।

पच्चीसवाँ अध्याय

सैयद और लोदी वंश

खिज्र खाँ (१४१४-२१ ई०)--तैमूर के आक्रमण के बाद सन् १४१४ ई० में दौलत खाँ को पराजित करके खिज्र खाँ ने राजधानी पर अधिकार कर लिया। उसके सामने अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न दिल्ली में तथा प्रान्तों में शान्ति स्थापित करना था। उसके वजीर ताजुलमुल्क ने कटेहार के जिले में पहुँचकर देश को लूट लिया।

राय हरसिंह सामना किये बिना ही भाग गया, किन्तु राज्य-सेना ने उसका पीछा करके उसे आत्म-समर्पण करने पर विवश किया। खोर, कम्पिल सकीट, ग्वालियर, सिओरी और चन्दवार के जमींदारों ने भी अधीनता स्वीकार की तथा कर चुकाया। चन्दवार के हिन्दू नायक से जलेसर छीन लिया गया और उससे पहले के मुस्लिम अधिकारियों को वह दे दिया गया। दोआब, बियाना और ग्वालियर में बारम्बार विद्रोह हुआ किन्तु व्यवस्था स्थापित की गई तथा नायकों को दिल्ली की शक्ति के अन्तर्गत रहने पर विवश किया गया।

दोआब में व्यवस्था स्थापित करके खिज्र खाँ ने उत्तर सीमान्त की ओर ध्यान दिया। सरहिन्द में तुर्कियों के विद्रोह का दमन कर दिया गया। दोआब में पुनः अशांति फैली, किन्तु झगड़ा उत्पन्न करनेवाले प्रमुख जमींदार दबा दिये गये। मेवाती भी कुचले गये। सुलतान स्वयं ग्वालियर और इटावा के नायकों की ओर बढ़ा तथा उन्हें अपने अधीन किया। दिल्ली लौट आने पर खिज्र खाँ बीमार पड़ा और २० मई, १४२१ ई० में परलोकवासी हुआ।

खिज्र खाँ ने अपना जीवन एक धार्मिक सैय्यद की भाँति व्यतीत किया। उसने क्रूरतापूर्वक कभी रक्तपात नहीं कराया और न अपनी शक्ति बढ़ाने अथवा शत्रुओं से बदला लेने के अभिप्राय से किसी निर्दयतापूर्ण कार्य को करने की आज्ञा ही दी। यदि राजप्रबन्ध ठीक नहीं था तो इसके लिए वह अपराधी नहीं

हैं। उस समय की अव्यवस्था ने उसे विश्राम न लेने दिया, उसका सम्पूर्ण जीवन अपनी राज्य-शक्ति की रक्षा में व्यतीत हुआ। फिरिश्ता उसकी इन शब्दों में बड़ी प्रशंसा करता है--"खिज्र खाँ एक महान्, बुद्धिमान् तथा अपने वचन का पालन करनेवाला बादशाह था। उसकी प्रजा कृतज्ञतापूर्वक उससे प्रेम करती थी, यहाँ तक कि छोटे-बड़े, सेवक तथा स्वामी सभी ने उसकी मृत्यु पर काला वस्त्र धारण किया। वे तीसरे दिन तक उसकी मृत्यु के लिए रोते रहे। उसका बेटा मुबारक शाह उसके स्थान में सिंहासनारूढ़ हुआ।"

मुबारक शाह (१४२१-३४ ई०)--खिज्र खाँ का पुत्र मुबारक गद्दी पर बैठा। उसने रईसों को बड़े पदों पर नियुक्त कर उनकी कृपा पाई। इस काल की सबसे अद्भुत ऐतिहासिक घटना, राजविद्रोह है जो देश के कोने कोने में फैला हुआ था। पहले की भाँति पुनः जमींदारों ने दोआब में विद्रोह किया और १४२३ ई० में सुलतान ने कर वसूल करने के लिए कटेहर की ओर प्रस्थान किया। कम्पिल और इटावा के राठौर राजपूत पुन: अधीन किये गये तथा राय सरवर के पुत्र ने अधीनता स्वीकार कर शेष कर चुकाया।

उसके शासन काल के मुख्य राजविद्रोह दो थे--(१) १४२८ ई० में जसरथ खोरवर का तथा (२) सरहिन्द के निकट पौलाद तुर्क बच्चा का। खोरवर नायक बुरी तरह पराजित होकर शरणार्थ पहाड़ों में भाग गया। पौलाद अधिक शक्तिशाली था। उसने एक वर्ष से अधिक काल तक दृढ़तापूर्वक सामना किया। अनवरत एवं दीर्घकालीन युद्ध के अनन्तर वह पराजित हुआ और १४३३ ई० के नवम्बर में मार डाला गया।

शासन-प्रबन्ध अधिक उपयुक्त बनाने के लिए, सुलतान ने राज्य के उच्च पदों का वितरण करके कुछ परिवर्तन किये। इससे राज्य के कुछ भद्र जनों को धक्का लगा और उन्होंने सुलतान को कत्ल करने के लिए षड्यन्त्र रचा। जब सुलतान २० फरवरी, १४३४ ई० को, नवीन नगर मुबारकाबाद, जिसे वह बसा रहा था, देखने गया तो षड्यन्त्रकारियों की तलवार से आहत होकर पृथ्वी पर गिरा और मर गया।

मुबारक दयालु राजा था। समकालीन इतिहासकार इन शब्दों में उसका वर्णन करता है--'महान् गुण सम्पन्न, दयालु एवं उदार बादशाह।

बहलोल लोदी का सिंहासन पर अधिकार—मुबारक के बाद कई शक्तिहीन शासक गद्दी पर बैठे किन्तु उस समय की बढ़ती हुई दुर्व्यवस्था का सामना करने में सभी असमर्थ सिद्ध हुए। १४४५ ई० में सिंहासन पर बैठते ही, अलाउद्दीन आलम शाह अपनी राज-सभा बदायूँ ले गया, और अवसर पाते ही, लाहौर और सरहिन्द के शासक तथा शक्तिशाली विपक्षी और दल-नायक बहलोल ने राज-प्रभुता पर अधिकार कर लिया। आलम शाह का नाम खुतबा से निकाल दिया गया। खुले आम बहलोल दिल्ली का बादशाह घोषित किया गया। आलम शाह बदायूँ में रहने लगा और वहीं १४७८ ई० में उसका देहान्त हो गया। इस प्रकार सैय्यद वंश का अन्त हुआ।

बहलोल लोदी—सिंहासन प्राप्त करके बहलोल ने, अपने मन्त्री का विश्वास प्राप्त करने के लिए विनम्रता धारण करने की बनावट की। सर्वप्रथम उसका व्यवहार उसके प्रति अत्यन्त सम्माननीय था; किन्तु शीघ्र ही उसे उसकी शक्ति तथा प्रभाव से ईर्ष्या हो गई। अपना मार्ग निष्कण्टक करने के लिए बहलोल ने उसे बन्द करके जेल में डलवा दिया।

यद्यपि बहलोल का नाम खुतबा में पढ़ा जाता था किन्तु बहुत से असंतुष्ट व्यक्ति थे जो उसकी उपाधि को राजकीय-शक्ति-सूचक और प्रमाणित नहीं स्वीकार करते थे। जब सुलतान ने उत्तर-पश्चिम के प्रान्तों को व्यवस्थित करने के लिए सरहिन्द की ओर प्रस्थान किया तो उन्होंने महमूद शाह शर्की को दिल्ली पर आक्रमण करने के लिए निमन्त्रित किया। महमूद बड़ी सेना लेकर चला और उसने दिल्ली पर घेरा डाल दिया। इस आपत्ति का समाचार पाकर बहलोल शीघ्र पीछे लौटा और महमूद जौनपुर भाग गया।

प्रान्तों को कम करना—शर्की राजा पर विजयी हो जाने से उसका प्रभाव मित्र तथा शत्रुओं पर समान रूप से पड़ा। इस विजय से राज्य में राज-शक्ति दृढ़ हो गई तथा नये राजवंश के छिद्रान्वेषी चुप हो गये। बाहर भी इसका अच्छा प्रभाव पड़ा; प्रांतीय जागीरदार तथा प्रधान नायक जो स्थानीय स्वराज्य का उपयोग कर रहे थे, उसकी अधीनता में भयपूर्वक रहने लगे। सुलतान ने मेवात की ओर प्रस्थान किया। अहमद खाँ ने उसका स्वागत किया, किन्तु सुलतान ने उससे सात परगने छीन लिये। सम्भल का

शासक जिसने गत युद्ध में सुलतान के विरुद्ध भाग लिया था, राजद्रोह करने पर भी, उसका कृपा-पात्र बना रहा। दण्डस्वरूप उसे केवल सात परगने देने पड़े। ईसा खाँ को उसका अखण्ड अधिकार दे दिया गया और सकीट के शासक मुबारक खाँ के साथ भी समान व्यवहार किया गया। राजा प्रताप-सिंह को मैनपुरी और भौगाँव के जिले पुनः दे दिये गये। दोआब में इटावा, चन्दवार तथा अन्य जिले जिन्होंने गत उपद्रव किये थे, व्यवस्थित करके दिल्ली की अधीनता में लाये गये।

जौनपुर से युद्ध---दोआब के विद्रोही शासकों का दमन कर दिया गया था किन्तु अभी बहलोल को आपत्तियों से छुटकारा न मिल सका था। जौनपुर का राजा उसका भयानक शत्रु था। अपनी पत्नी के प्रोत्साहन से महमूद शाह शर्की ने दिल्ली पर अधिकार स्थापित करने का दूसरा प्रयत्न किया, किन्तु कुछ प्रतिष्ठित महानुभावों की मध्यस्थता से सन्धि हो गई।

सन्धि की प्रतिज्ञाएँ शीघ्र ही भंग हो गईं। शर्की सिंहासन पर हुसेन शाह के बैठते ही युद्ध एक गम्भीर समस्या बन गया। हुसेन एक योग्य और साहसी शासक था। उसके सभासदों ने उसे समझाया कि बहलोल अपहरणकारी तथा जन्म से नीच है तथा उसने स्वयं राज-पद की उपाधि धारण कर ली है। उसने जमुना को पार किया किन्तु हल्के युद्ध के अनन्तर जिसमें जौनपुर की सेनाएँ सफल रहीं, सन्धि की गई। दोनों राज्यों के मध्य गंगा सीमांत रेखा निर्धारित हुई। अपना शिविर और सामान छोड़कर हुसेन जौनपुर लौट गया।

बहलोल ने शीघ्र सन्धि को तोड़ दिया और लौटती हुई जौनपुर की सेना पर आक्रमण किया। उसने हुसेन की सामग्री छीन ली और उसकी मलिका जहाँ को कैद कर लिया। सुलतान ने अपने प्रतिभाशाली बन्दी के साथ अच्छा बर्त्ताव किया और ख्वाजा सरा के निरीक्षण में उसे जौनपुर वापस भेज दिया। युद्ध पुनः छिड़ गया और हुसेन को फिर काली नदी के निकट दिल्ली की सेना ने हराया। बहलोल ने जौनपुर पर चढ़ाई की और उस पर आधि-पत्य स्थापित कर लिया। हुसेन ने अपना अधिकार स्थापित किया किन्तु पराजित हुआ और जौनपुर से निकाल दिया गया। सुलतान को अफगान

नवाबों पर कम विश्वास था। इसलिए उसने अपने बेटे बारबक शाह को जौनपुर का सूबेदार बनाया।

जौनपुर की विजय से बहलोल की शक्ति बढ़ गई और अब उसने कालपी, धौलपुर, बारी और अलापुर पर चढ़ाई की और अपना आधिपत्य स्थापित किया। ग्वालियर के विद्रोही राजा को दण्ड देने के लिए सेना भेजी गई। वह पराजित हुआ और कर देने पर विवश किया गया। ग्वालियर से लौटने पर बादशाह को ज्वर आ गया और वह थोड़े दिन बीमार रहने के बाद स्वर्ग-वासी हुआ।

बहलोल का कार्य––लोदी वंश की स्थापना करने तथा दिल्ली राज्य के नष्ट-गौरव को पुन: प्राप्त करने में बहलोल ने बड़ा काम किया। उसका व्यक्ति-गत चरित्र उसके तात्कालिक पूर्वाधिकारियों से कई गुना उत्तम था; वह साहसी, उदार, दयालु और विश्वासनीय था। उसकी धर्म में अटूट श्रद्धा थी उसे आडम्बर से वड़ी घृणा थी। वह मध्यकालीन शासकों की भाँति रत्न और हीरों से आभूषित राज-वस्त्र धारण कर सिंहासन पर कभी नहीं बैठता था और कहता था कि उसके लिए इतना ही काफी है कि बिना किसी विशेष आड-म्बर के सारा संसार उसे राजा जानता है। वह दीनों का राजा था। कोई भी भिक्षुक उसके द्वार से निराश होकर नहीं लौटता था। यद्यपि वह स्वयं विद्वान् नहीं था, फिर भी विद्वानों का सम्मान करता तथा उनके प्रति सहानुभूति प्रकट करता था। उसकी न्याय-प्रियता इतनी प्रबल थी कि वह स्वयं प्रजा का निवेदन सुनता था। उसके पास अपना निजी कोष नहीं था। युद्ध में रुपया बिना संकोच के वह सैनिकों में बाँट देता था।

सिकन्दर का सिंहासनारोहण–––बहलोल की मृत्यु के बाद उसका पुत्र निजाम खाँ, अमीरों तथा सरदारों इत्यादि सबकी सम्मति से सिकन्दर शाह की उपाधि धारण कर सिंहासनारूढ़ हुआ। जिस समय के उत्तराधिकार के प्रश्न पर विचार हो रहा था उस समय बारबन्द शाह के नाम का भी संकेत किया गया, किन्तु वह बहुत दूर था, इसलिए प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया गया।

जौनपुर से युद्ध–––सिकन्दर शक्ति एवं साहस से शासन-प्रबन्ध की

व्यवस्था करने लगा। उसकी शक्ति से संघर्ष लेनेवाला सर्वप्रथम उसका भाई बारवन्द था जो स्वयं राजा की उपाधि धारण कर चुका था। वह पराजित करके वन्दी बना लिया गया और देश अफगान सरदारों के सुपुर्द कर दिया गया।

जौनपुर के जमींदारों ने हुसेन शर्की को अपने पैतृक राज्य पर अधिकार करने के हेतु, एक बार पुनः बुलाया। वह विशाल सेना के साथ आगे बढ़ा किन्तु बनारस के निकट उसकी पराजय हुई और उसकी सेना तितर-बितर हो भाग खड़ी हुई। हुसेन शाह लखनौती की ओर भाग गया। अपना शेष जीवन वहाँ छिपकर उसने व्यतीत किया। उसकी पराजय के साथ स्वतंत्र जौनपुर-राज्य का अन्त हो गया। सम्पूर्ण देश बड़ी सरलतापूर्वक जीत लिया गया। शासन-प्रबन्ध के लिए सुलतान ने अपने अफसर नियुक्त कर दिये।

अफगानों के विरुद्ध—बड़े-बड़े अफगान जागीरदारों की ओर अब सिकन्दर का ध्यान आकृष्ट हुआ। कुछ प्रमुख अफगान सरदारों से हिसाब-किताब की उसने स्वयं जाँच की। इसमें उसे अनेक आश्चर्य-जनक रहस्यों का पता चला। इस नीति से वे बहुत अप्रसन्न हुए क्योंकि उन्होंने अपने हिसाब की जाँच से यह समझा कि उनके अधिकारों में हस्तक्षेप किया जा रहा है। बादशाह ने कठोरतापूर्वक उनका दमन किया। इससे उत्तेजित होकर उन्होंने षड्यन्त्र रचा और सिकन्दर के भाई शाहजादा फतह खाँ को उसमें सम्मिलित होने के लिए प्रोत्साहित किया। किन्तु शाहजादे ने भयानक परिणाम का अनुमान करके इस षड्यन्त्र का सारा भेद सुलतान को बता दिया। सुलतान ने षड्यन्त्रकारियों को कठोर दण्ड दिया।

आगरा की बुनियाद—सुलतान ने जहाँ आजकल आगरा शहर है, एक सैनिक-गृह बनवाने का विचार किया ताकि वहाँ से वह इटावा, बियाना, कोल, ग्वालियर और जौनपुर के जागीरदारों पर पूर्ण नियन्त्रण रख सके। इस ख्याल से उसने १५०४ ई० में, जहाँ वर्तमान आगरा स्थित है, एक नगर की नींव डाली। एक भव्य नगर उस स्थान पर बसाया गया और बाद में सुलतान ने भी वहीं अपना निवास-स्थान बना लिया।

आगरा में भूकम्प—दूसरे वर्ष यानी सन् १५०५ ई० में आगरा में

भयानक भूकम्प आया जिससे उसकी नींव हिल उठी तथा बहुत सी सुन्दर इमारतें गिर पड़ीं। उस समय का इतिहासकार लिखता है:—"यथार्थ में वह इतना भयानक भूकम्प था, कि पर्वत तक उलट गये और विशाल भवन मटियामेट हो गये। ऐसा मालूम होता था कि मानो प्रलय का दिन आ गया है। ऐसा भूकम्प पहले कभी नहीं आया था। इससे अपार क्षति हुई।"

शासन का अन्तिम वर्ष—सिकन्दर के जीवन के शेष दिन राजपूतों के विद्रोह तथा प्रान्तीय शासकों के दमन मे व्यतीत हुए, क्योंकि ये अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे थे। धौलपुर, ग्वालियर और नरवर अधीन हो गये और वहाँ के शासकों ने सुलतान की अधीनता स्वीकार कर ली। चन्देरी के राजा ने भी अधीनता स्वीकार की और अब वह नाममात्र के लिए शासक रह गया, किन्तु राज्य-प्रबंध प्रधान अफगान अधिकारियों के सुपुर्द किया गया।

रणथम्भौर के किले पर अधिकार करने के लिए सुलतान ने अंतिम यात्रा की। रणथम्भौर एक प्रतिष्ठित व्यक्ति के दायित्व में था और वह दिल्ली शासक के प्रतिनिधि के रूप में उसकी देख-भाल करता था। ग्वालियर-नरेश ने पुनः विद्रोह किया। सुलतान ने अपनी सेनाएँ तैयार कीं परन्तु वह बीमार पड़ गया और १ दिसम्बर १५१७ ई० में उसका देहान्त हो गया। इसके बाद उसका बेटा इब्राहीम लोदी गद्दी पर बैठा।

शासन-प्रबन्ध—सिकन्दर लोदी-वंश में सबसे योग्य शासक था। उसने अफगान नवाबों को नियंत्रण में रक्खा तथा व्यवस्था रक्खी। उसने अफगान शासकों के हिसाब की जाँच की तथा धूर्तों को कठोर दंड दिया। प्रान्तीय शासक उससे डरते थे। दीनों की हित-रक्षा की ओर सुलतान का विशष ध्यान रहा। उसने अन्न पर लगे हुए करों को उठा दिया तथा कृषि की उन्नति को प्रोत्साहन दिया। सड़कों पर डाकुओं का भय न रहा। उन जमींदारों का दमन कर दिया गया जो शान्ति भंग करते थे। 'तारीख दाऊदी' का रचयिता सिकन्दर के शासन-प्रबन्ध के बारे में लिखता है:—

"सुलतान सब वस्तुओं के मूल्य का तथा विभिन्न प्रान्तों में होनेवाली घटनाओं का विवरण प्रतिदिन स्वयं देखता था। यदि उसे किसी अन्यायपूर्ण

कार्य का जरा भी पता लगता तो वह तुरन्त उसकी जाँच कराता था। उसके शासन-काल में व्यापार शान्ति के साथ होता था। सरकारी दफ्तरों का प्रबन्ध ऐसा था कि उनमें अच्छे, ईमानदार अधिकारी नियुक्त थे। सिकन्दर के सभी सरदार तथा सैनिक सन्तुष्ट थे। उसकी यह महत्त्वाकांक्षा थी कि वह सर्वसाधारण का प्रिय बने। अपने अधिकारियों तथा सेना के कल्याणार्थ उसने युद्ध का अन्त कर दिया। सड़कों को डाकुओं और लुटेरों के आतंक से सुरक्षित किया। उसने अपने राज्य की रक्षा के लिए प्रयत्न किये और सम्पूर्ण जीवन अत्यन्त सुरक्षा और आमोद में व्यतीत किया। छोटे-बड़े सभी के हृदय पर अधिकार स्थापित करने में वह सफलीभूत रहा।"

सिकन्दर का चरित्र—सिकन्दर की आकृति सुन्दर थी, वह आखेट का बड़ा प्रेमी था तथा उसमें वे सभी गुण थे जो कि उसके एक समवर्गी व्यक्ति में होने चाहिए। वह अपने धर्म का पाबन्द था और शासन-कार्य में उलमा का कहना मानता था। उसने हिन्दुओं को सताया और देश से मूर्तिपूजा का बहिष्कार कर देने की प्रबल कोशिश की। उसका धार्मिक उत्साह इतना अनियंत्रित था कि उसने मथुरा के मन्दिरों को नष्ट करके उनके स्थान पर सराय और मसजिदें बनवाने की आज्ञा दी। यमुना के किनारे मथुरा में घाटों पर हिन्दुओं को स्नान करने की आज्ञा नहीं थी और नाइयोंको हुक्म दिया गया था कि वे हिन्दुओं की हजामत न बनावें।

सुलतान मुसलमानों के प्रति न्याय करता था। वह 'स्वयं' दीनों की प्रार्थना सुनता और उन्हें आपत्ति से मुक्त करने की चेष्टा करता था। वह साम्राज्य के अन्दर होनेवाली सभी घटनाओं का ज्ञान रखता था। बाजार की उचित देख-भाल रहती थी और धूर्त्तता और ठगी के मामलों की जाँच होती थी। सुलतान अपनी गम्भीरता और बुद्धिमानी के लिए बहुत प्रसिद्ध था। उसने दुश्चरित्र मनुष्यों को अपने निकट न आने दिया। वह स्वयं साहित्य-प्रेमी था, विद्वानों के साथ सहानुभूति रखता था और उनका वार्तालाप सुनने के लिए उन्हें अपने महल में निमन्त्रित करता था।

अपने जीवन-काल में, सिकन्दर ने अपनी दृढ़ नीति द्वारा शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित रक्खी। विद्रोही अमीरों पर नियन्त्रण रक्खा; परन्तु उसकी

मृत्यु के बाद जब राज-छत्र उसकी अपेक्षा अयोग्य तथा दुर्बल-चरित्रवाले मनुष्यों के हाथ में चला गया, तो उसकी सेना अनियन्त्रित हो गई और साम्राज्य की नींव ढीली पड़ने लगी।

अफगान शासन का स्वरूप—इब्राहीम के नेतृत्व में अफगान-शासन का स्वरूप बदल गया। उसका स्वभाव हठी तथा चिड़चिड़ा था। उसने अपने घमण्ड और धृष्टता से अफगान सरदारों की सहानुभूति खो दी। अफगानों का व्यवहार अपने राजा के प्रति स्वामी के रूप में नहीं; किन्तु साथी की भाँति था तथा उसे वे जागीर के केवल प्रधान नायक की भाँति मानते थे। लोहानी, फारमूली और लोदी वर्ग के मनुष्य राज्य में प्रतिष्ठित पदों पर नियुक्त थे। वे सर्वथा उपद्रव तथा दलबन्दी किया करते थे और अपनी स्थिति और प्रभाव के कारण उन्हें सदा राज-सत्ता के विरुद्ध षड्यंत्र करने का अवसर मिल जाया करता था। उनकी राज-भक्ति राजा की शक्ति तथा दुर्बलता के अनुसार परिवर्तित होती रहती थी। सिकन्दर ने उन पर दृढ़ नियन्त्रण स्थापित कर रक्खा था और जब कभी वे उसकी शक्ति की अवहेलना करते तो कठोर दण्ड के भागी होते थे। किन्तु जब इब्राहीम ने अपनी भावनाओं पर विजय करके शासन को उपयुक्त तथा दृढ़ बनाने का प्रयत्न किया तो उन्होंने उसका विरोध करके अड़चन पैदा कर दी। अर्स्किन का कथन है, कि प्रधान जागीरदार अपनी जागीरों को अपनी स्वतंत्र चीज समझते थे और बादशाह की उदारता का कुछ विचार न करते हुए अपनी तलवार का जोर दिखाते थे। इब्राहीम इस भयानक स्थिति से घबड़ा उठा। राज्य-विस्तार बहुत बढ़ गया था; जागीरदार विशृंखल हो रहे थे और वर्षों से धीरे-धीरे असन्तोष की आग सुलग रही थी। सिकन्दर की नीति से असन्तुष्ट हिंदू, मुसलमान राज्य को घृणा की दृष्टि से देखते थे। अफगान अमीर उसके निर्दय व्यवहार से क्रुद्ध हो गये और साम्राज्य को हानि पहुँचाने लगे। परन्तु इसके लिए इब्राहीम ही पूर्णतया दोषी नहीं है। साम्राज्य का विभाजन शीघ्र या देर से होना निश्चित था, क्यों कि यदि इब्राहीम रईसों को सन्तुष्ट भी रखता, तो भी वे अपने छोटे-छोटे राज्य स्थापित करने की चेष्टा किये बिना न रहते और दलबन्दी और विरोधी दलों के मध्य में वह केवल नाममात्र का राजा रह जाता।

विद्रोहों का दमन—जैसा पहले कह चुके हैं, इब्राहीम से अफगान अमीर असन्तुष्ट थे। उनमें कुछ ऐसे थे जो उसके भाई जलाल को जौनपुर की गद्दी पर बिठाना चाहते थे। जलाल जौनपुर गया, परन्तु वहाँ से लौट आया। बादशाह स्वयं कालपी की ओर गया और जलाल के किले को घेर लिया। जलाल आगरे की तरफ भाग गया। इतने में सन्धि की चर्चा चली। आगरे के सूबेदार ने कहा कि यदि जलाल राज्याधिकार की इच्छा छोड़ दे, तो उसे कालपी की जागीर दे दी जायगी। परन्तु इब्राहीम ने इस बात को न माना। उसने जलाल को मारने की आज्ञा दे दी। जलाल ग्वालियर की ओर भाग गया। बादशाह ने अब अपनी सेना ग्वालियर को भेजी। परन्तु जलाल वहाँ से गोंडवाना की ओर भाग गया। मार्ग में उसको कत्ल कर दिया गया।

आजम हुमायूँ राज्य का एक शक्तिशाली अमीर था। सुलतान ने उसे अपने पद से हटा दिया और उसके बेटे से कड़ा-मानिकपुर की जागीर छीन ली। इस अपमान से अन्य अमीर भयभीत हो गये। इब्राहीम की नीति से ऐसी अशान्ति फैली कि चारों ओर उपद्रव होने लगे। इस्लाम खाँ ने राज्य की सेना का सामना किया परन्तु वह पराजित हुआ। आजम हुमायूँ कैदखाने में कत्ल कर दिया गया। अफगान अमीरों में सनसनी फैल गई। वे विद्रोह के लिए तैयार हो गये।

इब्राहीम ने पंजाब के हाकिम दौलत खाँ लोदी के बेटे दिलावर खाँ के साथ दरबार में बुरा व्यवहार किया। बादशाह के हुक्म से दिलावर खाँ को जेल में ले गये और वहाँ उसे लोगों के कटे हुए सिर दिखाये गये। सुलतान ने उससे कहा—'जो लोग मेरी आज्ञा का उल्लंघन करते हैं, उनका ऐसा हाल होता है। दिलावर खाँ बादशाह के अभिप्राय को समझ गया। वह फौरन अपने बाप के पास भागकर गया और जाकर सब हाल उससे कहा। दौलत खाँ बड़ा क्रोधित हुआ और उसने बदला लेने के लिए काबुल के बादशाह बाबर को हिन्दुस्तान पर आक्रमण करने का निमंत्रण दिया।

छब्बीसवाँ अध्याय

मध्यकालीन समाज तथा संस्कृति

मुस्लिम शासन—मुस्लिम राज्य पर धर्म का प्रभाव अधिक था। बहुधा बादशाह उलमा यानी विद्वानों की राय से काम करते थे। मुसलमानों को राज्य में बड़े ओहदे दिये जाते थे। उनके साथ रिआयत की जाती थी। हिन्दू जिम्मी कहे जाते थे। उन्हें अपनी रक्षा के लिए सरकार को जजिया देना पड़ता था। बहुत से मुसलमान उलमा की धारणा थी कि आदर्श मुस्लिम राज्य का कर्त्तव्य मूर्ति-पूजा को मिटाना, काफिरों का विध्वंस कराना या उन्हें इस्लाम धर्म स्वीकार करने पर विवश करना है। दिल्ली के बादशाहों में कई ऐसे हुए जो इन्हीं के परामर्श से काम करते थे। फीरोज तुगलक की गणना ऐसे ही शासकों में है। अलाउद्दीन ऐसा था कि उसने उनके आदेशों की अधिक पर्वाह न की। मुहम्मद तुगलक भी सत्य की खोज करता था, इसलिए वे उसका विरोध करते थे। फीरोज की मृत्यु के बाद हम देखते हैं कि फिर इन धर्म के आचार्यों का प्रभाव बढ़ गया। लोदी वंश का द्वितीय शासक सिकन्दर कट्टर मुसलमान था। उसने अन्य धर्मवालों के साथ कठोर व्यवहार किया और हिन्दुओं को परेशान किया। लोदी वंश के पतन के साथ या यों कहना चाहिए कि उसके पहले ही एक नये युग का आरम्भ हो चुका था। धार्मिक संघर्ष का परिणाम दिखाई देने लगा था। हिन्दू समाज में कई महात्मा ऐसे हुए जिन्होंने अल्ला, राम, रहीम को एक ही बताया, जात-पाँत और धार्मिक आडम्बर की निन्दा की और कहा कि प्रत्येक मनुष्य भक्ति तथा प्रेम द्वारा ईश्वर को प्राप्त कर सकता है। कई आचार्य संस्कृत के भी ऐसे हुए जिन्होंने भक्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनमें भी कुछ ऐसे थे जिन्होंने चांडालों को भी अपनाया और भेद-भाव को मिटाने का उपदेश किया। इस्लाम और हिन्दू धर्म के सम्पर्क में आने से नये विचार प्रकट हुए। मुसलमानों में भी संतों का आदर होने लगा। इनके प्रभाव से हिन्दू मुसलमान एक दूसरे के निकट आने लगे और एकता का भाव पैदा होने लगा। १५वीं शताब्दी की यही विशेषता है।

सामाजिक जीवन—मुसलमानों पर राज्य की कृपा रहती थी। दूसरों की अपेक्षा उनके हित का अधिक ध्यान रखा जाता था। मुसलमानों में मदिरा, जुआ इत्यादि का काफी रवाज था। अलाउद्दीन खिलजी ने इन दोषों को दूर करने की चेष्टा की थी। अपने जीवनकाल में उसने इन नियमों का जबर्दस्ती पालन कराया; परन्तु उसकी मृत्यु के बाद फिर विलासिता बढ़ गई। बादशाह और उसके अमीर ऐश-परस्ती में एक दूसरे की बराबरी करने लगे। गयासुद्दीन तुगलक के शासन काल में कुछ सुधार हुआ, क्योंकि सुलतान स्वयं सादा और पवित्र जीवन व्यतीत करता था। मुहम्मद तुगलक ने भी इन दोषों को रोका; परन्तु फीरोज के समय में समाज में अनेक दोष आ गये। मुसलमान कब्रों को पूजने लगे, शराब भी पीने लगे और बादशाह की कमजोरी से साम्प्रदायिकता की वृद्धि हो गई। सुलतान अपनी आत्मकहानी "फतूहात-फिरोजशाही" में लिखता है कि देश में प्रजा बहुत से कार्य ऐसे करने लगी थी जो इस्लाम के विरुद्ध थे। उसने लोगों को धर्म के मार्ग पर लाने का प्रयास किया और कई नये नियम बनाये। शासन में मुसलमानों को उसने बहुत प्रोत्साहन दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि अयोग्य मनुष्य बड़े पदों पर नियुक्त हो गये। शासन बिगड़ने लगा और राज्य की शक्ति का भी ह्रास होने लगा। बादशाह ने मुसलमानों को खूब रुपया दिया। उसका समकालीन इतिहासकार शम्ससिराज अफीफ लिखता है कि अमीरों के पास बहुत रुपया था और काजी फकीर और उलमा खूब समृद्ध थे और अपनी बेटियों के विवाह जल्दी कर देते थे।

हिन्दुओं की दशा अच्छी न थी। राज्य में उन्हें ओहदे बहुत कम मिलते थे। कहीं-कहीं पर हिन्दू अफसरों का उल्लेख मिलता है, परन्तु यह स्पष्ट है कि उनकी संख्या अधिक नहीं थी। बर्नी लिखता है कि अलाउद्दीन के शासन-काल में कोई हिन्दू अपना मस्तक ऊँचा करके नहीं चल सकता था। उनके घरों में सोना-चाँदी देखने में नहीं आता था। लगान मालगुजारी से सम्बन्ध रखनेवाले हिन्दुओं की तो बहुत ही दुर्दशा थी। चौधरी, खूत आदि ऐसे दरिद्री हो गये थे, कि न अच्छे कपड़े पहन सकते थे, न घोड़े पर चढ़ सकते थे, न हथियार खरीद सकते थे और न पान खा सकते थे। मुहम्मद तुगलक के

समय में उत्पीड़न कम था; परन्तु फीरोज ने कट्टर सुन्नी होने के कारण उनके साथ कठोरता का बर्त्ताव किया। वह दिल्ली का पहला बादशाह था जिसने ब्राह्मणों पर जजिया लगाया। उसने बहुत से मन्दिर तोड़े और एक ब्राह्मण को तो अपने महल के सामने जीवित ही जलवा दिया। धार्मिक सहिष्णुता का अभाव हो गया। सुलतान ने नियम कर दिया कि जो हिन्दू इस्लाम-धर्म स्वीकार करेगा उसे राज्य में नौकरी दी जायगी। फीरोज की मृत्यु के बाद दोआब के हिन्दुओं में जान आ गई। वे खुल्लमखुल्ला दिल्ली राज्य का विरोध करने लगे। बहुतों ने राज्य का कर देना बन्द कर दिया और अपनी रक्षा के लिए किले बना लिये।

चौदहवीं शताब्दी के समाज का इब्नबतूता नामक अफ्रीका के यात्री ने अच्छा वर्णन किया है। वह लिखता है:—"गुलाम प्रथा थी, परन्तु राज्य की ओर से गुलामों को मुक्त करने की भी आज्ञा थी।" वह हिन्दुओं के अतिथि-सत्कार की प्रशंसा करता है और लिखता है कि "जाति के नियमों का दृढ़ता से पालन होता था। दुश्चरित्र के लिए कठिन दण्ड दिया जाता था। उच्च कुल के अपराधियों के साथ मुहम्मद तुगलक के राजत्वकाल में कोई रू-रिआयत नहीं की जाती थी। ऋण का कानून कठोर था।" १३वीं शताब्दी में मार्कोपोलो नामक इटली निवासी यात्री दक्षिण भारत में आया। उसने भी लिखा है कि ऋण का कानून कठोर था। इब्नबतूता लिखता है कि ऋणदाता ऋणी के विरुद्ध राज्य की सहायता भोगता था। वह सुलतान के महल के सामने जाकर चिल्लाता था कि दुहाई है सुलतान की। ऐसी स्थिति में ऋणी अपना ऋण चुकाने का प्रयत्न करता था। कभी-कभी अपनी अमीरों का ऋण सुलतान भी चुका देता था। इब्नबतूता को ऐसा अनुभव स्वयं हुआ। दान की बड़ी प्रथा थी। बहुत-सी खानकाहें बनी हुई थीं जहाँ गरीबों को भोजन मिलता था। सती की प्रथा थी परन्तु कोई स्त्री बिना सुलतान की आज्ञा के सती नहीं हो सकती थी। बहु-विवाह की प्रथा थी। इब्नबतूता ने स्वयं कई विवाह किये थे। शिक्षा का प्रचार था। स्त्रियों को भी शिक्षा दी जाती थी। राज्य की ओर से व्यापार, दस्तकारी, उद्योग आदि को प्रोत्साहन मिलता था।

आर्थिक दशा—प्रारम्भिक मुसलमान आक्रमणकारियों ने देश में खूब

लूट-मार की थी। जनता से कर वसूल किया परन्तु शासन-संगठन के लिए कोई प्रबन्ध नहीं किया। बलबन पहला सुलतान था जिसने वाणिज्य की उन्नति के लिए प्रयत्न किया। उसने कम्पिल और पटियाली के आस-पास के देश को लुटेरों से मुक्त किया। कृषि की भी उन्नति हुई, व्यापारी एक जगह से दूसरी जगह अपना माल ले जाने लगे। अलाउद्दीन ने बाजार का प्रबन्ध किया, चीजों के भाव नियत किये। अनाज सस्ता हो गया। प्रजा को बड़ी सुविधा हुई। मुहम्मद तुगलक के समय बड़ा अकाल पड़ा। अनाज मँहगा हो गया। बादशाह ने दुर्भिक्ष-पीड़ित लोगों की सहायता की परन्तु सफलता न हुई। व्यापार-व्यवसाय की उन्नति हुई 'मसालक उल-अवसार' का रचयिता लिखता है कि राज्य के कारखानों में ४०० रेशम का काम करनेवाले कारीगर थे। सुनहरी काम के वस्त्र तैयार करने के लिए ५०० कारीगर नियुक्त थे। व्यापार विदेशों के साथ होता था। भड़ौंच, कालीकट प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र थे, जहाँ संसार के व्यापारी इकट्ठे होते थे।

फीरोज ने किसानों की रक्षा की। सिंचाई के लिए नहरें निकालीं। इससे साम्राज्य का भूमि-कर ६ करोड़ ८५ लाख टंक हो गया। चीजों के निर्ख सस्ते थे। दिल्ली से फीरोजाबाद आदमी इक्के में ४ जीतल किराया देकर जा सकता था। खच्चर के ६, घोड़े के १२ टंक देने पड़ते थे और पालकी में बैठनेवाले को आधा टंक देना पड़ता था। फीरोज ने बेरोजगार आदमियों को रोजगार दिया और मलिक नेक कोतवाल दिल्ली को ऐसे लोगों को सूची बनाने को कहा। गुलामों की संख्या बढ़ गई। बादशाह ने उनके खाने-पीने, शिक्षा का यथोचित प्रबन्ध किया। फीरोज की मृत्यु के बाद देश में अराजकता फैल गई। खेती नष्ट हो गई। व्यापार भी नष्ट-प्राय हो गया। प्रजा को घोर कष्ट हुआ। देश का बहुत-सा रुपया बाहर चला गया। आबादी क्षीण हो गई। जिधर तुर्क सिपाही गये उधर ही कृषि, व्यापार, कला-कौशल सबको क्षति पहुँची। लोदी वंश का राज्य स्थापित होने पर बहलोल ने प्रजा के हित का ध्यान किया। चीजों के भाव सस्ते हो गये। प्रजा को सुख मिला। भरण-पोषण की सामग्री प्राप्त करने में सुविधा हुई।

मध्यकालीन कला—जिस युग का हम इतिहास पढ़ रहे हैं, उसमें कला की

आशातीत उन्नति हुई। यह कला विशुद्ध हिन्दू है या बिलकुल मुस्लिम, कुछ विद्वानों का कहना है कि वह इस्लामी कला का एक रूप है। किन्तु हैवल इत्यादि लोगों का मत है कि वह हिन्दू कला ही है। वस्तुतः सत्य इन दोनों सिद्धान्तों के बीच में है। इसमें सन्देह नहीं कि मुस्लिम कला में हिन्दू कारीगरों के सहयोग से बहुत सुधार हुआ है; परन्तु यह भी कहना ठीक न होगा कि मुस्लिम कला सर्वथः आदर्श रहित है। मुसलमानों की भवन-निर्माण कला में बड़ी अभिरुचि थी और उसमें उन्होंने स्वतंत्र विचार प्रकट किये हैं। जिन स्थितियों में हिन्दू-मुस्लिम कला का विकास हुआ, उससे स्पष्ट जान पड़ता है कि उसमें दोनों का सम्मिश्रण है। हिन्दू धर्म ने मूर्तिपूजा की प्रशंसा की, मुसलमानों ने उसका विरोध किया; हिन्दू धर्म ने सजावट, चमक-दमक को पसन्द किया, मुसलमानों ने सादगी को अपनाया। एक दूसरे के विरोधी इन विभिन्न आदर्शों के हेल-मेल से एक नई कला का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे हिन्दू-मुस्लिम अथवा इण्डोसार सैनिक कहते हैं। मुसलमानों ने भारत में आकर हिन्दू कला के आदर्शों से लाभ उठाया। पुरातत्त्ववेत्ता सर जान मार्शल लिखता है कि बहुत से मन्दिर मसजिदों में बदल गये और विजेताओं ने उन्हीं का अनुकरण कर मसजिदें बनवाईं। जिस विशेषता ने इन दोनों शैलियों का सम्मिश्रण किया, वह थी मुस्लिम तथा हिन्दू कलाओं की स्वाभाविक आभूषण-प्रियता। आभूषण जितना एक के लिए महत्त्वपूर्ण था, उतना ही दूसरे के लिए भी।

अरबों की विजय स्थायी नहीं थी। उन्होंने कोई इमारतें नहीं बनवाईं। परन्तु इतना अवश्य है कि वे हिन्दू कारीगरों और शिल्पकारों के चातुर्य्य को स्वीकार करते थे। महमूद गजनवी जब मथुरा में पहुँचा तो वह मन्दिरों के सौन्दर्य तथा आकार को देखकर चकित रह गया और लौटते समय हिन्दू शिल्पकारों को अपने साथ ले गया, जिनकी मदद से गजनी की प्रसिद्ध मसजिद बनी। कुतुबुद्दीन और ईल्तुतमिश के समय में दिल्ली की कुतुबमीनार बनी। बदायूँ में भी ईल्तुतमिश की बनाई हुई मसजिद अब तक मौजूद है। कुतबी मसजिद जो कुतुबमीनार के पास बनी हुई है, प्राचीन मन्दिरों की सामग्री से बनाई गई है। अलाउद्दीन ने भी किले, महल इत्यादि बनाये। उसका बनाया हुआ अलाई दर्वाजा अब तक मौजूद है। हजार सितून महल

भी उसने बनवाया था। इतिहासकार बर्नी लिखता है कि इस महल की नींव और दीवालों में सहस्रों मुगलों के सिर गाड़े गये थे। दूसरी प्रसिद्ध इमारतें उसकी बनवाई हुई हैं हौज अलाई और हौज खास।

दिल्ली राज्य के इतिहास में १३वीं और १४वीं शताब्दी का समय एक भयंकर युग था। मंगोल अथवा मुगल बार बार दिल्ली पर चढ़कर आ रहे थे। उधर देश की आन्तरिक अवस्था भी अच्छी न थी। इसलिए इमारतें ठोस, मजबूत और सादी बनाई गई। इस ढंग की सबसे विलक्षण इमारतें दो हैं—एक तो तुगलकाबाद का किला और दूसरा तुगलकशाह का मकबरा। मुहम्मद तुगलक ने जहाँपनाह नामक शहर बसाया जिसके खँडहर आज भी तुगलकाबाद के पास देखने में आते हैं। फीरोज को इमारत बनाने का बहुत शौक था। उसने नगर बसाये, मदर्से स्थापित किये, हौज बनाये। उसके बसाये नगर थे फीरोजाबाद, हिसारफीरोजा। इनमें पानी का भी अच्छा प्रबन्ध किया गया। जौनपुर नगर उसने अपने चचेरे भाई सुलतान मुहम्मद की स्मृति में बनाया था। फीरोज मेरठ जिले से अशोक के स्तम्भों को उठा कर लाया था। एक को उसने अपने नगर फीरोजाबाद में खड़ा किया जहाँ वह अब तक मौजूद है। उसके समकालीन इतिहासकार अफीफ ने इन स्तम्भों को हटाने का बड़ा मनोरंजक वर्णन किया है। फीरोज ने बहुत-सी पुरानी इमारतों की मरम्मत कराई थी जैसा कि उसकी आत्मकहानी फतूहात फीरोज-शाही से प्रकट होता है।

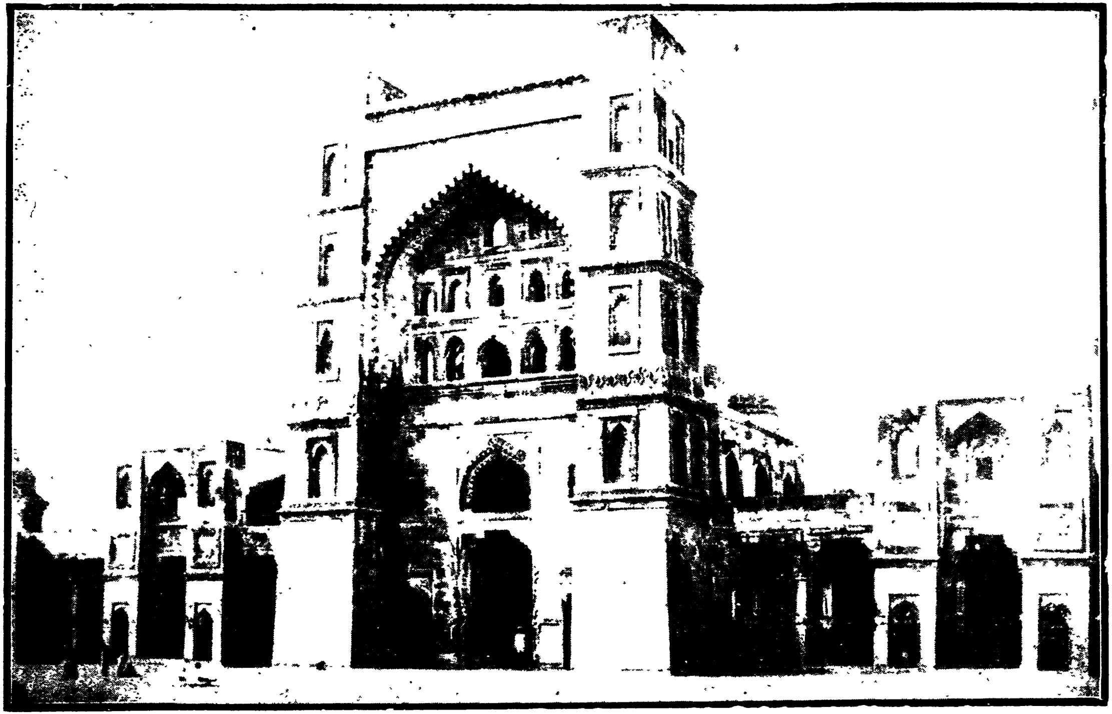
प्रान्तीय सरकारों ने कला को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया। जौनपुर में अनेक इमारतें बनीं जो आज तक विद्यमान हैं और हिन्दू-मुस्लिम आदर्शों का प्रदर्शन करती हैं। इब्राहीम शाह शर्की के समय की अटाला मसजिद, हुसेन शाह की बनवाई हुई जाम-मसजिद, लाल दरवाजा मसजिद, जहाँगीरी मसजिद भारतीय शिल्पकला के अद्भुत नमूने हैं।

गौड़ (बंगाल) के सुन्नी शासकों को भी कला से प्रेम था। उनकी इमारतों की शैली दिल्ली, जौनपुर की शैली से भिन्न है। गौड़ के महल ईंटों के बने हुए हैं। उनमें हिन्दू मन्दिरों की कला का अनुसरण दिखाई देता है। हुसेन शाह की कब्र बड़ी तथा छोटी सोना मसजिद और सुलतान नुसरत शाह

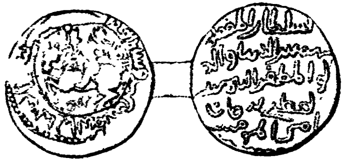
का बनाया हुआ कदमरसूल आदि इमारतें देखने योग्य हैं। सन् १३६८ ई० में सिकन्दरशाह की बनाई हुई पांडुआ की अदीना मसजिद जो गौड़ से २० मील है, अपने ढंग की निराली इमारत है।

प्रान्तीय शैली की शिल्पकलाओं में गुजरात की शैली सबसे सुन्दर है। मुस्लिम-विजय के पहले गुजरात में जैनधर्म का बड़ा प्रभाव था। जब देश पर मुसलमानों का आधिपत्य स्थापित हो गया, तो उन्होंने अपनी इमारतें बनाने के लिए कुशल कारीगर नियुक्त किये। स्वभावतः कुछ परिवर्तन के साथ कारीगरों ने मुसलमानों की सादी रुचि के अनुकूल हिन्दू जैन-मिश्रित कला का प्रदर्शन किया। अहमदशाह भवन-निर्माण का विशेष प्रेमी था। उसने १५वीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में अहमदाबाद नगर की स्थापना की तथा मसजिदें और राज-प्रासाद बनवाये। १५वीं शताब्दी में अहमदाबाद, कम्बात, चम्पानेर आदि इमारतें बनवाई गई। मुहाफिज खाँ की मसजिद अत्यन्त सुन्दर इमारतों में से है। मसजिदों तथा कब्रों के अतिरिक्त गुजरात कुएँ, बावड़ी और अन्य सिंचाई के साधनों तथा बागों के लिए प्रसिद्ध है।

पन्द्रहवीं शताब्दी में अपनी इमारतों के लिए मांडू भी बहुत प्रसिद्ध था। ठोस इमारतें जो आज तक खड़ी हैं मांडू के सुलतान की शक्ति तथा विभूति का परिचय देती हैं। जामा मसजिद, हिंडो का महल, जहाज महल, हुसेन शाह की कब्र तथा बाज बहादुर और रूपमती के राज-भवन सुन्दर इमारतों में से हैं। कला की उन्नति केवल उत्तरी भारत में ही नहीं हुई; किन्तु दक्षिण के बहमनी एवं विजयनगर-नरेशों ने भी उसे प्रोत्साहन दिया। बहमनी राजाओं ने नगर स्थापित किये, मसजिदें बनवाईं तथा दुर्गों का निर्माण कराया। गुलबर्गा और बीदर की मसजिद दक्षिणी-कला के आदर्श हैं। उनकी बनवाई हुई कुछ इमारतें, फारसी शिल्पकारों द्वारा निर्मित गुलबर्गा में जाम-मसजिद और फारसी शैली के अनुसार बना हुआ महमूद गावान का शिक्षालय है। किन्तु बहमनी राजे दुर्ग निर्माण के लिए इतिहास में विशेष प्रसिद्ध हैं। उनके दुर्गों में से मुख्य ग्वालीगढ़, नारनल्ला तथा आदिलाबाद में माहुर के किले हैं। पारेण्डा, नालदुर्ग और पन्हाला के दुर्ग उन्होंने अपनी शक्ति दृढ़ करने के हेतु बनवाये थे। गुलबर्गा में महत्त्वपूर्ण इमारतों के दो भाग हैं। प्रथम भाग में अलाउद्दीन



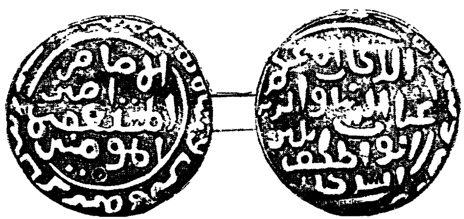
अटाला देवी की मस्जिद, जौनपुर



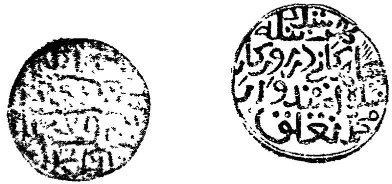
अल्तमश के सिक्के



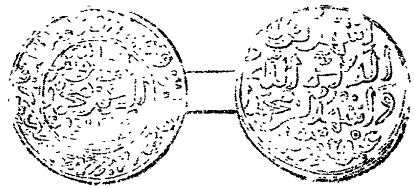
अलाउद्दीन खिलजी के सिक्के



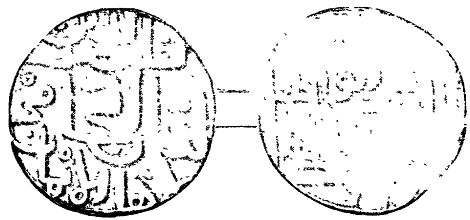
बलबन के सिक्के



मोहम्मद बिन तुगलक के (तांबे और पीतल) के सिक्के



मोहम्मद बिन तुगलक के सोने के सिक्के



मोहम्मदशाह बहमनी के सिक्के

हसन बहमनशाह, मुहम्मदशाह द्वितीय तथा उत्तरकालीन दो और राजाओं की कब्रें हैं। द्वितीय भाग में, जो हफ्त गुम्बज के नाम से विख्यात था, मुजाहिदशाह, दाऊदशाह, गयासुद्दीन तथा उसके परिवार तथा फीरोजशाह और उसके परिवार की कब्रें हैं। ये सब एक दूसरे से बहुत कुछ सादृश्य रखती हैं। अहमदशाह ने बीदर नगर की स्थापना की थी। इसमें एक दुर्ग तथा दो और इमारतें हैं। पहली अहमदशाह वाली की कब्र तथा दूसरी मुहम्मदशाह तृतीय के शासन-काल में निर्मित सोला मसजिदें हैं। दक्षिणी राज्यों में सर्वप्रसिद्ध शिल्पकला बीजापुर की है। मुहम्मद आदिलशाह की कब्र जिसे गोल गुम्बज भी कहते हैं, एक उत्कृष्ट इमारत है।

कला को प्रोत्साहन देने में विजयनगर-नरेश बहमनी वंश से किसी भी तरह कम न थे। उन्हें सभा-भवन, राज-कार्यालय, सिंचाई के साधन, जल-मार्ग (नहरें) मन्दिर तथा राजप्रासादों के निर्माण से विशेष प्रेम था। पर्याप्त प्रमाणों से सिद्ध है कि नगर में पानी पहुँचाने का उत्तमोत्तम प्रबन्ध था। बहुत से मन्दिर बनवाये गये जिसमें सर्वप्रसिद्ध विट्ठल मंदिर था जिसे फर्गुसन ने द्रविड़शैली का अत्युत्तम आदर्श बतलाया है। मूर्ति-निर्माण कला तथा चित्र-कला का अभाव नहीं था और यह स्पष्ट है कि कलाकारों ने इन कलाओं में पर्याप्त कुशलता प्राप्त की थी जैसा कि पुर्तगाली इतिहासकार नुनीज तथा फारस के दूत अब्दुर्रज्जाक के विवरण से स्पष्ट है।

साहित्य—मध्ययुग के साहित्य के विविध विभागों का विस्तारपूर्वक वर्णन करना असम्भव है। अधिक से अधिक यह किया जा सकता है कि ख्याति-प्राप्त लेखकों तथा विद्वानों की कृतियों का संक्षेप में विवरण दे दिया जाय। शाही दरबारों के संरक्षण में फारसी साहित्य की अच्छी उन्नति हुई। खिलजी और तुगलक साम्राज्य का राजकवि अमीर खुसरो उस समय का महान् कवि था। उसने अनेक ग्रन्थ लिखे और उसकी रचनाएँ आज भी आदर की दृष्टि से देखी एवं पढ़ी जाती हैं। उसका समकालीन मीर हसन देहलवी भी उच्च कोटि का कवि था। उसने शहीद शाहजादा मुहम्मद तथा सुलतान मुहम्मद तुगलक के दरबार में आश्रय पाया था। उसने एक 'दीवान' की रचना की और अपने संरक्षक फकीर शेख निजामुद्दीन औलिया का जीवन-चरित्र

लिखा। मुसलमान इतिहास लिखने में बहुत प्रवीण थे। इस काल में इतिहास की अनेक पुस्तकें लिखी गईं। इनमें जियाउद्दीन बर्नी और शम्स सिराज अफीफ की 'तारीख फीरोजशाही' यहियाबिन अब्दुल्ला की 'तारीख मुबारकशाही' तथा अफगान इतिहासकारों के ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध हैं। मध्ययुग में जौनपुर साहित्य का केन्द्र था और इब्राहीमशाह शर्की विद्वानों का उदार आश्रयदाता था। उसके शासन-काल में बहुत से साहित्यिक तथा दार्शनिक ग्रन्थों का सम्पादन हुआ।

मुसलमान विद्वान् संस्कृत से पूर्णतया अनभिज्ञ नहीं थे। अलबेरूनी, जो दसवीं शताब्दी में भारत आया था, संस्कृत का उत्कृष्ट विद्वान् था। उसने संस्कृत से, कई दार्शनिक तथा ज्योतिष की पुस्तकों का, अरबी में अनुवाद किया। हिन्दू सभ्यता का उसने जो वर्णन किया है, वह सजीव एवं सुस्पष्ट है। १४वीं शताब्दी में जब फीरोज तुगलक ने नगरकोट के दुर्ग पर अधिकार कर लिया, तो उसने दर्शनशास्त्र, ज्योतिष आदि की पुस्तकों का फारसी में अनुवाद कराया। एक पुस्तक का नाम 'दयायल-ए-फीरोजशाही' रक्खा गया। लोदी-वंश के समय में भी साहित्यिक साधनों का पूर्ण अभाव नहीं था। सिकन्दर के शासन-काल में संस्कृत के आयुर्वेद ग्रन्थों का अनुवाद फारसी में किया गया। एक ऐसे ग्रन्थ का नाम बादशाह के कहने से तिब्बसिकन्दरी रक्खा गया। मियोंभुआ विद्याप्रेमी था और विद्वानों को आश्रय देता था। सुलतान भी विद्वानों का आदर करता था।

साहित्यिक प्रगति में हिन्दू मुसलमानों से पीछे नहीं थे। यद्यपि उन्हें राज्य की ओर से कुछ प्रोत्साहन नहीं मिलता था, फिर भी वे संस्कृत तथा हिन्दी दोनों में उच्च कोटि के साहित्य का निर्माण करते रहे। रामानुज ने ब्रह्मसूत्र पर टीका लिखी तथा उसमें भक्ति-सिद्धान्त पर प्रकाश डाला। १२वीं शतब्दी में जयदेव ने गीतगोविन्द की रचना की। यह आदर्श गीताकाव्य है जिसमें राधा-कृष्ण के प्रेम, उनके वियोग तथा अन्तिम मिलन और ब्रज की गोपियों के साथ कृष्ण की लीला एवं विनोद का वर्णन है। उन प्रान्तों में जो मुस्लिम प्रभाव से परे थे, नाटक का पूर्ण विकास हुआ। ललित-विग्रह-राज नाटक, हरिकेलि नाटक, पार्वती परिणय, विदग्ध माधव तथा ललित माधव इत्यादि

कुछ वर्णनीय नाटकों में से हैं। शास्त्रीय साहित्य के विषय में कहा जा सकता है कि इस काल में कुछ उत्तम टीकाएँ लिखी गईं। ज्योतिष शास्त्र पर बहुत से ग्रन्थ लिखे गये। परन्तु हिन्दू विद्वानों ने इतिहास की ओर कम ध्यान दिया। ऐतिहासिक ग्रन्थों में केवल कल्हण की राजतरंगिणी उपलब्ध है, जो १२वीं शताब्दी के मध्य में रची गई।

इस काल में हिन्दी भाषा की भी उन्नति हुई। पृथ्वीराजरासो के रचयिता चन्दबरदाई, आल्हखंड के रचयिता जगनायक, अमीर खुसरो तथा बाबा गोरखनाथ हिन्दी के प्रारम्भिक लेखक हैं। कालान्तर में भक्ति सम्प्रदाय ने हिन्दी-साहित्य को पर्याप्त सहायता पहुँचाई। कबीर, नानक और मीराबाई ने हिन्दी में अपने भजन तथा भक्तिपूर्ण गीतों की रचना की।

राधा-कृष्ण सम्प्रदाय के प्रचारकों ने ब्रजभाषा में कविता की और अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। इससे भी हिन्दी-साहित्य की वृद्धि में सहायता मिली। बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र तथा सुदूर दक्षिण में भी प्रचलित भाषा की उन्नति हुई। कृतिवास ने, जिनका ग्रन्थ उच्च कोटि के व्यक्तियों के लिए यथार्थ में 'बाइबिल' है, बंगाल में, संस्कृत रामायण का जन-साधारण की भाषा में अनुवाद किया। राज्य के संरक्षण में भागवत और महाभारत का भी अनुवाद किया गया। महाराष्ट्र के सन्त नामदेव ने मराठी में रचना की। सिक्खों के ग्रन्थसाहब में, उनके कुछ स्तुति गीत आज भी संरक्षित हैं। दक्षिण में, तामिल और कनाड़ी में पहले ग्रन्थ जैनियों ने लिखे, किन्तु १३वीं और चौदहवीं शताब्दी में शैव आन्दोलन से साहित्य-प्रगति अधिक द्रुत हुई। इस काल में सायण और माध्व, विद्यारण्य दो भाइयों ने संस्कृत के ग्रन्थ लिखे जो आज भी आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। सायण ने वेद पर अपना भाष्य लिखा। उसके भाई ने उसके आदर्शों का अनुकरण करके कई दार्शनिक लेख लिखे। विजयनगर के राजाओं द्वारा तेलगू साहित्य को बहुत प्रोत्साहन मिला। कृष्णदेव राय की साहित्य में बड़ी रुचि थी। वह स्वयं भी उच्च कोटि का ग्रन्थकार था।

धार्मिक सुधार—भक्ति-मार्ग—भारतवासियों के धार्मिक तथा सामाजिक जीवन पर इस्लाम धर्म का गहरा प्रभाव पड़ा। यद्यपि दीर्घ काल तक हिन्दू

मुसलमान एक दूसरे से पृथक् रहे तथापि कालान्तर म यह आवश्यक हो गया कि उनके पारस्परिक सम्बन्ध निकटतर हो जायँ। दोनों ने एक दूसरे के बिना अपने को अपूर्ण पाया। धीरे-धीरे हिन्दुओं ने राज्य के प्रति सहिष्णुता प्रकट की। युद्ध की निस्सारता स्पष्ट प्रकट होने लगी। दोनों सम्प्रदायों के विचारवान् पुरुषों ने यह चेष्टा की कि जहाँ कहीं भी आपसी मतभेद हो वह मिट जाय। पाकपटन के फरीदुद्दीन शकरगंज, दल्ली के शख निजामुद्दीन औलिया और दक्षिण के गेसूदराज प्रभृति मुसलमान फकीरों ने धार्मिक पक्षपात तथा कट्टरता को कम करने का प्रयत्न किया। सभी वर्ग के मनुष्य उनके उपदेश सुनते और उनकी उपस्थिति में धार्मिक भेदभावों को भूल जाते थे। पवित्र पुरुष में श्रद्धा रखने से प्रेम का स्रोत प्रवाहित हुआ। इसने उन सब लोगों को जिन्होंने उनके प्रति भक्ति दिखलाई, एक सूत्र में बाँध दिया। संतों में श्रद्धा रखनेवाले जाति-पाँत के भेद को भूल गये।

ईश्वर की एकता का मुस्लिम सिद्धान्त, हिन्दुओं के लिए कोई नवीन वस्तु न थी; किन्तु इस्लाम के दृढ़ सिद्धान्त ने, नामदेव, रामानन्द, कबीर, चैतन्य और नानक आदि गुरुओं पर, जिनमें हिन्दू तथा मुस्लिम प्रभाव का मिश्रण था, विशेष प्रभाव डाला। उन्होंने अनेक ईश्वरवादिता, मूर्तिपूजा तथा जाति-विभेद की भर्त्सना की। उनका कथन था कि सत्यधर्म निरर्थक बाह्याडम्बरों में निहित नहीं है, वरन् भक्ति अथवा ईश्वर के पवित्र प्रेम में है। भक्ति-मार्ग ने, १३वीं, १४वीं और १५वीं शताब्दी में भारत की धार्मिक भावनाओं का दमन करनेवाले शासकों के होते हुए भी बड़ी प्रगतिशील उन्नति की।

भक्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करनेवालों में श्री रामानुज स्वामी का नाम अग्रगण्य है। उनका जन्म दक्षिण में १२वीं शताब्दी में हुआ। उन्होंने विष्णु की भक्ति का उपदेश दिया और शंकराचार्य के अद्वैत मत का विरोध किया। उनका कहना था कि आत्मा तथा परमात्मा भिन्न हैं, यद्यपि आत्माओं का उसी से उदय होता है जैसे आग से चिनगारी। वह पूर्ण निराकार वस्तु नहीं है किन्तु उसमें सौन्दर्य तथा शोभा इत्यादि विशिष्ट गुण असीम मात्रा में पाये जाते हैं। इस प्रकार उन्होंने सगुण ईश्वर की शिक्षा दी और दक्षिण

भारत में बहुत से लोग उनके अनुयायी हो गये। उनका सिद्धान्त विशिष्ट अद्वैत के नाम से प्रसिद्ध है।

रामानन्द १४वीं शताब्दी में उत्तरी भारत में हुए। उन्होंने भी भक्ति का उपदेश दिया। उनका सिद्धान्त रामानुज से भिन्न था। उन्होंने राम और सीता की उपासना का उपदेश किया और सब जाति के मनुष्यों को अपना शिष्य बनाया। उन्होंने अपने उपदेश की भाषा हिन्दी रक्खी, और इस प्रकार सर्वसाधारण में, विशेषकर निम्न श्रेणी के लोगों में, उन्होंने बड़ी ख्याति प्राप्त कर ली। रामानन्द के शिष्यों में कबीर बहुत प्रसिद्ध हैं।

जिस प्रकार रामानन्द रामभक्ति का उपदेश देते थे, उसी तरह श्री वल्लभाचार्य ने कृष्ण-भक्ति का उपदेश दिया। वे दक्षिण के तैलंग ब्राह्मण थे। उनका जन्म १४७९ ई० में हुआ था। असाधारण प्रतिभा के मनुष्य होने के कारण वह अल्प काल में ही विद्यासम्पन्न हो गये। उन्होंने अपने अनुयायियों को प्रत्येक वस्तु कृष्ण की सेवा में समर्पित कर देने का आदेश दिया। समर्पण सिद्धान्त का अर्थ यह था कि प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रत्येक वस्तु कृष्ण को अर्पित कर दे। किन्तु वल्लभाचार्य के उपरात उनके अनुयायियों ने इस सिद्धान्त का मौलिक अर्थ लगाया। इस कारण उसकी मौलिक पवित्रता एवं सरलता नष्ट हो गई।

नदिया के महान् वैष्णव धर्म के आचार्य श्री चैतन्य महाप्रभु थे। वे सन् १४८५ ई० में ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे। २५ वर्ष की अवस्था में उन्होंने संन्यास ले लिया। उन्होंने प्रेम, दया, भ्रातृभाव का उपदेश किया और जाति को व्यर्थ बताया। दीनों तथा असहायों के लिए उनका हृदय दया से उमड़ पड़ता था। उन्होंने चाण्डालों तक को श्रद्धा और प्रेम की शिक्षा दी। धार्मिक गुरुओं को उनकी सम्मति इस प्रकार थी :—

"बहुत-से शिष्य न बनाओ, दूसरों के उपास्य देवों की तथा उनके धर्म-ग्रन्थों की निन्दा न करो, बहुत-सी पुस्तकों का अध्ययन न करो तथा अनवरत छिद्रान्वेषण करते और प्रकाश डालते हुए, उपदेशक बनने का आडम्बर न करो। जहाँ वैष्णव की निन्दा होती हो, वहाँ न ठहरो। ग्रामीण कथाएँ न सुनो। अपनी वाणी तथा विचार से जीवधारियों को कष्ट न दो। ईश्वर

का नामोच्चारण तथा श्रवण करो। उसकी दया का स्मरण करो, उसके सम्मुख मस्तक नवाओ और उसकी पूजा करो। जो कुछ वह चाहता है, सेवक की भाँति करो। उस पर विश्वास रक्खो कि वह तुम्हारा मित्र है और सब उसको आत्म-समर्पण कर दो।"

चैतन्य की कीर्ति चारों ओर व्याप्त हो गई। बंगाल के सभी भागों से मनुष्य आते, उनके पैरों पड़ते तथा उनके तेजोमय मुख से प्रेम और भक्ति का उपदेश सुनते थे। लाखों मनुष्य आज तक श्रद्धा, भक्ति तथा प्रेम से महाप्रभु का नाम स्मरण करते हैं।

नामदेव और कबीर के उपदेश में इस्लाम का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। दोनों ने ईश्वर की एकता पर जोर दिया और जाति-भेद और मूर्ति-पूजा की निन्दा की। कबीर हिन्दू और तुर्क में कोई भेद नहीं करते थे। वह कहते थे, दोनों एक ही मिट्टी के पुतले हैं, और विभिन्न मार्गों से एक ही लक्ष्य पर पहुँचने का उद्योग कर रहे हैं।

यदि हृदय पवित्र नहीं है, तो पत्थर की पूजा तथा गंगा में स्नान किस काम का है? कपटी तथा अपवित्र हृदय से यदि यात्री काबा की ओर प्रस्थान करता है तो वह मक्का की यात्रा निष्फल है। मनुष्य की रक्षा पवित्र विश्वास से होती है न कि पाखंड से। ईश्वरेच्छा कोई नहीं समझ सकता; उसमें विश्वास रक्खो। जो वह चाहता है उसे करने दो। कबीर ने ब्राह्मणों तथा मुसलमानों को विवाद की निरर्थकता बतलाई और अहंकार पर परित्याग करने की शिक्षा दी।

इस काल के दूसरे महान् सन्त सिक्ख-धर्म के मूलप्रवर्तक गुरु नानक थे। वे १४६९ ई० में लाहौर जिले में रावी तट पर तालबन्दी नामक गाँव में पैदा हुए थे। उनके माता-पिता दीन थे। उनके पिता कालू अपने गाँव में बनिया तथा पटवारी का काम करते थे। बचपन से ही नानक, एकान्तप्रिय, उदासीन तथा विचारशील स्वभाव के थे। पाठशाला में वे अपने सहपाठियों से बात-चीत नहीं करते थे। जिस समय पाठशाला के अन्य विद्यार्थी अध्ययन में लीन होते, वह एकान्त और मनन में समय व्यतीत करते। जब वे बड़े हुए तो उनके पिता ने उन्हें संन्यास-वृत्ति से विमुख करने के लिए व्यापार

के लिए कुछ रुपया दिया जिसे उन्होंने भूखे फकीरों में बाँट दिया। १६ वर्ष की अवस्था में उनके पिता ने उनका यह सोचकर विवाह कर दिया कि बहुत सम्भव है, वैवाहिक सुख की ओर झुककर वह सांसारिक कार्यों की ओर प्रवृत्त हो जायँ; किन्तु उन्हें मार्ग से विचलित करने का कोई प्रयत्न सफल न हुआ। उन्होंने देश-विदेश का भ्रमण किया तथा विभिन्न मतानुयायियों से विचार-विनिमय करके अपनी बुद्धि और अनुभव को विकसित किया। अन्त में संसार का परित्याग करके रावी तट पर कुटी बनाकर रहने लगे। यहाँ ७० वर्ष की अवस्था में उनका देहान्त हो गया।

गुरु नानक का ईश्वर की एकता में विश्वास था। उन्होंने भी परमात्मा की भक्ति का उपदेश किया। उन्होंने मूर्ति-पूजा की निन्दा की, बहु-देव-पूजा का विरोध किया और इस बात का समर्थन किया कि सत्य धर्म एक है। उन्होंने मुल्लाओं, पंडितों, दरवेशों और संन्यासियों से प्रभुओं के प्रभु को स्मरण करने को कहा जिसने कि अगणित मुहम्मद, विष्णु तथा शिव को आते-जाते देखा है। वे अत्यन्त नम्र एवं सहनशील थे। वे नबी और अवतारों का समान आदर करते थे। वे अपने को ईश्वर का दास कहते और अन्य अलौकिक शक्ति में उनका विश्वास नहीं था। उनके लिए ईश्वर का नाम तथा उसके सिद्धान्त की शुद्धता और सरलता ही आडम्बरों से लड़ने को एकमात्र शस्त्रास्त्र थे। उन्होंने सच्चरित्रता पर जोर दिया और मनुष्यों को सत्यवादी, ईमानदार होने और ईश्वर से डरने का उपदेश दिया। संसार का परित्याग करना ईश्वर की दृष्टि में आवश्यक नहीं है, उसकी दृष्टि में धार्मिक संन्यासी तथा भक्त गृहस्थ सभी समान हैं। वे जब तक जीवित रहे उन्होंने हिन्दू-मुसलमानों के विभेदों को दूर करने की चेष्टा की और अपने अनुयायियों पर कोई कड़े प्रतिबन्ध न लगाये। उनकी मृत्यु के उपरान्त राजनीतिक स्थितियों के कारण सिक्खों को एक दृढ़ संगठन कर सैनिक जाति बन जाना पड़ा।

गुरु नानक के सिद्धान्त, सिक्खों की बाइबिल 'ग्रन्थ-साहब' में भरे पड़े हैं। इस ग्रंथ के द्वितीय भाग की रचना गुरु गोविन्दसिंह ने की तथा अपने पूर्वाधिकारी के सिद्धान्तों में सुधार किया। नानक का ईश्वर के साथ अटूट प्रेम था। उसके सद्गुणों में उन्हें पूरा विश्वास था।

नानक के साथ भक्ति का अंत नहीं हो गया। १६वीं शताब्दी में इस सम्प्रदाय में, तुलसीदास और सूरदास जैसे महान् पुरुष उत्पन्न हुए जिन्होंने भक्ति का प्रचार किया। उनके लेख हमारे साहित्य के अमूल्य रत्न हैं। इन धर्मात्मा महापुरुषों का कार्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा। उन्होंने दोनों जातियों में एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। हिन्दू मुसलमान संतों का सम्मान करने लगे तथा मुसलमान भी हिन्दू देवताओं के प्रति श्रद्धा प्रकट करने लगे। यह पारस्परिक शुभ कामना, हुसेनशाह शर्की द्वारा प्रचलित 'सत्यपीर' सम्प्रदाय में पाई जाती है, जिसकी स्थापना हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए की गई थी। यह सच है कि प्रयत्न असफल रहा किन्तु उसकी कामना में जो उत्साह छिपा था, वह अमिट था। उसका प्रभाव बादशाह अकबर पर पड़ा। उसने मतों, सम्प्रदायों के झगड़ों को बंद करने का प्रयत्न किया और 'सुलहकुल' (सर्वशान्ति) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।
